



संघ लोक सेवा आयोग (UPSC)

दर्शनशास्त्र (वैकल्पिक विषय)

सामाजिक-राजनीतिक दर्शन



641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009

दूरभाष : 011-47532596, 8750187501

टोल फ्री : 1800-121-6260

Web : www.drishtiias.com

E-mail : online@groupdrishti.com

पाठ्यक्रम, नोट्स तथा बैच संबंधी updates निरंतर पाने के लिए निम्नलिखित पेज को "like" करें

 www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

 www.twitter.com/drishtiias



641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9
दूरभाष : 011-47532596, 8750187501
ई-मेल: helpline@groupdrishti.com, वेबसाइट: www.drishtiIAS.com
फेसबुक: [facebook.com/drishtithevisionfoundation](https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation) ट्विटर: [twitter.com/drishtiias](https://www.twitter.com/drishtiias)

1

Copyright– Drishti The Vision Foundation



प्रिय अभ्यर्थियो,

सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी के इच्छुक अभ्यर्थियों द्वारा परीक्षोपयोगी अध्ययन-सामग्री की भारी मांग को देखते हुए हमने एक दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम (Distance Learning Programme) तैयार किया है। हमारे इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ऐसे अभ्यर्थियों को घर बैठे उनकी आवश्यकता की संपूर्ण अध्ययन-सामग्री उपलब्ध कराना है, जो व्यक्तिगत, आर्थिक या किन्हीं अन्य कारणों से दिल्ली आकर कोचिंग नहीं ले सकते।

सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी करने वाले अभ्यर्थियों के बीच संस्थान के तौर पर 'दृष्टि' सर्वाधिक लोकप्रिय संस्थान है और इसका कारण 'दृष्टि' का परीक्षोन्मुखी एवं परिणाम-केंद्रित दृष्टिकोण व सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी के क्षेत्र में कार्यरत देश के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों एवं विषय-वस्तु लेखकों की टीम और सक्षम प्रबंधन व्यवस्था है।

लेकिन ऐसे अभ्यर्थी जो दिल्ली आकर 'दृष्टि' के नियमित कक्षा कार्यक्रम का हिस्सा नहीं बन सकते, वे हमारे शिक्षण एवं हमारी अध्ययन-सामग्री से वंचित रह जाते हैं। इसलिये ऐसे अभ्यर्थियों की भारी मांग एवं सुझावों के बाद 'दृष्टि' प्रबंधन ने इन अभ्यर्थियों की सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी में मदद करने के लिये परीक्षोन्मुखी कार्यक्रम तैयार किया है।

यूपीएससी दर्शनशास्त्र (वैकल्पिक विषय) की बुकलेट "सामाजिक-राजनीतिक दर्शन" की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

- यह बुकलेट नवीनतम पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुये तैयार की गई है।
- यह बुकलेट मुख्य परीक्षा के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है।
- इस बुकलेट में कुल 19 अध्याय हैं।
- इस बुकलेट में पाठ्यक्रम में प्रयुक्त शब्दावलियों के साथ ही उनकी प्रचलित शब्दावलियों को भी शामिल किया गया है।

विधिक घोषणाएँ

- इस पुस्तक में प्रकाशित सूचनाएँ, समाचार, ज्ञान एवं तथ्य पूरी तरह से सत्यापित किये गए हैं। फिर भी, यदि कोई जानकारी या तथ्य गलत प्रकाशित हो गया हो तो प्रकाशक, संपादक या मुद्रक उससे किसी व्यक्ति-विशेष या संस्था को पहुँची क्षति के लिये जिम्मेदार नहीं है।
- हम विश्वास करते हैं कि इस पुस्तक में छपी सामग्री लेखकों द्वारा मौलिक रूप से लिखी गई है। अगर कॉपीराइट उल्लंघन का कोई मामला सामने आता है तो प्रकाशक को जिम्मेदार नहीं ठहराया जाएगा।
- सभी विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायिक क्षेत्र में होगा।
- © **कॉपीराइट:** दृष्टि पब्लिकेशन्स (A Unit of VDK Publications Pvt. Ltd.), सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का प्रकाशन अथवा उपयोग, प्रतिलिपीकरण, ऐसे यंत्र में भंडारण जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो या स्थानांतरण, किसी भी रूप में या किसी भी विधि से (इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपी, रिकॉर्डिंग या किसी अन्य प्रकार से) प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना नहीं किया जा सकता।

विषय सूची (Contents)

1. समानता की अवधारणा	5-10
2. स्वतंत्रता की अवधारणा	11-18
3. न्याय की अवधारणा	19-33
4. संप्रभुता की संकल्पना	34-46
5. शासन के प्रकार	47-52
6. लोकतंत्र	53-64
7. व्यक्ति एवं राज्य संबंध	65-70
8. सामाजिक प्रगति एवं विकास	71-76
9. लिंग भेद	77-92
10. उदारवाद	93-97
11. अराजकतावाद	98-104
12. समाजवाद	105-112
13. मार्क्सवाद	113-131
14. मानववाद	132-150
15. धर्मनिरपेक्षतावाद	151-164
16. बहुसंस्कृतिवाद	165-172
17. अपराध	173-181
18. दंड के सिद्धांत	182-194
19. जाति भेद	195-200

समानता की अवधारणा (Concept of Equality)

समानता का सही अर्थ समाज के सभी व्यक्तियों को समान अधिकारों की प्राप्ति और विशेषाधिकारों का उन्मूलन है। मानव और मानव में कोई विभेद नहीं होना चाहिये।

समानता का विचार राजनीतिक दर्शन का एक अत्यंत जटिल संप्रत्यय है जिसकी वस्तुनिष्ठ व्याख्या करना प्रायः असंभव है। बार्कर का मत है कि अत्यंत गत्यात्मक होने के कारण समानता के संप्रत्यय की परिभाषा नहीं दी जा सकती है। लास्की ने भी माना है कि संपूर्ण राजनीतिक दर्शन में इससे अधिक पेचीदा कोई संकल्पना नहीं है।

समानता की धारणा के संबंध में विशेष समस्या यह है कि भिन्न-भिन्न विचारधाराओं ने इसकी व्याख्या भिन्न दृष्टिकोणों से की है। इस संदर्भ में मूलतः दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं जिन्हें 'नकारात्मक समानता' और 'सकारात्मक समानता' कहते हैं। नकारात्मक समानता के समर्थक लॉक, स्पेंसर और एडम स्मिथ जैसे नकारात्मक उदारवादी और मिल्टन फ्रीडमैन, हेयक तथा नोजिक जैसे स्वच्छातंत्रवादी विचारक हैं जबकि सकारात्मक समानता के समर्थकों में सकारात्मक उदारवादी चिंतक जैसे लास्की और बार्कर तथा समतावादी दार्शनिक जैसे रॉल्स और मैक्फर्सन आदि शामिल हैं।

नकारात्मक समानता (Negative Equality)

नकारात्मक समानता (Negative Equality) की धारणा मूलतः यह है कि समानता का अर्थ 'विषमताओं की अनुपस्थिति' है। दूसरे शब्दों में, सभी व्यक्तियों को औपचारिक रूप से समान अवसर दिया जाना ही नकारात्मक समानता है। यहाँ औपचारिक का अर्थ यह है कि नियमों के स्तर पर सभी को समानता दी जाती है किंतु अवसरों की उपलब्धि के लिये सभी के पास पर्याप्त स्थितियाँ हैं या नहीं, इस पर विचार नहीं किया जाता।

नकारात्मक समानता जिस अवधारणा पर टिकी है वह है 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism)। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं का स्वामी स्वयं है और इसके लिये वह किसी भी अर्थ में समाज की ऋणी नहीं है। समानता का अर्थ मात्र इतना है कि सभी व्यक्तियों को अपनी-अपनी क्षमताओं के साथ जीवन जीने की समानता उपलब्ध करायी जाए। स्वाभाविक है कि विभिन्न क्षमताओं से युक्त व्यक्ति यदि समान दौड़ में शामिल होंगे तो परिणामतः विषमता उत्पन्न होगी। यह विषमता नकारात्मक समानता के विचार से सुसंगत व न्यायोचित है।

नकारात्मक समानता पूर्ण समानता का उद्देश्य नहीं रखती बल्कि उसका विचार 'आनुपातिक समानता' (Proportional Equality) का है। इसका अर्थ है कि समाज के सभी व्यक्ति समान नहीं हो सकते क्योंकि उनकी कुल क्षमताएँ भी असमान हैं। जिन व्यक्तियों में समान गुण अथवा समान क्षमताएँ हैं, उनमें ही समानता विद्यमान होती है। आनुपातिक समानता का यह विचार अरस्तू से प्रेरित है जिसे नकारात्मक उदारवादियों ने स्वीकारा है।

नकारात्मक समानता का दृष्टिकोण विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग तरीकों से व्यक्त होता है। कानूनी समानता का अर्थ इसके लिये मात्र इतना है कि सभी के लिये कानून और न्याय देने वाली संस्थाएँ समान हों। आर्थिक समानता का अर्थ है कि सभी व्यक्तियों को अर्थव्यवस्था में अपना व्यवसाय चुनने की तथा किसी भी अनुबंध को मानने या न मानने की समान शक्ति उपलब्ध हो। राजनीतिक समानता मूलतः समान मताधिकार में व्यक्त होती है। इसके अतिरिक्त किसी भी पद के लिये समान रूप से दावेदारी प्रस्तुत कर सकना भी इसमें शामिल है। सामाजिक समानता इस दृष्टिकोण से यह है कि कोई भी नियम या कानून किसी भी सामाजिक वर्ग से विभेद न करता हो।

सकारात्मक समानता (Positive Equality)

नकारात्मक समानता की संकल्पना में निहित विसंगतियों के कारण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक नयी संकल्पना विकसित हुई जिसे 'सकारात्मक समानता' (Positive Equality) कहा गया है। इसका आरंभिक परिचय जे०एस० मिल ने 1866 ई. में अपनी पुस्तक 'Principles of Political Economy' के द्वितीय संस्करण में दिया। इस समय तक यह देखा जा चुका था कि नकारात्मक या औपचारिक समानता वस्तुतः व्यावहारिक विषमताओं और शोषण की ही व्यवस्था पैदा करती है। काल्पनिक समाजवादी और मार्क्सवादी चिंतक इस संदर्भ में नकारात्मक समानता की आलोचना कर चुके थे।

सकारात्मक समानता के अनुसार समानता का अर्थ मात्र इतना नहीं है कि औपचारिक रूप से सभी को समान अवसर मिले बल्कि यह भी है कि उन अवसरों को उपलब्ध करने की क्षमता भी सभी के पास समान हो। यदि कुछ व्यक्तियों की क्षमता इतनी नहीं है कि वे समान अवसरों का लाभ उठा सकें तो यह समानता की नहीं, विषमता की व्यवस्था है। तात्पर्य यह कि अवसर समान ही नहीं, पर्याप्त भी होने चाहियें; समानता औपचारिक ही नहीं, तात्त्विक भी होनी चाहिये।

सकारात्मक समानता के समर्थक 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' की धारणा का खंडन करते हैं। उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति को समाज से अलग करके नहीं देखा जा सकता और किसी भी व्यक्ति को इतने अधिकार नहीं दिये जा सकते कि कोई अन्य व्यक्ति शोषण का शिकार होने लगे। लास्की और मैक्फर्सन दोनों ने इस बात का जिक्र किया है कि बाजार अर्थव्यवस्था अवसरों की समानता का दावा चाहे करे, वस्तुतः समानता उपलब्ध नहीं कराती है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी समान नियम बनाये जाने के बावजूद विषमताएँ प्रायः बनी ही हुई हैं।

प्रश्न है कि अवसरों की समान उपलब्धि कैसे सुनिश्चित की जाए? इसके उत्तर में सकारात्मक समानता की संकल्पना सकारात्मक कार्यवाही (Affirmative Action) या संरक्षणात्मक भेदभाव (Protective Discrimination) का विचार प्रस्तुत करती है। इसका अर्थ है कि यदि समान परिणामों के लिये असमान नियम बनाया जाना आवश्यक हो तो वे बनाये जाने चाहियें। वरीयता और आरक्षण जैसे नियम सकारात्मक समानता के ही रूप हैं जिनके माध्यम से वंचित वर्गों को सुविधासम्पन्न वर्गों के समान लाया जा सकता है।

सकारात्मक समानता का विचार विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग तरीके से व्यक्त होता है। कानूनी क्षेत्र में समान कानून और समान संस्थाएँ ही पर्याप्त नहीं हैं, कानूनों का समान संरक्षण या कानूनों तक समान पहुँच भी जरूरी है। इसके लिये सरकारी वकील, त्वरित न्याय प्रक्रिया, आसान विधि इत्यादि महत्वपूर्ण अपेक्षाएँ हैं। आर्थिक क्षेत्र में समानता का अर्थ बाजार में समान रूप से उपस्थित होना मात्र नहीं है बल्कि बाजार की विसंगतियों पर राज्य का इतना नियंत्रण भी है कि मांग और पूर्ति का जड़ नियम मानवीय गरिमा के विरुद्ध न जा सके। सामाजिक क्षेत्र में सभी वर्गों की समान भागीदारी सुनिश्चित करने के लिये सकारात्मक कार्यवाही अपेक्षित है तो राजनीतिक क्षेत्र में भी यह अपेक्षित है कि सभी व्यक्ति राज्य में सचमुच वह प्रतिभागिता कर सकें जो उनकी आर्थिक स्थिति और हैसियत से बाधित नहीं होती हो।

स्पष्ट है कि नकारात्मक और सकारात्मक समानता की संकल्पनाएँ समानता को देखने के दो भिन्न नजरिये हैं। इन्हीं के कारण इनकी राज्य संबंधी धारणाएँ भी पृथक-पृथक हैं। नकारात्मक स्वतंत्रता राज्य की न्यूनतम भूमिका की समर्थक है क्योंकि उसके अनुसार व्यक्तियों के आपसी संबंध व्यक्तियों की क्षमताओं से ही तय होने चाहियें। इसके विपरीत सकारात्मक समानता शक्तिसम्पन्न तथा कल्याणकारी राज्य की समर्थक है क्योंकि सभी को समानता उपलब्ध कराने के लिये विशिष्ट वर्गों की शक्तियों पर राज्य का नियंत्रण होना जरूरी है।

ध्यातव्य है कि नकारात्मक और सकारात्मक समानता की धारणाएँ परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। दरअसल नकारात्मक समानता पहली सीढ़ी है और सकारात्मक समानता दूसरी सीढ़ी है। विषमताओं को औपचारिक रूप से समाप्त करना वह शर्त है जिसके बाद ही विषमताओं की पूर्ण समाप्ति या अवसरों की तात्त्विक समानता उपलब्ध होती है। यही कारण है कि सकारात्मक समानता के समर्थक नकारात्मक समानता को खारिज नहीं करते, बल्कि उसे पूरा करने का प्रयास करते हैं।

समानता के विविध पक्ष (Different Aspects of Equality)

कानूनी समानता (Legal Equality)

आधुनिक युग में सबसे पहले 18वीं सदी में कानूनी समानता की मांग उठाई गई। पूंजीपति वर्ग ने सामंतों के विशेषाधिकारों के खिलाफ यह आवाज़ उठाई। इसका अर्थ यह था कि सभी मानवों को समान कानूनी स्थिति प्रदान की जानी चाहिये। रूसो ने "Social Contract" में लिखा कि "सभी नागरिकों को समान कानूनी स्थिति प्रदान करना नागरिक समाज (Civil Society) की पहली पहचान है।"

कानूनी समानता का विचार आज चाहे स्वाभाविक प्रतीत होता हो, वस्तुतः इसे विकसित होने में कई शताब्दियाँ लगी हैं। प्राचीन समाजों में कानूनी समानता का विचार अज्ञात था। मनुस्मृति में विभिन्न वर्णों के लिये अलग-अलग दंड की व्यवस्था थी। अरस्तू ने भी कुलीनों की तुलना में दासों को अधिक दंड देने की वकालत की है। फ्राँसीसी क्रांति से पहले जनसाधारण और कुलीन वर्ग की कानूनी हैसियत अलग थी, इंग्लैंड में कानूनी दृष्टि से दासों की कोई हैसियत ही नहीं थी, और 20वीं सदी के आरंभ तक महिलाओं को संपूर्ण यूरोप में समान कानूनी हैसियत नहीं मिल सकी थी।

कानूनी समानता के दो पक्ष हैं- कानून के समक्ष समानता (Equality before Law) तथा कानूनों का समान संरक्षण (Equal Protection of Laws)। इनमें से पहला पक्ष प्रायः औपचारिक है, जबकि दूसरा तात्त्विक या वास्तविक।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कानूनी समानता का अर्थ पूर्ण कानूनी समानता नहीं है। इसका अर्थ है- 'समान लोगों के लिये समान कानून' तथा 'तर्कसंगत आधार पर भेदभाव' एवं 'असमान लोगों के लिये असमान कानून'। उदाहरण के लिये, यह मानती है कि एक ही अपराध के लिये बच्चों और बड़ों को; पहली बार अपराध करने वालों को तथा अभ्यस्त अपराधियों को समान दंड नहीं दिया जाना चाहिये।

भारतीय संविधान में कानूनी समानता के सिद्धांत के कुछ वैध अपवाद भी हैं, जैसे राष्ट्रपति, राज्यपाल, प्रशासनिक अधिकारियों आदि को कुछ खास अधिकारों के प्रयोग की छूट दी गई है। वस्तुतः ऐसा उनके शासकीय कार्यों एवं अपने दायित्वों को पूरा करने के लिये अपरिहार्य होता है।

कानूनी समानता न्याय की आधारशिला है, पर तात्त्विक रूप से इसकी उपलब्धि होने के लिये कई स्थितियों की पूर्व उपस्थिति अनिवार्य है। न्याय तेजी से मिले, सस्ता हो तथा न्यायाधीशों के विचार निष्पक्ष एवं तटस्थ हों- ये सभी ऐसी अर्हताएँ हैं जिनकी पूर्व-उपस्थिति ही कानूनी समानताओं को तात्त्विक स्तर पर उपलब्ध करा सकती है।

राजनीतिक समानता (Political Equality)

राजनीतिक समानता का अर्थ है- सभी के राजनीतिक अधिकारों की समानता। आधुनिक काल में लोकतंत्र के विकास से पूर्व प्रायः सभी समाजों में राजनीतिक अधिकारों का वितरण विषमतापूर्ण पद्धति से होता रहा है। प्लेटो ने विद्वता के आधार पर; हिटलर ने जाति/प्रजाति के आधार पर तो विशिष्टवर्गीय दार्शनिकों-मिशेल्स, मोस्का और पैरेटो ने योग्यताओं के आधार पर राजनीतिक विषमता को सहज स्थिति के रूप में स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, कुलीनतंत्र जन्म के आधार पर, उदार लोकतंत्र आर्थिक विषमताओं के आधार पर और उपनिवेशवादी शासन रंगभेद के आधार पर असमानता को प्रायः स्वीकार करता रहा है।

आधुनिक काल में पूंजीवाद के विकास के साथ ही राजनीतिक समानता का विचार पैदा हुआ तथा बुर्जुआ वर्ग ने सामंत वर्ग के विशेषाधिकारों को समाप्त करने की मांग की। इस प्रक्रिया में उदार लोकतंत्र की स्थापना हुई और धीरे-धीरे राजनीतिक समानता का अर्थ हो गया- 'वयस्क मताधिकार' या 'एक व्यक्ति, एक मत'। आरंभ में मत का अधिकार केवल संपत्तिशाली वर्ग को मिल पाया और लैंगिक आधार पर पुरुषों के हाथ में ही नियंत्रित रहा। 19वीं सदी में मजदूरों के वर्ग के रूप में शक्तिशाली होने तथा ट्रेड यूनियन आंदोलन के विकास के कारण उन्हें समानता देनी आवश्यक हो गई। महिलाओं को तो 20वीं सदी के आरंभ में ही राजनीतिक समानता की स्थिति प्रदान की गई। 1918 ई. तक इंग्लैंड में महिलाओं को मत देने का अधिकार नहीं था।

राजनीतिक समानता का विचार मूलतः इस विश्वास पर टिका है कि मानव एक विवेकशील प्राणी है और वह राजनीतिक दृष्टि से आवश्यक सूझ-बूझ रखता है। चाहे सभी मानवों के बाहु-बल, बुद्धि-बल, शिक्षा या संपदा में कितना भी अंतर हो, यह निश्चित है कि सभी विवेकपूर्णता के ऐसे स्तर पर अवश्य हैं कि अपने राजनीतिक भविष्य के संबंध में निर्णय ले सकें।

‘एक व्यक्ति, एक मत’ का सिद्धांत नकारात्मक रूप से तो राजनीतिक समानता की व्याख्या कर सकता है, पर वस्तुतः कई ऐसी शक्तियाँ हैं जो राजनीतिक समानता को बाधित करती हैं। उदाहरण के लिये उदार लोकतंत्र में चुनाव में धन-शक्ति का प्रभुत्व राजनीतिक समानता को निरर्थक बना देता है। फिर, राजनीतिक पद प्रायः उन्हीं को मिल पाते हैं जो उच्च वर्ग में रहने के कारण बेहतर शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं। सरकार के कार्य बहुत जटिल हो गए हैं तथा अफसरशाही ने वास्तविक रूप से शक्ति हथिया ली है। विशेषज्ञता के कारण आम आदमी राजनीतिक विषमता का शिकार कब, कहाँ हो जाता है, वह यह भी नहीं समझ पाता है। विशिष्ट वर्गीय सिद्धांत यहाँ तक कहता है कि शक्ति एक विशिष्ट वर्ग के पास रहती है और उसी में विचरण करती है-राजनीतिक समानता मात्र एक छलावा है। आर्थिक अंतरों के कारण राजनीतिक समानता सचमुच बाधित होती है।

सामाजिक समानता (Social Equality)

सामाजिक समानता का विचार भी एक आधुनिक विचार है। इसका नकारात्मक दृष्टि से अर्थ है कि किसी भी सामाजिक आधार, जैसे- लिंग, संप्रदाय, धर्म, जाति, आयु व रंग आदि के आधार पर किसी वर्ग या समूह को विशेषाधिकार न दिये जाएँ। सकारात्मक दृष्टि से इसका अर्थ है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपने व्यक्तित्व का विकास करने के समान अवसर मिलें।

प्राचीन और मध्यकाल में सामाजिक विषमताएँ न केवल व्यवहार में विद्यमान रहीं, बल्कि कई मामलों में उन्हें संस्थागत रूप भी दिया गया। मनुस्मृति में मनु ने तथा पश्चिम में अरस्तू के दर्शन ने सामाजिक विषमता को शूद्रों और दासों के खिलाफ प्रस्तावित किया। मध्यकाल में धर्म से जुड़े पदों को शेष समाज से ऊँचा स्थान दिया गया। नारी और काले लोगों के खिलाफ विषमताएँ आज तक किसी न किसी रूप में बनी हुई हैं। वर्तमान समय में, नए धार्मिक उभार के कारण कट्टरपंथी देशों में धार्मिक विषमता की स्थिति भी बनी हुई है।

18वीं सदी में जब सामाजिक समानता का प्रगतिशील विचार सामने आया तो मूल मुद्दा यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक जीवन के लाभ उठाने की सुविधा होनी चाहिये। अतः धीरे-धीरे सामाजिक विषमताएँ संस्थागत स्तर पर समाप्त होने लगीं। महिलाओं को भी वोट का अधिकार मिला, काले लोगों को भी समता का अधिकार मिला; धर्मनिरपेक्ष राज्यों ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा की; भारत जैसे देशों में धर्म, जाति के आधार पर समस्त भेदभावों, अस्पृश्यता आदि का निराकरण किया गया। इसके बावजूद अभी भी विश्व में कई स्थानों पर सामाजिक समानता औपचारिक रूप में स्थापित नहीं हो सकी है, जैसे मध्यपूर्व के देशों में धार्मिक अल्पसंख्यकों और नारियों को समान अधिकार नहीं मिले हैं।

भारतीय संविधान में सामाजिक समानता की प्राप्ति के लिये सकारात्मक विभेद की अनुमति दी गई है। भारतीय संविधान के भाग-3 की धारा 16(4) में यह स्पष्ट कहा गया है कि राज्य सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिये विशेष प्रावधान कर सकता है।

सकारात्मक दृष्टि से देखें तो सामाजिक समानता का अर्थ होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर मिलें। इसमें बहुत अधिक बाधाएँ हैं। आर्थिक अभाव व्यक्ति को बेहतर शिक्षा आदि के अधिकार से वंचित कर देते हैं। फिर, आर्थिक शक्ति हो भी, किंतु समाज का आधुनिकीकरण न हुआ हो तो महिलाओं और अल्पसंख्यकों आदि को गुणात्मक जीवन जीने के अवसर नहीं मिल पाते, जैसे अफगानिस्तान, सऊदी अरब आदि में। इसके अतिरिक्त, समाज में गतिशीलता न होने पर जड़ सामाजिक मान्यताओं के दबाव नए और प्रगतिशील सामाजिक विचारों को पैदा होने से रोक सकते हैं और उन्हें प्रताड़ना या मजाक का विषय बना देते हैं। इस प्रकार, अभी भी सामाजिक समानता प्रायः सकारात्मक रूप में उपलब्ध नहीं हो सकी है। नृजातीयता (Ethnicity) जैसी भावनाएँ भी इसके विकास में लगातार बाधक की भूमिका

निभाती हैं। जब अमेरिका जैसे विकसित देशों में काले लोगों को आज तक सकारात्मक समानता उपलब्ध नहीं हो सकी है तो विकासशील और अविकसित देशों की स्थितियों में तो इसकी संभावना और क्षीण हो जाती है।

सकारात्मक सामाजिक समानता के लिये संरक्षणात्मक विभेद को भी एक प्रविधि के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है।

आर्थिक समानता (Economic Equality)

आर्थिक समानता एक जटिल धारणा है जिसकी व्याख्या विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग प्रकार से की है।

आर्थिक समानता का विचार 18वीं सदी के बाद का है। नकारात्मक उदारवादी दार्शनिकों तथा स्वेच्छातंत्रवादियों ने आर्थिक समानता का अर्थ नकारात्मक रूप में लिया है, अर्थात् 'अवसरों की समानता', 'कोई भी व्यवसाय चुनने की समानता' और 'अनुबंध करने की समानता'। वे कहते हैं कि मुक्त बाजार अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक समृद्धि की संभावनाएँ अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। इनके कारण कोई भी व्यक्ति मुक्त बाजार में शामिल होकर उच्च आर्थिक स्तर तक पहुँच सकता है। अतः यह आर्थिक अवसरों की उपलब्धता की समानता है।

मार्क्सवादी विचारक उदारवादियों की 'अवसरों की समानता' को 'मिथ्या समानता' (False Equality) बताते हैं। वे मानते हैं कि संपत्ति की व्यवस्था के होते हुए आर्थिक अवसरों की समानता पैदा हो ही नहीं सकती। फिर, वे समानता का अर्थ केवल अवसरों की औपचारिक समानता से नहीं लेते; बल्कि 'अवसरों के उपयोग की समानता' से लेते हैं अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति समान रूप से निश्चित होना चाहिये। वे बौद्धिक और शारीरिक श्रम में अंतर स्वीकार नहीं करते और उदारवादियों के 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) का विरोध करते हुए व्यक्तित्व को समाज का परिणाम मानने पर बल देते हैं। मार्क्सवाद मानता है कि वर्ग-विभक्त समाज में समानता आ ही नहीं सकती और समाजवादी क्रांति होने पर ही पूंजीवाद द्वारा पोषित यह असमानता समाप्त हो सकेगी। समाजवाद और साम्यवाद- ये आर्थिक समानता की प्राप्ति की प्रक्रिया के दो चरण होंगे। अंतिम चरण अर्थात् साम्यवाद में प्रत्येक को रुचि व क्षमता के अनुसार काम करना होगा और उसे आवश्यकता के अनुसार उपलब्धि होगी। यही समानता का आदर्श रूप होगा।

लास्की जैसे सकारात्मक उदारवादियों तथा मैक्फर्सन और रॉल्स जैसे समतावादियों ने आर्थिक समानता के लिये एक मध्यम मार्ग को खोजा है जिसे लोकतांत्रिक समाजवादियों ने भी प्रायः स्वीकार किया है और जिसके आधार पर लोक-कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को मूर्त रूप मिला है। इन विचारकों के अनुसार कोई भी असमानता तब तक जायज नहीं मानी जा सकती जब तक समाज के प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम सभ्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध न हो चुके हों। इसके अतिरिक्त मूलभूत उद्योगों तथा सेवाओं पर सामुदायिक स्वामित्व होना चाहिये। इसके बाद, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि धन के वितरण में यथासंभव समानता हो; अर्थात् कोई भी व्यक्ति इतना अधिक शक्तिशाली न बन जाए कि शेष समाज को बड़ी मात्रा में प्रभावित करने लगे।

वस्तुतः औपचारिक समानता और तात्त्विक समानता का विवाद आर्थिक समानता के साथ काफी गहराई के साथ जुड़ा है और आर्थिक समानता की कोई निरापद व्याख्या तब तक नहीं हो सकती जब तक यह विवाद न सुलझ जाए।

सांस्कृतिक समानता

सांस्कृतिक समानता के अंतर्गत सभी संस्कृतियों के संरक्षण, सहअस्तित्व एवं सहउत्थान की गति निहित है। बहुसंस्कृतिवाद के अंतर्गत सभी संस्कृतियों के संरक्षण की अवधारणा विद्यमान है।

सामाजिक न्याय या सकारात्मक भेदभाव या सकारात्मक कार्रवाई

(Social Justice or Protective Discrimination or Affirmative Action)

संरक्षणात्मक भेदभाव का अर्थ है किसी वंचित वर्ग या समूह को बेहतर स्थिति में लाने के लिये कुछ विशेष सुविधाएँ दिया जाना ताकि वह समूह भी प्रगति की प्रक्रिया में शेष समूहों के साथ या निकट आ सके।

प्रायः वर्तमान समय में कल्याणकारी राज्यों में यही व्यवस्था आरक्षण (Reservation) या वरीयता (Preference) के रूप में प्रचलित है। नकारात्मक उदारवादी और स्वेच्छातंत्रवादी संरक्षणात्मक भेदभाव या सामाजिक न्याय का तीव्र खंडन करते हैं जबकि समतावादी तथा लोकतांत्रिक समाजवादी इसका समर्थन करते हैं। मार्क्सवादी इसे उचित किंतु अपर्याप्त मानते हैं। भारत में भी संरक्षणात्मक भेदभाव की नीति कई विवादों में घिरी रही है।

संरक्षणात्मक भेदभाव के पक्ष में कई तर्क दिये जाते हैं-

- (क) एक दृष्टि से इसे 'क्षतिपूरक न्याय' (Compensatory Justice) कहा जा सकता है। अतीत में जिन वर्गों के साथ शोषण हुआ, उसी शोषण के कारण उनकी वर्तमान पीढ़ियाँ पिछड़ेपन की स्थिति में हैं। अतः उनके पिछड़ेपन का कारण उनका व्यक्तित्व न होकर समाज की स्थितियाँ हैं। अतः अब समानता के प्रयास भी समाज की ओर से ही होने चाहियें।
- (ख) कुछ चिंतकों का मानना है कि न्याय एवं समानता जैसे तत्त्व होने ही पर्याप्त नहीं हैं, वे दिखाई भी देने चाहियें। समानता तभी दिखाई देती है जब वंचित वर्गों को भी समाज के उच्च पदों पर आसीन होने का अवसर मिलता है। अतः राज्य को यह प्रक्रिया चलाते रहना चाहिये।
- (ग) एक विचार यह भी है कि उन्नति के अवसर दुर्लभ होने पर उनका आवंटन केवल योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि कहीं-कहीं आवश्यकता के आधार पर भी होना चाहिये। वंचित समूहों की आवश्यकता तुलनात्मक रूप से अधिक प्रबल है, अतः उन्हें अवसर मिलना ही चाहिये।
- (घ) वंचित समूहों का लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विश्वास तभी पैदा हो सकता है जब उन्हें यह लगे कि उनके लिये भी उन्नति के अवसर सचमुच खुले हैं। ऐसी आश्वस्ति नहीं मिलने से विद्रोहात्मक स्थितियाँ बन सकती हैं। अतः शांति और विकास के लिये भी जरूरी है कि समुचित वितरण की यह प्रक्रिया निर्बाध गति से चलती रहे।

दूसरी ओर, कई राजनीति-दार्शनिक संरक्षणात्मक भेदभाव का विरोध भी करते हैं। उनके निम्नलिखित तर्क हैं-

- (क) कुछ विचारकों की राय है कि इससे योग्यता व उत्कृष्टता का हनन होगा जो कि अपने आप में संपूर्ण समाज के लिये घातक होगा।
- (ख) नकारात्मक उदारवादी चिंतकों के अनुसार यह प्रक्रियात्मक न्याय का सरासर उल्लंघन है।
- (ग) यह तात्त्विक न्याय का भी स्पष्ट उल्लंघन है क्योंकि नारियों, अश्वेतों आदि की पुरानी पीढ़ियों के साथ जो अन्याय हुए, उसके लिये पुरुषों और श्वेतों की वर्तमान पीढ़ियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। किसी के अपराध या भूल की सजा किसी और को कैसे दी जा सकती है?
- (घ) सकारात्मक कार्रवाई एक भिन्न स्तर पर शोषण व अन्याय की प्रक्रिया पैदा कर देती है। संरक्षणात्मक भेदभाव की प्रक्रिया में व्यक्ति को नहीं, बल्कि समूह को इकाई माना जाता है। इस कारण वंचित समूह के वे लोग, जो कम से कम वंचित हैं या ठीक स्थिति में हैं, इन अवसरों का संपूर्ण लाभ उठा लेते हैं। इस प्रकार जो लोग सचमुच वंचित हैं, वे अपने ही समूह के बेहतर स्थिति वाले लोगों की तुलना में और अधिक वंचित हो जाते हैं।
- (ङ) संरक्षणात्मक भेदभाव मानवीय गरिमा की दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं है। यदि किसी व्यक्ति को सफलता मिले पर उसे यह भी पता हो कि उसे सफलता व्यक्तिगत क्षमताओं और योग्यताओं के कारण नहीं, बल्कि आरक्षण के कारण मिली है तो उसके मन में गरिमा का भाव पैदा नहीं होगा, बल्कि एक हीन-भावना हमेशा बनी रहेगी।
- (च) भेदभाव का समाधान विपरीत भेदभाव से करना भेदभाव की प्रक्रिया को ही और अधिक गौरवान्वित करने के बराबर है।

स्पष्ट है कि दोनों पक्षों के तर्क पर्याप्त मजबूत हैं। तब भी, वर्तमान समय में लोक-कल्याणकारी राज्य प्रायः किसी न किसी मात्रा में सकारात्मक कार्रवाई के पक्ष में खड़े हैं जो अधिक न्यायसंगत भी है।

स्वतंत्रता की अवधारणा (Concept of Liberty)

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास एवं समाज की प्रगति हेतु स्वतंत्रता का होना आवश्यक है, अतः सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में एक महत्वपूर्ण आदर्श के रूप में स्वतंत्रता को स्थान दिया गया है। समानता जहाँ समाजवादी विचारधारा का केंद्रिय-तत्त्व है, वहीं उदारवादी विचारधारा स्वतंत्रता पर विशेष बल देती है।

स्वतंत्रता (Liberty)

स्वतंत्रता, अंग्रेजी शब्द 'लिबर्टी' का हिन्दी रूपांतर है। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'लिबर्टी' से हुई है। 'लिबर्टी' का अर्थ है मुक्ति अर्थात् बंधनों का अभाव/अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वतंत्रता का अर्थ है- बंधनों का अभाव। इस अर्थ में स्वतंत्रता का आशय मनुष्य की इच्छा और कार्य पर किसी भी प्रकार के बंधनों का न होना माना जाएगा।

नकारात्मक स्वतंत्रता

स्वतंत्रता की संकल्पना राजनीति दर्शन की अत्यंत विवादास्पद संकल्पना है जिसका आरंभिक स्वरूप नकारात्मक स्वतंत्रता के रूप में प्रकट हुआ। नकारात्मक संकल्पना के समर्थक मुख्यतः वे दार्शनिक हैं जो आरंभिक उदारवाद या स्वेच्छातंत्रवाद से संबंधित हैं, जैसे-हरबर्ट स्पेंसर, स्मिथ, मिल, मिल्टन फ्रीडमैन तथा आइज़िया बर्लिन। इनकी संकल्पना को नकारात्मक स्वतंत्रता इसलिये कहा जाता है क्योंकि इन्होंने स्वतंत्रता की व्याख्या 'कुछ स्थितियों के अभाव' के रूप में की है, न कि 'कुछ स्थितियों की उपलब्धता' के अर्थ में।

नकारात्मक संकल्पना के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है- 'बंधनों का अभाव', अर्थात् यदि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों द्वारा विवश नहीं किया गया है तो वह स्वतंत्र है। हेलिविटस का कथन है कि "स्वतंत्र व्यक्ति वही है जो जंजीरों में जकड़ा नहीं है, जो दंड के भय से गुलाम की तरह आतंकित नहीं है।" नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थकों ने यह अवधारणा समझाने के लिये इस कथन का प्रयोग भी किया है।

इस विचारधारा के दार्शनिक 'स्वतंत्रता' और 'स्वतंत्रता के लिये अनुकूल स्थितियों' में विभेद करते हैं। ऐसा हो सकता है कि किसी स्वतंत्रता का उपयोग करने के लिये किसी व्यक्ति के पास पर्याप्त साधन न हों किंतु यह उसकी वैयक्तिक समस्या है, इससे स्वतंत्रता खंडित नहीं होती। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति चल फिर नहीं सकता तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसके पास विचरण की स्वतंत्रता नहीं है। हेलिविटस का ही कथन है कि "यदि कोई व्यक्ति गरुड़ पक्षी की तरह पंख फैलाकर आकाश में नहीं उड़ सकता तो यह उसकी अपनी कमी है। इसे स्वतंत्रता का अभाव नहीं कहा जा सकता।"

नकारात्मक स्वतंत्रता का विचार 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) के सिद्धांत पर टिका है जिसके मूल में माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं का स्वामी है। यह विचार मानता है कि व्यक्ति अपने जीवन के संबंध में श्रेष्ठतम निर्णय स्वयं ले सकता है और अपने संबंध में उसे ही निर्णय लेना चाहिये। मिल ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कार्य स्व-संबंधी (Self-Regarding) होते हैं जिनका प्रभाव सिर्फ उस पर पड़ता है। इन कार्यों के संबंध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिये। प्रश्न है कि इस स्वतंत्रता की सीमा क्या है? ये दार्शनिक मानते हैं कि जो कार्य अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं, उनको पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। राज्य को इन कार्यों के नियमन का अधिकार है किंतु यह वस्तुनिष्ठ

रूप से तय होना चाहिये कि ये कार्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता को सचमुच प्रभावित करते हैं। स्वतंत्रता लोकतंत्र में ही हो, यह भी आवश्यक नहीं है। कभी-कभी लोकतंत्र स्वतंत्रता विरोधी भी हो सकता है और अन्य व्यवस्थाएँ स्वतंत्रता समर्थक।

इस विचार के अनुसार, स्वतंत्रता की उपलब्धि की दृष्टि से बाज़ार का महत्त्व अत्यधिक है। फ्रीडमैन ने सिद्ध किया कि मुक्त बाज़ार सरल विनिमय अर्थव्यवस्था का एक रूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपनी क्षमताओं का विक्रय कर सकता है। किसी भी हस्तक्षेप से मुक्त होने के कारण मुक्त बाज़ार व्यक्ति को उसकी क्षमताओं का एकदम उचित मूल्य प्रदान करता है। जहाँ तक राज्य की भूमिका का प्रश्न है, वह न्यूनतम होनी चाहिये क्योंकि राज्य की शक्तियों का बढ़ना व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी है। राज्य को केवल वही कार्य करना चाहिये जो या तो व्यवस्था के नियमों की रक्षा तक सीमित हो या फिर वे कार्य जिन्हें बाज़ार नहीं कर सकता। इनमें कल्याणकारी कार्य भी शामिल हैं, हालाँकि ये दार्शनिक उन्हें विशेष महत्त्व नहीं देते।

आलोचना

1. मैक्फर्सन ने फ्रीडमैन के इस तर्क की कटु आलोचना की है कि मुक्त बाज़ार सरल विनिमय अर्थव्यवस्था है। उसका दावा है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में श्रम और पूंजी के अलग हो जाने के कारण एक ऐसी श्रमशक्ति विद्यमान है जो पूंजी पर निर्भर हो जाती है।
2. नकारात्मक स्वतंत्रता का विचार वस्तुतः एक छोटे से वर्ग को स्वतंत्र बनाने के लिये शेष समाज को स्थायी रूप से परतंत्र बनाने का विचार है क्योंकि स्वतंत्रता यदि बराबर हो तो भी उसका भोग करने की क्षमताएँ इतनी भिन्न हैं कि अंततः स्वतंत्रता बराबर नहीं रह जाती।
3. यह विचार इस मान्यता पर टिका है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं का स्वामी होता है। इसके विरुद्ध कॉडवेल का तर्क है कि व्यक्ति की क्षमताएँ समाज का उत्पाद होती हैं, न कि स्वयं व्यक्ति का।
4. यह विचार समाज से कटे हुए व्यक्ति की स्वतंत्रता का विचार है। वास्तविक रूप से स्वतंत्रता एक सामाजिक स्थिति है।
5. यह दृष्टिकोण इस बात पर पर्याप्त ध्यान नहीं देता है कि भूमि, पूंजी व राजनीतिक शक्ति के अभाव में व्यक्ति आसानी से स्वतंत्रता का वास्तविक रूप से प्रयोग नहीं कर सकता। वर्तमान समय में राज्यों की कल्याणकारी भूमिका को देखते हुए उनकी भूमिका को पूरे तौर पर सीमित करना तार्किक नहीं होगा।

सकारात्मक स्वतंत्रता

सकारात्मक स्वतंत्रता का विचार 19वीं शताब्दी के आरंभ में विकसित हुआ। इसका मूल कारण यह था कि 17वीं-18वीं शताब्दी में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था जिस नकारात्मक स्वतंत्रता के विचार को लेकर चली थी, उसने बहुसंख्यक मजदूर वर्ग को शोषण और दमन के सिवाय कुछ नहीं दिया। 19वीं शताब्दी के आरंभ में सेंट साइमन और रॉबर्ट ओवन जैसे काल्पनिक समाजवादियों तथा मार्क्स और एंजल्स जैसे क्रांतिकारी समाजवादियों ने वंचित वर्ग के लिये स्वतंत्रता की मांग उठाई। आगे चलकर जे.एस. मिल जैसे उदारवादियों ने स्वतंत्रता की व्याख्या वंचित वर्ग की परिस्थितियों को देखते हुए की। यही व्याख्याएँ स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना का आधार बनीं।

इस धारणा के विकसित होने में स्पिनोज़ा, कांट, रूसो और हीगेल आदि दार्शनिकों का भी योगदान था क्योंकि इन सभी ने स्वतंत्रता की व्याख्या में व्यक्ति की ऐन्द्रिक और तात्कालिक इच्छाओं के स्थान पर तर्कबुद्धि पर टिकी तात्त्विक व सामान्य इच्छाओं को महत्त्व दिया। इन सभी प्रभावों के आधार पर पहले सकारात्मक उदारवादियों ने और आगे चलकर समतावादियों ने इस धारणा का समर्थन किया।

सकारात्मक धारणा के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ 'बंधनों का अभाव' नहीं है बल्कि उन सामाजिक परिस्थितियों की मौजूदगी है जिनमें व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिल सके। लास्की ने स्वतंत्रता की परिभाषा देते हुए कहा कि स्वतंत्रता ऐसे वातावरण को बनाए रखता है जिसमें मनुष्यों को सर्वोत्तम बन सकने का अवसर प्राप्त हो सके। मैक्फर्सन ने सृजनात्मक स्वतंत्रता का विचार दिया जिसके अनुसार मानव तभी तक स्वतंत्र माना जा सकता है, जब तक वह अपनी चेतना और सृजनात्मकता के माध्यम से अपनी क्षमताओं का प्रयोग स्वनिर्धारित उद्देश्यों के लिये कर पाता है। टी.एच. ग्रीन ने भी ऐसा ही विचार प्रस्तुत किया।

सकारात्मक धारणा के अनुसार स्वतंत्रता का मूल संबंध व्यक्ति से नहीं, समाज से है। स्वतंत्रता एक सामाजिक अवस्था है, समाज से कटा हुआ व्यक्ति कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता। चूँकि स्वतंत्रता समाज में सभी को मिलनी चाहिये, इसलिये वह अपनी मूल प्रकृति में ही सीमित होती है, न कि असीम।

इस धारणा के अनुसार, किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता ठीक वही समाप्त हो जाती है, जहाँ से किसी अन्य व्यक्ति की स्वतंत्रता शुरू होती है। यहाँ इस कथन का अर्थ सकारात्मक रूप में है, न कि नकारात्मक रूप में। मैक्फर्सन ने अपने विश्लेषण में बताया है कि समाज में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं- शोषण करने की शक्ति (Coersive Power) तथा विकास करने की शक्ति (Developmental Power)। शोषण करने की शक्ति का तात्पर्य है कि व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का कितना शोषण करने में समर्थ है जबकि विकासात्मक शक्ति का अर्थ है कि वह अपनी क्षमताओं का विकास करने में कहाँ तक समर्थ है। स्वतंत्रता की वास्तविक स्थिति तभी होगी जब विकासात्मक शक्ति सभी के पास हो और शोषण करने की शक्ति किसी के पास न हो। वह पूंजीवाद द्वारा प्रदत्त तथाकथित स्वतंत्रता पर चोट करते हुए कहता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजीपतियों की शोषण शक्ति इतनी मजबूत होती है कि मजदूरों को अपनी विकासात्मक शक्ति उनके हाथों गिरवी रखनी पड़ती है।

सकारात्मक धारणा के अनुसार, राज्य का कार्य सिर्फ कानून व्यवस्था बनाना नहीं बल्कि स्वतंत्रता के अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करना भी है। वह सिर्फ 'पुलिस राज्य' या 'रात्रिरक्षक राज्य' नहीं है बल्कि 'कल्याणकारी राज्य' है। उसे उच्च वर्गों की शक्ति को नियंत्रित करते हुए स्वतंत्रता के अनुकूल परिस्थितियों का न्यायपूर्ण वितरण करना है ताकि वंचित वर्ग के सदस्य भी स्वतंत्रता का लाभ उठा सकें।

मुक्त बाजार व्यवस्था स्वतंत्रता के लिये न अनिवार्य है, न पर्याप्त और न ही वांछनीय। मुक्त बाजार का दावा है कि यह सरल विनिमय अर्थव्यवस्था होने के कारण व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार श्रम करने की तथा श्रम के अनुसार उपलब्धियाँ अर्जित करने की स्वतंत्रता देता है। किंतु, वास्तविकता यह है कि मुक्त बाजार पूंजीविहीन श्रमिकों के लिये शोषण का माध्यम बन जाता है। इसलिये राज्य को बाजार में हस्तक्षेप करना चाहिये ताकि बाजार के नियम मानवीय गरिमा पर हावी न हो जाएँ।

आलोचना

- मार्क्सवादियों ने स्वतंत्रता की रचनात्मक अवधारणा का प्रयोग नकारात्मक स्वतंत्रता की आलोचना तथा स्वतंत्रता की अपनी विशिष्ट धारणा विकास करने के लिये किया।
- अभी यह स्पष्ट नहीं है कि राज्य किस सीमा तक व्यक्ति पर अंकुश लगाए ताकि दूसरों की स्वतंत्रता बाधित न हो।

जॉन स्टुअर्ट मिल की स्वतंत्रता संबंधी विचार (J.S. Mill on Liberty)

जे.एस. मिल 19वीं शताब्दी के इंग्लैंड के विचारक हैं। यह वह समय है जब क्लासिकी उदारवाद का स्थान आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद ले रहा था क्योंकि मध्यवर्ग को तो अधिकार प्राप्त हो गए थे, पर मजदूरों की दशा राज्य की अहस्तक्षेप नीति तथा नकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा के कारण बिगड़ती जा रही थी। ऐसे समय में मिल राजनीति दर्शन में आए। आरंभ में इन पर व्यक्तिवाद (Individualism) व उपयोगितावाद

(Utilitarianism) हावी रहा, पर धीरे-धीरे ये उस बिंदु पर पहुँचे जहाँ व्यक्तिवाद और समाजवाद में तथा उपयोगितावाद और लोक-कल्याण में समन्वय हो गया। इसीलिये मिल की ख्याति नकारात्मक स्वतंत्रता और सकारात्मक स्वतंत्रता के समन्वयकर्ता के रूप में है।

मिल के अनुसार, व्यक्ति के कार्य दो प्रकार के होते हैं- (i) आत्मपरक (Self regarding) तथा (ii) अन्यपरक (Others regarding)। आत्मपरक कार्यों का प्रभाव केवल व्यक्ति पर पड़ता है जबकि अन्यपरक का समाज पर भी। समाज का व्यक्ति के आत्मपरक कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये, क्योंकि मिल के ही शब्दों में “अपने ऊपर; अपने तन और मन के ऊपर व्यक्ति सर्वेसर्वा है।” तब भी, मिल के अनुसार कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जब व्यक्ति के आत्मपरक कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप करना पड़े, जैसे कोई व्यक्ति पुल पार कर रहा हो, पर नहीं जानता हो कि पुल कमजोर है, तो उसे रोक दिया जाना चाहिये। दूसरी ओर, व्यक्ति के अन्यपरक कार्यों में राज्य नियमन कर सकता है। किंतु, इन कार्यों में भी केवल उन्हीं पर रोक लगाई जानी चाहिये जो दूसरों को हानि पहुँचाते हों और यह बात वस्तुनिष्ठ रूप से प्रमाणित की जा सकती हो।

मिल लोकतंत्र का अंध समर्थक नहीं है। उसके अनुसार, स्वतंत्रता और लोकतंत्र में विरोध का संबंध भी हो सकता है। फ्राँसीसी लेखक ‘अलेक्सी द टाकवीले’ से प्रभावित होकर मिल ने माना कि प्रायः जनसाधारण का विश्वास यथास्थितिवाद में होता है, नवाचार में नहीं। जनसाधारण की शक्ति यदि अत्यधिक बढ़ जाती है तो नए विचार रखने वाले आगे नहीं आ पाते और भीड़तंत्र (Mobocracy) तथा औसततंत्र (Mediocracy) जैसी स्थितियाँ बनने लगती हैं। इन स्थितियों में सामाजिक एकरूपता का खतरा भी उभरने लगता है। अतः मिल ने तर्क दिया कि अल्पमत के विचार को भी अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये-यहाँ तक कि अकेले व्यक्ति के विचार को भी। इसके पीछे दो तर्क हैं। उपयोगितावादी तर्क यह है कि ज्ञान के विकास से समाज का विकास होता है और ज्ञान के विकास के लिये नए-नए विचारों का सामने आना बहुत ज़रूरी है। नैतिकतावादी तर्क के अनुसार आत्म-निर्णय व आत्म-अभिव्यक्ति का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को साध्य होने के नाते मिलना ही चाहिये। मत सच हो या झूठ, उसे व्यक्त होने का अवसर ज़रूर मिलना चाहिये। यदि वह सच होगा तो उसके दमन से समाज लाभ से वंचित हो जाएगा। यदि वह झूठ होगा तो उससे टकराने के बाद सच और निखरकर सामने आएगा। यदि वह आधा सच, आधा झूठ होगा तो भी सत्य संपूर्णता में स्पष्ट हो सकेगा।

मिल की दृष्टि में ‘विविधता का प्रसार’ स्वतंत्रता का अनिवार्य लक्षण है। जो स्थितियाँ विविधता का दमन करके एकरूपता (Homogeneity) या अनुरूपता (conformity) को महत्व देती हैं, उन्हें दूर किया जाना चाहिये। ऐसा पहला खतरा लोकतंत्र से है, इसलिये मिल लोकतंत्र के स्थान पर प्रतिनिधि शासन (Representative Government) का समर्थन करते हैं। उनकी राय में, जब तक संपूर्ण निर्वाचक मंडल सुशिक्षित न हो जाए, तब तक सत्ता सुशिक्षित विशिष्टवर्ग को सौंपी जा सकती है। अनुरूपता या एकरूपता का दूसरा खतरा औद्योगिक सभ्यता से भी है क्योंकि यह धीरे-धीरे उत्पादन से ज्ञान तक की स्थितियों में वैश्विक एकरूपता पैदा कर देती है।

आर्थिक स्वतंत्रता के संबंध में मिल का आरंभिक दृष्टिकोण नकारात्मक उदारवाद से ही प्रेरित है जिसमें अनुबंध की स्वतंत्रता तथा राजकीय अहस्तक्षेप को ही आर्थिक स्वतंत्रता माना जाता था। उनकी पुस्तक "Principles of Political Economy" के प्रथम संस्करण (1848) में यही विचार मिलते हैं। इसमें उन्होंने समाजवाद की आलोचना भी की है। इस पुस्तक के अंतिम संस्करण (1866) तक पहुँचते-पहुँचते मिल के विचार काफी परिवर्तित हुए और उसने उदारवाद तथा समाजवाद के बीच के मार्ग का अनुसरण किया। इस संस्करण में उसने संपत्ति के अधिकार को सीमित करने की वकालत की। विशेषतः उसने भू-संपत्ति के विशेषाधिकार पर चोट की क्योंकि पूंजीपति तो खतरा उठाकर तथा विवेक के प्रयोग से लाभ कमाता है, पर भूमिपति की आय बिना किसी विशेष प्रयत्न के बढ़ती जाती है। उसने लोक-कल्याणकारी राज्य की संकल्पना

का समर्थन करते हुए यह विचार दिया कि राज्य को भूमिपतियों की आय पर भारी कर लगाकर श्रमिकों के कल्याण के लिये प्रयास करना चाहिये। इसका स्पष्ट कारण यह है कि श्रमिकों के श्रम के कारण ही भूमि से आय का उत्पादन होता है। अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, उत्तराधिकार का परिसीमन, भूसंपत्ति का परिसीमन तथा कल्याणकारी श्रम कानून आदि पक्षों पर भी मिल ने बल दिया है।

मिल ने लैंगिक स्वतंत्रता पर भी बल दिया। अपनी पुस्तक "Subjection of Women" में मिल ने नारियों की पराधीनता के समर्थन में दिखने वाले तथाकथित तर्कों का जोरदार खंडन किया और उनके मताधिकार, शिक्षाधिकार और व्यवसाय-चयन के अधिकार का समर्थन किया।

आलोचना

1. पहली समस्या है कि आत्मपरक कार्यों व अन्यपरक कार्यों में कोई स्पष्ट अंतर करना संभव नहीं है। एक ही कार्य अलग-अलग स्थितियों में दोनों कोटियों में आ सकता है। इस आधार पर अर्नेस्ट बार्कर व एल.टी. हॉबहाउस ने मिल की कठोर आलोचना की है। बार्कर कहते हैं कि "मिल खोखली स्वतंत्रता व अमूर्त मानव का अग्रदूत था।" हॉबहाउस ने लिखा कि वस्तुतः मानव जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जो समाज के लिये महत्त्वहीन हो।
2. मिल की यह मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मपरक क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्र है, भी कई आलोचनाओं का निशाना बनी है। मिल का तर्क था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित खुद ही अच्छे रूप में समझता है। इसका खंडन करते हुए स्टीफेन ने प्रश्न उठाया है कि ऐसे में शराब पीने, मादक पदार्थों के सेवन तथा आत्महत्या के निर्णयों पर मिल क्या कहेंगे? क्या ये सभी लोग सचमुच अपना भला सर्वश्रेष्ठ रूप से समझते हैं?
3. तीसरे प्रकार की आलोचना उदारवाद के समर्थकों ने की है। उनका मानना है कि मिल ने राज्य के हस्तक्षेप के लिये काफी गुंजाइश छोड़ दी है। उदाहरण के लिये बैरी कहते हैं कि व्याख्या के माध्यम से राज्य किसी भी कार्य को अन्यपरक कार्य सिद्ध कर सकता है। इसके अतिरिक्त कल्याणकारी राज्य का समर्थन करके भी वह राज्य को अत्यधिक अधिकार सौंप देता है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विरुद्ध है।
4. मार्क्सवादियों की आलोचना है कि मिल ने वास्तविक प्रश्नों जैसे मजदूरों की स्थिति आदि को पहचान तो लिया, किंतु वे समाधान संबंधी चिंतन में वैज्ञानिक न रहकर एक छद्म-संतुलन स्थापित करने में लगा रहा।

स्वतंत्रता का मार्क्सवादी विचार (Marxist View on Liberty)

मार्क्सवाद के अनुसार स्वतंत्रता एक अत्यंत व्यापक धारणा है जिसका अर्थ है—“मानव के लिये मानवत्व के साथ रह पाने की स्थितियाँ”। प्रश्न है कि मानव का मानवत्व या सार-तत्त्व क्या है? मार्क्स ने माना है कि मानव की मानवता सृजनात्मकता (Creativity) के साथ जीने में है और अपनी विशेष सृजनात्मकता के प्रयोग से अपने तथा समाज के लिये कुछ उपयोगी और संतोषदायक कार्य करने में है। इस संतोष के अभाव में मनुष्य, मनुष्य नहीं रह पाता; वह अपनी मानव-स्थिति से अलगावीकृत (Alienated) हो जाता है।

उदारवादियों ने मानव को स्वतंत्र इच्छा (Free Will) तथा स्वतंत्र आत्मा (Free Soul) से युक्त माना है। रूसो ने भी कहा है कि 'मानव स्वतंत्र पैदा हुआ है' (Man is born free)। सार्त्र ने भी 'अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती है' कहकर यही कहा है। पर मार्क्स ऐसा नहीं मानता। मार्क्सवाद मानता है कि मानव स्वतंत्र पैदा नहीं होता है बल्कि पैदा होते ही प्रकृति और समाज के नियमों से परतंत्र हो जाता है। मानव को स्वतंत्रता अर्जित करनी पड़ती है, संघर्ष करके उसे प्राप्त करना पड़ता है।

मानव को स्वतंत्र होने के लिये सबसे पहले बाहरी प्रकृति (Outer Nature) से संघर्ष करना पड़ता है। इस दृष्टि से फ्रैड्रिक एंजेल्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'एंटी-ड्यूरिंग' में अंतर्गत विवशता (Necessity) तथा स्वतंत्रता (Freedom) में अंतर किया है। विवशता का अर्थ है- प्रकृति को नियमों से बंधे होना। मनुष्य तथा अन्य जीव-जंतु मूलतः प्रकृति के नियमों से बंधे हैं। उदाहरण के लिये, मानव चाहे तो उड़ नहीं सकता क्योंकि गुरुत्वाकर्षण का नियम उसे ऐसा करने से रोकता है। प्रकृति के ये वस्तुनिष्ठ नियम हम बदल नहीं सकते क्योंकि ये निश्चित हैं और हमारी क्षमताओं से कहीं अधिक मजबूत हैं। पर हम चाहें तो उनका व्यवस्थित, वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपने हित में प्रयुक्त कर सकते हैं। हम उड़ चाहे न सकें, हवाई जहाज बनाकर उड़ने का सुख ले सकते हैं। अतः बाहरी प्रकृति से संघर्ष करना मानव-स्वतंत्रता की पहली शर्त है। इस शर्त में मानव काफी हद तक सफल हुआ है। अन्य जीव-जंतु जहाँ अभी भी प्रकृति के दास बने हुए हैं, वहीं मानव अब प्रकृति से अंतिम लड़ाई लड़ने की स्थिति में आ गया है।

बाहरी प्रकृति से संघर्ष कर लेने के बाद मानव को आंतरिक प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि प्रकृति के नियमों की तरह समाज के भी कुछ निश्चित नियम हैं और उनका अज्ञान मानव को परतंत्र बनाए रखता है। बाहरी प्रकृति से संघर्ष की प्रक्रिया में मानव ने स्वतंत्रता का अर्जन तो किया है पर उसका न्यायपूर्ण वितरण नहीं हो सका है। पूंजीवाद में उत्पादन की मात्रा में तो अनंत वृद्धि हुई है, पर उसके वितरण के दोषों ने इस विकास के वास्तविक प्रभाव पैदा होने नहीं दिये हैं। पूंजीवाद ने स्वतंत्रता के मानवीय अर्थों को पैदा नहीं होने दिया है। पूंजीवाद मानव की रचनात्मक शक्तियों को नष्ट करके उसे उत्पादन प्रक्रिया से, बाहरी प्रकृति से, अपनी मानव स्थिति से और अपने समाज से बेगाना या अजनबी बना देता है क्योंकि वह अपने कार्य से जुड़ नहीं पाता, प्रकृति का आनंद नहीं उठा पाता; एक सा काम करते-करते सृजनात्मक खो बैठाता है और प्रतिस्पर्द्धा के कारण भावनात्मक संबंधों को भी नहीं जी पाता। ऐसी स्थिति में मानव, विशेषतः सर्वहारा स्वतंत्रता से वंचित हो जाता है। पूंजीवाद में पूंजीपति भी स्वतंत्र नहीं रह पाता। वह धन की तानाशाही का गुलाम बन जाता है। अधिक से अधिक लाभ कमाने की लालसा उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी चैन नहीं लेने देती और वह ऐसी स्थिति में अपनी सृजनात्मकता व मानवीयता को भूलकर संपत्ति का दास (या संपत्ति की संपत्ति) बनकर रह जाता है। इस प्रकार वितरणमूलक न्याय का अभाव मजदूर को आवश्यकताओं का गुलाम बनाकर पराधीन बनाता है, जबकि पूंजीपति को पूंजी व संपत्ति का गुलाम बनाकर।

मार्क्स मानता है कि प्रकृति की तरह समाज के अंधनियमों से भी स्वतंत्र हुआ जा सकता है, पर उसके लिये समाज के वास्तविक नियमों की समझ ज़रूरी है। फिर, दर्शन का काम केवल नियमों को समझ लेना नहीं है, बल्कि क्रांतिकारी क्रियाकलाप या प्रयास (Praxis) के माध्यम से समाज में स्वतंत्रता को पैदा करने वाली स्थितियों का विकास करना भी है। समाज का मूलभूत नियम यह है कि वर्ग विभाजित समाज में स्वतंत्रता का अस्तित्व संभव नहीं है। अतः स्वतंत्रता के लिये वर्ग-विभाजन को समाप्त करना होगा। चूँकि पूंजीपति इस स्थिति को नहीं बदलना चाहता, इसलिये वह दो साधनों का प्रयोग करता है- 'राज्य' तथा 'विचारधारा' (Ideology)। किंतु, एक समय के बाद सर्वहारा वर्ग संयुक्त होकर क्रांति करता है तथा समाजवादी राज्य का गठन होता है। समाजवादी राज्य में सर्वहारा की तानाशाही स्थापित होती है तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रताएँ स्थगित हो जाती हैं ताकि प्रतिक्रांति के खतरे से निपटा जा सके। कुछ समय तक संक्रमण काल के बाद साम्यवादी समाज अस्तित्व में आता है। यहाँ तक मानव प्रकृति पर इतना नियंत्रण स्थापित कर चुका होता है कि उत्पादन अत्यधिक मात्रा में होने लगता है तथा प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण होने लगती है। उत्पादन के साधनों पर सभी का स्वामित्व होने से प्रत्येक व्यक्ति मालिक होता है, कोई भी सर्वहारा या दास नहीं होता। धर्म जैसी सामाजिक संस्थाएँ तथा विवाह जैसे नियम भी मानव की स्वतंत्रता की स्थिति में लुप्त हो जाते हैं। मानव एक ही कार्य नहीं करता, वह बार-बार कार्य बदलता रहता है जिससे अलगाव की स्थिति पैदा नहीं

होती। व्यक्तियों के मध्य स्वस्थ संबंध स्थापित होते हैं तथा गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा का स्थान पारस्परिक सहयोग ले लेता है। ऐसी स्थिति में मानव अपनी आवश्यकताओं तथा विवशताओं से मुक्त होकर साहित्य, दर्शन, संगीत, कला आदि सृजनात्मक तत्त्वों में रुचिपूर्वक भाग ले सकेगा तथा अपने मानवीय अस्तित्व के सार-तत्त्व की प्राप्ति करने में समर्थ हो सकेगा। इस प्रकार, मार्क्सवाद मानव को विवशता लोक से निकालकर स्वतंत्रता लोक (From The Kingdom of Necessity to the Kingdom of freedom) में लाने को स्वतंत्रता का अर्जन मानता है।

ध्यातव्य है कि मार्क्सवाद अकेले व्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करता। मानवीय तत्त्व उसकी दृष्टि में 'सामाजिक संबंधों की पूर्णता' है। सामाजिक संबंधों के माध्यम से ही मानव के व्यक्तित्व एवं ज्ञान का विकास होता है। मनुष्य का ज्ञान भी समाज के द्वारा ही पैदा होता है। अतः समाज के साथ सहयोग करने की प्रक्रिया में ही वह स्वतंत्र होता है। रसेल तथा फोस्टर (Forster) ने मार्क्सवाद की आलोचना में कहा था कि 'सामाजिक संबंध मानवीय स्वतंत्रता को सीमित करते हैं' किंतु मार्क्सवादी विचारक कॉडवैल साफ कहता है कि समाज के ही कारण मानव अन्य पशुओं की तुलना में अधिक स्वतंत्र हो पाता है। पशु स्वतंत्र नहीं है बल्कि प्रकृति के पूर्ण नियंत्रण में है।

आलोचना

1. रसेल व अन्य व्यक्तिवादी विचारकों का आक्षेप है कि मार्क्सवादी चिंतन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं है। समाज में ही व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का विलयन हो जाता है।
2. मार्क्सवाद के सिद्धांत और व्यवहार में अंतर है। समाजवादी राज्यों में भी स्वतंत्रता की ऐसी स्थिति के कोई लक्षण नहीं दिखाई दिये बल्कि स्वतंत्रता के अभाव की बातें ज्यादा सुनी गईं। मिलोवन जिलास ने भी अपने विश्लेषण में यही निष्कर्ष स्थापित किया है।
3. व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित देशों में राजनैतिक एवं नागरिक स्वतंत्रताओं की अवहेलना की गई है। इससे एक सत्तावाद एवं सर्वाधिकार का विकास होता है।

नव मार्क्सवाद एवं स्वतंत्रता (Neo-Marxism & Liberty)

20वीं सदी के आरंभिक दशकों में मार्क्सवादी रुझान के कुछ चिंतकों ने महसूस किया कि परिवर्तित स्थितियों में मार्क्सवाद की कुछ नई व्याख्याएँ होनी चाहियें। इनमें 'फ्रेंकफर्ट स्कूल' के चिंतक तथा आलोचनात्मक सिद्धांत (Critical Theory) के अंतर्गत शामिल चिंतक आते हैं। इन्हीं विचारकों के समूह को नवमार्क्सवादी समूह कहा जाता है। इस समूह में स्वतंत्रता विषयक विवेचन करने की दृष्टि से तीन चिंतकों का विशेष महत्त्व है- एरिक फ्रॉम, हर्बर्ट मार्क्यूज़ तथा जुर्गेन हैबरमास।

एरिक फ्रॉम ने अपनी प्रसिद्ध रचना "Escape from Freedom" में दिखाया है कि पूंजीवाद न केवल भौतिक अकेलापन पैदा करता है, बल्कि नैतिक अकेलापन (Moral Aloofness) भी पैदा कर देता है। यह मानव को समाज से, सांस्कृतिक विचारों, मूल्यों, प्रतिमानों आदि से काटकर ऐसी स्थिति पैदा करता है। इस कारण मनुष्य सृजनात्मक स्वतंत्रता का भोग नहीं कर पाता बल्कि सिज़ोफ्रेनिया (Schizophrenia) जैसे मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है। इससे बचने का तरीका यही है कि मनुष्य सहज प्रेम तथा रचनात्मक कार्य के माध्यम से स्वयं को पुनः विश्व से जोड़ ले। अपनी पुस्तक 'The Art of Loving' में उसने प्रेम करने की क्षमता को महत्त्व दिया तथा एक अन्य पुस्तक 'To Have And To be' में बताया कि वस्तुओं के संग्रह से नहीं, बल्कि रचनात्मक कार्यों से ही मानव को स्वतंत्रता व सार्थकता की अनुभूति होती है।

हर्बर्ट मार्क्यूज़ (Herbert Marcuse) ने अपनी प्रसिद्ध कृति "One Dimensional Man: Studies in the ideology of Advanced Industrial Society" में स्वतंत्रता का विश्लेषण किया। मार्क्यूज़ के अनुसार पूंजीवादी समाज की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि मनुष्य न केवल स्वतंत्रता खो चुका है, बल्कि उसे स्वतंत्रता खो

देने का अहसास भी नहीं है। वर्तमान समय में मजदूर की भौतिक स्थितियाँ पहले से बेहतर हो गई हैं क्योंकि तकनीकी क्रांति (Technological Revolution) ने सुख-सुविधाएँ बढ़ा दी हैं। व्यापक मशीनीकरण के कारण मजदूर का काम हल्का हो गया है और मजदूरी इतनी कम नहीं रही कि जीवन निर्वाह कठिनाई से हो। परंतु, मशीनी प्रकार की कार्य प्रणाली के कारण उसमें सृजनात्मक शक्ति समाप्त हो रही है। ज्यादा चिंता की बात यह है कि इन सुविधाओं के समानांतर पूंजीवाद ने मास मीडिया के माध्यम से उपभोक्ता संस्कृति को पैदा कर दिया है जिसके कारण मनुष्य भोगवादी सुखों (Hedonistic Pleasures) की मिथ्या चेतना (False Consciousness) से ग्रस्त होकर अपने अलगाव को भी भूल गया है और सृजनशीलता को भी। इसी उपभोक्ता संस्कृति ने मानव को 'एक-आयामी' अर्थात् भोगकेंद्रित मानव बना दिया है। मानव का बहुआयामी व्यक्तित्व यहाँ एकदम लुप्त हो गया है। वह अपनी परिभाषा ही अपनी भोग क्षमता (Consumption Capability) से करता है। 'मैं भोग करता हूँ, अतः मैं हूँ' (I consume, therefore I am) उसका मूलमंत्र है।

जुर्गेन हेबरमास (Jurgen Habermas) ने अपनी प्रसिद्ध कृति "Legitimation Crisis" में इस प्रश्न पर विचार किया है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी व संगठन की विलक्षण प्रगति के कारण मानव की तर्कबुद्धि अब मानव के भविष्य पर ध्यान नहीं देती, बल्कि तकनीकी कार्य-कुशलता बढ़ाने पर केंद्रित हो गई है। लोकतंत्र को मुक्त बाजार ने बाजार समाज (Market Society) बना दिया है तथा मास मीडिया ने लोकतंत्र के आधार 'राजनीतिक चर्चा' के स्थान पर निरर्थक मनोरंजन को स्थापित कर दिया है। ऐसी स्थिति में मानवीय तर्कबुद्धि को मानव-जीवन के लक्ष्यों के प्रति समर्पित किये जाने की ज़रूरत है।

स्वतंत्रता: संसार से मुक्ति के रूप में

स्वतंत्रता राजनीतिक दर्शन का वह संप्रत्यय है जिसकी व्याख्याएँ विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार की हैं। पारंपरिक भारतीय दर्शन और मध्ययुगीन यूरोपीय दर्शन में स्वतंत्रता का अर्थ आत्मा की मुक्ति से था और यह मुक्ति अनिवार्यतः अलौकिक व आध्यात्मिक थी। भारत के चार्वाकेंतर दर्शन ऐसी ही मुक्ति की कामना करते हैं तो यूरोप में भी मध्ययुगीन संत दार्शनिकों ने ऐसी ही धारणाएँ प्रस्तुत कीं।

संसार से मुक्ति का एक संदर्भ लौकिक भी हो सकता है। इसका एक सामान्य अर्थ है- अपना जीवन समाप्त करने की स्वतंत्रता अर्थात् आत्महत्या की स्वतंत्रता। इसी का एक दूसरा रूप सहज मृत्यु (यूथेनेशिया) की धारणा है जिसके अंतर्गत असाध्य तथा पीड़ादायक रोग से ग्रस्त व्यक्ति को उसके निवेदन पर मृत्यु प्रदान की जाती है। इस विचार का सैद्धांतिक समर्थन महात्मा गांधी ने भी किया है जहाँ वे कहते हैं कि दर्द से तड़पते हुए बछड़े को मार देना अहिंसा है, और नहीं मारना हिंसा। संसार से मुक्ति का एक व्यावहारिक अर्थ है-सांसारिकता से मुक्ति। जो व्यक्ति जीवन के सामान्य सुख-दुख से ऊपर उठ जाता है और द्रष्टाभाव से जीवन को देखता है, वह सांसारिकता से मुक्त होकर स्थितप्रज्ञ हो जाता है। यह विचार भारतीय दर्शन की सदेहमुक्ति और स्पिनोज़ा की मुक्ति की धारणा से मिलता-जुलता है।

स्पष्ट है कि संसार से मुक्ति के अर्थ में स्वतंत्रता की कई व्याख्याएँ होती रही हैं। आज के समय में न तो आध्यात्मिक व्याख्या स्वीकार्य है और न ही आत्महत्या की व्याख्या। हाँ, सहज-मृत्यु और सांसारिकता के अर्थ में इसे वांछनीय माना जा सकता है।

न्याय की अवधारणा (Concept of Justice)

सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में स्वीकृत एक महत्त्वपूर्ण मानवीय मूल्य 'न्याय' है। यह सामाजिक-राजनीतिक जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है, जो अधिकार, स्वतंत्रता, समानता जैसी अन्य अवधारणाओं में समन्वय कराता है। यह किसी भी समाज के प्रगतिशील एवं सभ्य होने के लिये आवश्यक शर्त है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में न्याय को 'धर्म' का पर्यायवाची माना गया है।

प्लेटो का न्याय सिद्धांत (Plato's Theory of Justice)

'न्याय' का विचार प्लेटो के दर्शन का केंद्रीय तत्त्व रहा है। संभवतः यही कारण है कि प्लेटो ने अपने ग्रंथ "Republic" का वैकल्पिक नाम "Concerning Justice" रखा है। बार्कर ने कहा भी है कि न्याय का दर्शन प्लेटो के समस्त दर्शन की नींव है।

प्लेटो के लिये न्याय का अर्थ वह नहीं है जिसे हम न्याय की सामान्य व्याख्याओं में देखते हैं। प्लेटो न्याय को आत्मा का गुण मानता है जिसका संबंध 'स्वकर्तव्यपालन' से है। प्लेटो से पूर्व न्याय को कई बाह्य दृष्टिकोण प्रचलित थे, जैसे थ्रेसीमेकस का यह विचार कि 'शक्तिशाली का हित ही न्याय है' तथा ग्ल्यूकोन का यह मत कि 'न्याय भय का शिशु है और कमजोर की आवश्यकता है।' किंतु, प्लेटो को ये सभी मत अनुचित प्रतीत हुए और उसने न्याय का ऐसा सिद्धांत दिया जो व्यक्ति के भीतरी पक्ष 'आत्मा' से जुड़ा था।

प्लेटो के अनुसार व्यक्ति में तीन नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ होती हैं- इंद्रिय तृष्णा या वासना (Appetite), शौर्य या साहस (Spirit) तथा बुद्धि या ज्ञान (Wisdom)। जब ये तीनों तत्त्व व्यक्ति के मस्तिष्क में उचित अनुपात या समन्वय की स्थिति में रहते हैं तो यही समन्वय या सामंजस्य जीवन में न्याय की सृष्टि करता है। जब यह संतुलन बिगड़ता है तो व्यक्ति कामांध, क्रूर या धर्मान्ध होने लगता है।

प्लेटो के अनुसार राज्य व्यक्ति की ही विशेषताओं का विराट रूप है (The State is a Man writ large)। इस रूप में राज्य में भी व्यक्ति की भाँति तीन गुणों का समावेश होता है। पहला गुण उत्पादकता का है जिसका संबंध वासना (Appetite) से है, दूसरा गुण सैनिकत्व का है जिसका संबंध शौर्य या साहस (Spirit) से है और तीसरा गुण दार्शनिक-तत्त्व है जिसका संबंध बुद्धि (wisdom) से है। न्यायपूर्ण राज्य वह है जहाँ व्यक्ति के मूलभूत गुणों और राज्य की आवश्यकताओं में समन्वय हो जाए। व्यक्तियों के मूल गुणों के आधार पर प्लेटो ने उनके तीन वर्ग निर्धारित किये हैं-

1. वासना के प्रतिनिधि - 'उत्पादक वर्ग' या 'कृषक वर्ग'।
2. शौर्य के प्रतिनिधि - 'सैनिक वर्ग'।
3. विवेक के प्रतिनिधि - 'संरक्षक वर्ग' या 'दार्शनिक शासक वर्ग'।

यदि किसी राज्य में उत्पादक वर्ग बेहतर तरीके से उत्पादन करे, सैनिक वर्ग उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान करे तथा दार्शनिक शासक वर्ग निःस्वार्थ भाव से शासन करे तो वह न्याय की स्थिति में होगा। ध्यातव्य है कि प्लेटो ने राज्य की बागडोर दार्शनिक वर्ग को दी है क्योंकि ज्ञान के आलोक के बिना समाज अंधकार में भटक सकता है। यदि शासन दार्शनिकों के हाथ में नहीं दिया जाएगा तो उत्पादक वर्ग की अनियंत्रित लालसा और सैनिक वर्ग का अनियंत्रित भावावेग समाज को विध्वंस की ओर ले जाएगा।

इस प्रकार, राज्य के इन वर्गों का अपनी-अपनी सहज प्रवृत्तियों के अनुकूल अपने क्षेत्रों का विशेषीकरण (Specialization) कर लेना ही न्याय की अवस्था है। यह दृष्टिकोण एक सीमा तक भारतीय जीवन-दर्शन की उस मान्यता से जुड़ा है जिसमें मानव को स्वधर्म के अनुकूल जीवन जीने की शिक्षा दी गई है।

आलोचना

1. प्लेटो ने न्याय का विश्लेषण केवल नैतिक दृष्टिकोण से किया है जिससे कानूनी-औपचारिक पक्षों की पूर्ण अवहेलना हो गई है।
2. प्लेटो ने व्यक्ति को समाज के अधीनस्थ के रूप में देखा है जो व्यक्ति की दृष्टि से न्यायपूर्ण नहीं है।
3. पृथक्कीकरण और विशेषीकरण पर अत्यधिक बल देकर प्लेटो ने 'अलगाव' की समस्या को जन्म लेने का आधार प्रदान कर दिया है।
4. कार्ल पॉपर का आक्षेप है कि इस धारणा में सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) राज्य के बीज छिपे हुए हैं।
5. प्लेटो का न्याय सिद्धांत भेदमूलक एवं कुलीनतावादी है। प्लेटो समाज का विभाजन तीन असमान वर्गों में करते हैं। प्रजातांत्रिक दृष्टि से यह अनुकूल नहीं है।

अरस्तू का न्याय सिद्धांत (Aristotle's Theory of Justice)

अरस्तू की न्याय की धारणा उसके ग्रंथ 'एथिक्स' (Ethics) में मिलती है। अरस्तू के दर्शन में न्याय का अर्थ कानूनी संदर्भ तक सीमित न होकर व्यापक है। मूल अर्थ में अरस्तू ने न्याय को 'सद्गुण' (Virtue) का व्यावहारिक पक्ष माना है। उदाहरण के लिये विवेकी होना सद्गुण है, पर विवेकपूर्ण आचरण करना न्याय (Justice) है। अरस्तू ने अन्य सभी सद्गुणों की तुलना में न्याय को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है क्योंकि उसकी दृष्टि में शेष सद्गुण न्याय में ही शामिल हैं या न्याय का ही अनुसरण करते हैं।

अरस्तू ने न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये न्याय के दो पक्ष बताए हैं- (क) सामान्य न्याय (General Justice) तथा (ख) विशिष्ट न्याय (Particular Justice)। सामान्य न्याय का अर्थ सद्गुण (Virtue) और औचित्य (Righteousness) से है जबकि विशिष्ट न्याय का अर्थ है-सद्गुण के साथ किया जाने वाला यथोचित व्यवहार।

अरस्तू ने विशिष्ट न्याय (Particular Justice) को पुनः दो भागों में विभाजित किया है क्योंकि व्यावहारिक रूप से न्याय मानव जीवन के दो पक्षों को प्रभावित करता है। ये दोनों प्रकार हैं- (क) वितरणमूलक न्याय (Distributive Justice) तथा (ख) संशोधनात्मक (Rectificatory) या प्रतिवर्ती (Commutative) या प्रतिकारात्मक (Retributive/Remedial) न्याय।

वितरणमूलक न्याय का अर्थ है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों, अन्य प्रकार के लाभों और प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार आदि का वितरण न्यायपूर्ण पद्धति से करे। वितरणात्मक न्याय के लिये अरस्तू ने 'आनुपातिक समानता' (Proportional Equality) का मार्ग सुझाया है, जिसका अर्थ है कि समान लोगों के साथ समान एवं असमान लोगों के साथ असमान बर्ताव किया जाना चाहिये। आनुपातिक समानता को समझाने के लिये अरस्तू ने 'रेखागणितीय अनुपात' (Geometrical Proportion) की चर्चा की है जिसका अर्थ है कि सभी को इसमें समान हिस्सा नहीं मिलना चाहिये, बल्कि योग्यता के अनुसार मिलना चाहिये। अरस्तू के ही शब्दों में- 'न्यायपूर्ण विभाजन वह है जिसमें वितरण की गई वस्तु का आनुपातिक महत्त्व उन्हें प्राप्त करने वाले लोगों के गुणों के अनुरूप हो।' वितरणमूलक न्याय का क्षेत्र 'विधायक' का क्षेत्र होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि अरस्तू के अनुसार 'योग्यता' या 'गुण' की कसौटी क्या है? अरस्तू का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को धन या पुरस्कार उसी अनुपात में मिलना चाहिये जिस अनुपात में उसने समाज को लाभ पहुँचाया हो। पर लाभ की वस्तुनिष्ठ गणना कैसे हो? इसके लिये अरस्तू ने प्रथाओं (Customs), प्रथागत कानून (Customary Law) तथा संपत्ति (Wealth) को आधार बनाने की वकालत की है। ध्यातव्य है कि जिस राज्य में अरस्तू था, वहाँ प्रायः संपत्ति का निर्धारण भी प्रथाओं से ही तय होता था। अतः सद्गुण या योग्यता प्रथा से तय होती है, ऐसा अरस्तू का मत है।

संशोधनात्मक न्याय का संबंध न्याय के कानूनी पक्ष से है। इसका क्षेत्र वहाँ तक सीमित है जहाँ तक राज्य अपने नागरिकों के ऐच्छिक तथा अनैच्छिक पारस्परिक संबंधों का नियमन करता है। ऐच्छिक संबंध का अर्थ है-संविदात्मक संबंध (Contractual Relation) अर्थात् दो या अधिक व्यक्तियों का समझौता आदि। जब कोई पक्ष संविदा या अनुबंध से विचलित होता है तो इस स्थिति में राज्य संबंधों का पुनर्नियमन करता है। आधुनिक न्यायशास्त्रीय भाषा में प्रायः इसे 'सिविल' प्रक्रिया में रखा जाता है। अनैच्छिक संबंधों या व्यवहारों में सहमति (Consent) का कोई तत्व शामिल नहीं होता। उदाहरण के लिये, एक नागरिक का दूसरे नागरिक को हानि पहुँचाने का प्रयास करना इसमें शामिल है। इसे समकालीन न्यायशास्त्र की भाषा में 'क्रिमिनल' या 'आपराधिक' प्रक्रिया में शामिल किया जाता है। संशोधनात्मक न्याय 'न्यायाधीश' के विचार-क्षेत्र में आता है। अरस्तू की दृष्टि में, संशोधनात्मक न्याय के लिये 'अंकगणितीय अनुपात' (Arithmetical Proportion) का पालन किया जाना चाहिये। इसका अर्थ हुआ कि न्याय की प्रक्रिया में किसी व्यक्ति की योग्यता या सामाजिक स्थिति से कोई अंतर नहीं पड़ेगा, न्याय सिर्फ कृत्य के आधार पर होगा तथा सभी के लिये समान होगा।

इन धारणाओं के अतिरिक्त अरस्तू ने न्याय के संदर्भ में विश्वव्यापी कानून (Universal Law) या प्राकृतिक विधि (Law of Nature) की सांकेतिक चर्चा भी की है। उसने कहा कि कुछ कानून ऐसे भी हैं जो संपूर्ण मानव जाति पर लागू होते हैं। यह धारणा आगे चलकर रोमन न्यायशास्त्र में विकसित हुई। मध्यकाल में कैथोलिक चर्च ने ईश्वरीय वाक्यों को प्राकृतिक विधि का आधार बना दिया और आधुनिक काल में भी किसी न किसी रूप में यह धारणा चलती ही रही है।

आलोचना

1. 'योग्यता' का निर्धारण अरस्तू 'कृत्य' से नहीं, 'प्रथागत स्थिति' या संपत्ति से करता है। शेष व्यक्तियों के लिये यह व्यवस्था अन्यायपूर्ण हो जाती है।
2. इस विचार में 'यथास्थितिवाद' (Status Quoism) साफ झलकता है। प्रथाओं के माध्यम से न्याय करने का उद्देश्य ही यह है कि यथास्थिति को बनाए रखा जाए।
3. अरस्तू की न्याय की धारणा प्रायः अमूर्त स्तर पर ही व्यक्त हो सकी है, व्यवहारपरक संकल्पना का विकास वह नहीं कर सका है।
4. आधुनिक युग में 'योग्यता' का अर्थ है तीव्र बुद्धि, जबकि अरस्तू की योग्यता का आशय सद्गुण या नैतिक चरित्र से है।

जॉन रॉल्स का न्याय सिद्धांत (John Rawls' Theory of Justice)

जॉन रॉल्स एक समतावादी (Equalitarian) विचारक हैं। समतावाद समकालीन उदारवाद की वह धारा है जो मुक्त बाजार तथा अहस्तक्षेप नीति (Laissez Faire) का अंधसमर्थन करने के स्थान पर उदार लोकतंत्र के भीतर ही आर्थिक समता का मार्ग खोजने का प्रयास करती है। सी.बी. मैक्फर्सन और जॉन रॉल्स इस धारा के प्रमुख विचारक हैं। वस्तुतः समतावाद वैचारिक स्तर पर उदारवाद और समाजवाद का मिश्रण ही है।

रॉल्स ने 1958 ई. में "Justice As Fairness" नामक पुस्तक की रचना की और 1971 ई. में इसी के विचारों के विकसित रूप में "A Theory of Justice" नामक पुस्तक लिखी। यह वह समय था जब अमेरिका में नारीवादी और रंगभेद विरोधी आंदोलन तेजी से चल रहे थे तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में विषमता की समस्या तीव्रता से महसूस की जा रही थी। इस समय राजनीति दर्शन में माना जाने लगा था कि न्याय सहित अन्य मानपरक (Normative) राजनीतिक सिद्धांतों पर अब कार्य किये जाने की सार्थकता नहीं बची है। ऐसे समय में रॉल्स की इस पुस्तक ने राजनीति-दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। प्रशंसकों ने दावा किया कि

इस पुस्तक ने रॉल्स को प्लेटो, कांट और मिल जैसे महान दार्शनिकों की परंपरा में स्थापित कर दिया है। एच.ए.एल. हार्ट ने यहाँ तक कहा कि यह राजनीति दर्शन की आज तक की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है और रॉबर्ट नोजिक ने कहा कि 'अब राजनीति-दार्शनिकों को या तो रॉल्स के सिद्धांत के भीतर कार्य करना है या उन्हें बताना होगा कि वे इसके भीतर कार्य क्यों नहीं कर सकते?'

रॉल्स की धारणा है कि किसी श्रेष्ठ समाज में यूँ तो अनेक सद्गुण अपेक्षित होते हैं, किंतु उनमें न्याय का स्थान सर्वोच्च है। न्याय उत्तम समाज की अनिवार्य एवं प्राथमिक शर्त है यद्यपि पर्याप्त शर्त नहीं है। उसकी दृष्टि में, न्याय की समस्या प्राथमिक वस्तुओं के न्यायपूर्ण वितरण की समस्या है। यहाँ प्राथमिक वस्तुओं से तात्पर्य है-अधिकार एवं स्वतंत्रताएँ; आय और संपदा; सम्मान, शक्तियाँ एवं अवसर इत्यादि। प्रश्न है कि इन प्राथमिक वस्तुओं का न्यायपूर्ण वितरण किस पद्धति से किया जाए? रॉल्स का तर्क है कि 'सामाजिक व्यवस्था का नियमन करने के लिये बनाया गया सिद्धांत ऐसा होना चाहिये कि हर कोई उसके अनुसार रहने के लिये विवेकसंगत रूप से तैयार हो और यह महसूस करे कि उसके साथ कोई अन्याय नहीं हुआ है।'

इस दृष्टि से रॉल्स के सामने मूल प्रश्न न्याय का सिद्धांत देने का नहीं, बल्कि न्याय की सर्वसम्मत प्रक्रिया खोजने का है। रॉल्स का मानना है कि यदि हम न्याय की एक सटीक प्रक्रिया की खोज कर लें तो यह तय है कि उस प्रक्रिया के माध्यम से आने वाले परिणाम भी न्यायपूर्ण ही होंगे। इसलिये उसने अपने सिद्धांत को 'शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय' (Pure Procedural Justice) का सिद्धांत कहा है।

इस संदर्भ में रॉल्स ने प्रक्रियात्मक न्याय के सिद्धांत के तीन रूपों की चर्चा की है-

1. **पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय (Perfect Procedural Justice):** इसमें न्याय के स्वतंत्र मानदंड होते हैं और उनके अनुकूल प्रक्रिया का निर्धारण किया जाता है।
2. **अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय (Imperfect Procedural Justice):** इसमें न्याय के स्वतंत्र मानदंड तो होते हैं, पर प्रक्रिया निहित नहीं होती है।
3. **शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय (Pure Procedural Justice):** इसमें न्याय का कोई पूर्व निर्धारित मानदंड नहीं होता, केवल उपयुक्त प्रक्रिया की चर्चा की जाती है। रॉल्स का सिद्धांत इसी श्रेणी में शामिल है। यही कारण है कि उसने बेंथम के उपयोगितावादी तर्क का निषेध किया है जो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' को न्याय का आधार मानता है। रॉल्स स्पष्ट करता है कि यदि बेंथम और ह्यूम के उपयोगितावाद पर आगे चलते जाएँ तो कुछ व्यक्तियों की दासता को भी जायज ठहराया जा सकता है। इस रूप में रॉल्स ने उपयोगितावाद का विरोध किया या यूँ कहें कि बेंथम के उपयोगितावाद का समन्वय कांट के आदर्शवाद (Idealism) से कर दिया।

न्याय की न्यायपूर्ण प्रक्रिया तक पहुँचने के लिये रॉल्स ने एक काल्पनिक युक्ति (Heuristic Device) का प्रयोग किया है। उसने कल्पना की है कि यदि सभी व्यक्तियों को उनकी वर्तमान सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से पृथक् कर दिया जाए और समाज में प्रचलित भेदभाव के ज्ञान से भी परे कर दिया जाए तो वे सभी भावी समाज में नियमों के पुनर्निर्माण के लिये किस प्रकार की प्रक्रिया अपनाते तैयार होंगे। इस स्थिति को रॉल्स ने मूल स्थिति (Original Position) कहा है। उसने कल्पना की है कि सभी लोग एक अज्ञान के पर्दे (Veil of Ignorance) के पीछे बैठे हैं। वे अपनी योग्यताओं, हितों, निपुणताओं आदि से बेखबर हैं और यह भी नहीं जानते कि वास्तविक जीवन में कौन-कौन सी बातें संघर्ष (Conflict) पैदा करती हैं। उन्हें अर्थशास्त्र एवं मनोविज्ञान के सामान्य नियमों की जानकारी है और न्याय का बोध है। वे विवेकशील मनुष्य हैं।

रॉल्स का दावा है कि ऐसी स्थिति में जब सभी विवेकशील व्यक्ति मिलकर प्राथमिक वस्तुओं के वितरण के नियम निर्धारित करेंगे तो वे कोई खतरा उठाने को तैयार नहीं होंगे क्योंकि वे नहीं जानते होंगे कि उनकी वास्तविक स्थिति क्या है? वे सभी यह मानकर चलेंगे कि अज्ञान का पर्दा हटने पर वे हीनतम स्थिति (The

Least Advantaged Position) में होंगे। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति यही मांग करेगा कि जो 'हीनतम स्थिति' में है, उसके लिये 'अधिकतम लाभ' की व्यवस्था होनी चाहिये। ऐसी स्थिति में रॉल्स के अनुसार, सभी विवेकशील लोग मिलकर न्याय के यही तीन नियम स्वीकार करेंगे-

1. प्रत्येक व्यक्ति को विस्तृत स्वतंत्रता का ऐसा अधिकार प्राप्त होना चाहिये जो दूसरों की वैसी ही स्वतंत्रता के साथ निभ सकता हो।
2. सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ उन पदों और स्थितियों के साथ जुड़ी हों जो अवसर की उचित समानता (Fair Equality of Opportunity) पर आधारित हों और सभी के लिये सुलभ हों।
3. समानता के सिद्धांत से विचलन उसी स्थिति में स्वीकार किया जाए जबकि यह तय हो कि अतिरिक्त लाभ उसी को मिलेगा जिसके कार्य से हीनतम स्थिति वाले मनुष्यों को अधिकतम लाभ होगा। दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति को असाधारण योग्यता एवं परिश्रम के लिये विशेष पुरस्कार तभी न्यायसंगत होगा जबकि उससे समाज के हीनतम स्थिति वाले व्यक्तियों को अधिकतम लाभ पहुँच रहा हो।

रॉल्स के अनुसार, ये शर्तें पूरी हो जाने के बाद प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था के अंतर्गत कार्यकुशलता के मानदंड को लागू किया जा सकता है।

इस प्रकार, रॉल्स ने यद्यपि न्याय को प्रक्रियात्मक न्याय (Procedural Justice) के रूप में ही लेकर उदारवादी दर्शन की परंपरा का विस्तार किया है तथापि उसने हेयक, फ्रीडमैन या नोजिक की तरह बाजार अर्थव्यवस्था को प्रक्रियात्मक न्याय या वितरणमूलक न्याय का प्रतिरूप नहीं मान लिया है। प्रश्न उठता है कि विशेष प्रतिभाशाली लोग हीनतम स्थिति वाले व्यक्तियों के लिये काम क्यों करना चाहेंगे? इसके जवाब में रॉल्स ने 'शृंखला संबंधता की प्रक्रिया' (The Process of Chain Relation) की चर्चा की है। इसका अर्थ है कि समाज के सभी लोगों का संबंध सभी का जोड़ नहीं माना जा सकता। यह एक सहयोग का क्षेत्र है जिसमें अधिक प्रतिभाशाली लोग कम प्रतिभाशाली लोगों के साथ मिलकर ही लाभ कमा सकते हैं। भाग्यशाली एवं भाग्यहीन लोगों के मध्य शृंखला-संबंध होता है। किसी शृंखला की मजबूती इसी बात पर निर्भर होती है कि शृंखला की सबसे कमजोर कड़ी कितनी मजबूत है? सबसे कमजोर कड़ी को मजबूत बनाना होगा, फिर यही प्रक्रिया निरंतर चलती रहेगी।

आलोचना

1. गोरोविट्ज़ (Gorowitz) के अनुसार अज्ञान के पर्दे वाली बात समझ में आने योग्य नहीं है। इसी प्रकार, प्राथमिक वस्तुएँ, जिनका वितरण न्याय की मूलभूत समस्या है, भी अपरिभाष्य हैं। उनकी संपूर्ण, निश्चित सूची बनाना संभव नहीं है।
2. ब्रायन बैरी (Brian Barry) ने प्रश्न उठाया है कि समाज में कौन व्यक्ति हीनतम स्थिति में है, इसका निर्धारण किसी भी वस्तुनिष्ठ पद्धति से कैसे हो सकता है?
3. मार्क्सवादियों का दावा है कि नैतिक व्यवस्थाओं को केवल वर्ग-संबंधों और उत्पादन प्रणालियों के संबंध में ही समझा जा सकता है, किसी काल्पनिक स्तर पर नहीं। वे यह भी कहते हैं कि रॉल्स कुछ प्रतिबंधों के बाद भी अंततः पूंजीवादी प्रणाली का समर्थक ही ठहरता है।
4. आरंभिक उदारवादियों एवं स्वच्छातंत्रवादियों (Libertarianists) ने रॉल्स को उग्र समतावादी (Radical Equalitarian) विचारक कहा है। उनकी दृष्टि में रॉल्स ने समानता पर अत्यधिक बल देने के प्रयास में मानव की स्वतंत्रता का बलिदान कर दिया है।
5. समष्टिवादी विचारकों (Collectivists) के अनुसार रॉल्स का सिद्धांत प्रकारांतर से धनवानों के विशेषाधिकारों को बनाए रखने की व्यवस्था करता है।

न्याय की धारणा के विविध पक्ष

(Different Dimensions of the Notion of Justice)

‘न्याय’ का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में किया जाता है- संकीर्ण अर्थ (Narrow Sense) तथा व्यापक अर्थ (Broad Sense) में। संकीर्ण अर्थ में न्याय का संदर्भ ‘कानूनी न्याय’ (Legal Justice) तक सीमित होता है; किंतु व्यापक अर्थ में न्याय को मानव तथा समाज के समस्त आचरणों से संबद्ध करके देखा जाता है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पक्षों में वितरणमूलक न्याय (Distributive Justice) की संकल्पना का भी विवेचन किया जाता है।

कानूनी न्याय (Legal Justice)

कानूनी न्याय का संबंध राज्य द्वारा कानूनों के निर्माण तथा उनके अनुसार उचित न्यायिक व्यवस्था के संचालन से है। कानूनी न्याय के दो पक्ष हैं- (क) कानूनों के निर्माण की प्रक्रिया और कानून स्वयं न्यायपूर्ण हों; (ख) कानून के अनुसार न्याय उचित तरीके से मिल सके।

पहला पक्ष, जो प्रायः औपचारिक न्याय के समर्थकों द्वारा उठाया जाता है, यह है कि कानून न्यायसंगत होने चाहियें। सभी लोगों के लिये समानतापूर्ण कानून होने चाहियें। यदि जरूरत हो तो तार्किक भेदभाव ही स्वीकार किये जाने चाहियें। कानून के समक्ष समता (Equality before law) इसका मूल लक्षण है। कानून न्यायसंगत तभी हो सकते हैं जब कानून बनाने वाली संस्था न्यायसंगत हो। प्रायः माना जाता है कि लोकतांत्रिक प्रणाली में विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि समुचित होती है क्योंकि यह जन-प्रतिनिधियों द्वारा बनायी गयी है जो कि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि लोकतंत्र के भीड़तंत्र (Mobocracy) बन जाने पर जो कानून बनते हैं, वे प्रायः रूढ़िवादी और घिनौने होते हैं। इसलिये कुछ विचारक विधानमंडल द्वारा निर्मित विधि पर न्यायालय द्वारा विचारणीय ‘प्राकृतिक/नैसर्गिक विधि’ (Natural Law) का प्रतिबंध लगा देते हैं। इसका अर्थ है कि यदि कानून मानवीय विवेक तथा प्राकृतिक कानून के खिलाफ होगा तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकेगा। ऐसी व्यवस्था अमेरिका और भारत में प्रचलित है।

दूसरा पक्ष, जिसे प्रायः तात्त्विक न्याय के समर्थक उठाते हैं, यह है कि कानून के अनुसार न्याय मिलना चाहिये। इसका संबंध ‘कानून के समान संरक्षण’ (Equal Protection of Law) से है। इसकी भी दो आवश्यकताएँ हैं- (क) न्यायालयों की न्याय देने की प्रक्रिया निष्पक्ष हो; (ख) न्यायिक प्रक्रिया ऐसी हो कि प्रत्येक व्यक्ति तक उसकी समानतापूर्वक पहुँच हो।

जहाँ तक न्याय देने की प्रक्रिया का प्रश्न है, इसके सही होने के लिये कई बातें जरूरी हैं। सबसे पहले न्यायाधीशों को राज्य की ओर से स्वायत्तता हासिल होनी चाहिये। उनकी नियुक्ति, वेतन-निर्धारण आदि प्रक्रियाएँ ऐसी होनी चाहियें कि वे निर्भय होकर न्याय कर सकें। फिर, न्यायाधीशों के मूल्य किसी विशेष वर्ग, संप्रदाय या जाति के मूल्यों से प्रभावित नहीं होने चाहियें और हों भी तो न्यायिक निर्णय मूल्य-तटस्थता की स्थिति में होने चाहियें।

दूसरा मुद्दा न्याय की प्रक्रिया को सर्वजनसुलभ बनाने का है। न्यायिक प्रक्रिया सस्ती होनी चाहिये ताकि हर व्यक्ति उसका लाभ उठा सके। किंतु, भारत जैसे देशों में अभी ऐसा नहीं है। न्याय प्रायः व्यक्ति की क्रय-शक्ति पर ही निर्भर है। न्यायिक प्रक्रिया त्वरित भी होनी चाहिये क्योंकि देरी से मिलने वाला न्याय अन्याय ही होता है (Justice Delayed is justice denied)। किंतु, यह भी भारत जैसे देशों में अभी नहीं हो पाया है। धन और समय की अति-बर्बादी के कारण प्रायः व्यक्ति को अन्याय सहना न्याय प्राप्ति के प्रयास करने की तुलना में बेहतर प्रतीत होता है।

राजनीतिक न्याय (Political Justice)

राजनीतिक न्याय की व्याख्या उदारवादियों, समतावादियों एवं समाजवादियों ने भिन्न दृष्टिकोणों से की है। अंतर यह है कि जहाँ नकारात्मक उदारवादी इसे प्रक्रियात्मक (Procedural) या औपचारिक (Formal) स्तर पर रखते हैं, वहीं मार्क्सवादी, समाजवादी व समतावादी चिंतक इसे तात्त्विक (Substantive) दृष्टिकोण से देखते हैं। राजनीतिक न्याय का साधारण अर्थ यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को, बिना किसी अतार्किक भेदभाव के राज्य की शक्ति में हिस्सा मिले; सभी को सत्ता प्राप्त करने का अधिकार हो, सार्वजनिक महत्त्व की नीतियों के निर्धारण में जनमत को पर्याप्त महत्त्व मिले और राज्य की शक्ति का प्रयोग सभी के हितों को ध्यान रखकर ही किया जाए।

उदारवादी दार्शनिकों की दृष्टि में उदार-लोकतंत्र की व्यवस्था राजनीतिक न्याय की स्थिति है। वयस्क मताधिकार तथा गणतंत्र की व्यवस्था इस बात की गारंटी है कि न केवल हर व्यक्ति सत्ता के निर्धारण में बराबर महत्त्व प्राप्त कर रहा है, बल्कि हर व्यक्ति किसी भी पद को प्राप्त करने के लिये स्वतंत्र है। इसके विरोध में मार्क्सवादियों का कहना है कि संस्थाओं के स्तर पर लोकतंत्र दिखाई देने से राजनीतिक न्याय की स्थिति पैदा नहीं हो जाती। वे साबित करते हैं कि वर्ग विभाजित समाज में चुनाव वही लोग जीत पाते हैं जो उच्च वर्ग से होते हैं। एक कहावत के अनुसार “उदार लोकतंत्र में नेता अमीरों से धन एवं गरीबों से वोट इस आश्वासन के साथ लेते हैं कि वे एक दूसरे की, एक दूसरे से रक्षा करेंगे।” अतः मार्क्सवादियों के अनुसार, उदार लोकतंत्र में दिखाई देने वाली स्वतंत्रता और न्याय की स्थितियाँ ढकोसले के समान हैं। वास्तविक रूप से राजनीतिक न्याय ‘जनवादी लोकतंत्र’ (People's Democracy) या ‘ठोस लोकतंत्र’ (Concrete Democracy) में मिलता है क्योंकि वहाँ सचमुच प्रत्येक व्यक्ति के हित में सार्वजनिक निर्णय लिये जाते हैं। किंतु, इसकी सीमा यह है कि वहाँ स्वतंत्रता का घोर अभाव हो जाता है तथा एक प्रकार की तानाशाही पैदा हो जाती है।

समतावादियों (Equalitarianists) तथा लोकतांत्रिक समाजवादियों ने मध्यम मार्ग निकालकर कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को राजनीतिक न्याय का आदर्श बताया है। सकारात्मक उदारवादियों जैसे लास्की ने भी इस ओर संकेत किया है। इस राज्य में उदार लोकतंत्र से स्वतंत्रता तथा समाजवाद से समानता के मूल्यों को लेकर तार्किक रूप से समन्वित करने का प्रयास किया जाता है। वर्तमान में, विश्व की लगभग सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ इसी ओर बढ़ रही हैं।

आर्थिक न्याय (Economic Justice)

आर्थिक न्याय बेहद विवादास्पद धारणा है। इस विवाद में एक ओर नकारात्मक उदारवाद एवं समकालीन स्वेच्छातंत्रवाद के समर्थक आते हैं तो दूसरी ओर मार्क्सवादी विचारक। इन दोनों धुर विरोधी मतों के बीच कुछ विचारक ऐसे हैं जो समन्वय करने का प्रयास करते हैं। इनमें लास्की, मैक्फर्सन और रॉल्स के साथ कुछ लोकतांत्रिक समाजवादी शामिल हैं।

नकारात्मक उदारवादियों ने न्याय की धारणा को मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के संदर्भ में देखा है। उनकी दृष्टि में अहस्तक्षेप नीति (Laissez Faire) की व्यवस्था, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यताओं तथा रुचियों के अनुकूल आर्थिक अनुबंधों की व्यवस्था में रह सकता है; आर्थिक न्याय की शर्त है। स्वेच्छातंत्रवादियों ने भी नए और बदले हुए संदर्भों में इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। नोजिक ने ‘संपत्ति के अधिकार’ को मूलभूत अधिकार माना है; फ्रीडमैन और हेयक ने भी मुक्त बाजार पर आधारित अर्थव्यवस्था को ही आर्थिक न्याय का प्रतिमान बताया है। मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक योगदान का वस्तुनिष्ठ व उचित मूल्यांकन करती है तथा उसी अनुपात में उसे उपलब्धियाँ देकर वितरणमूलक न्याय का आदर्श स्थापित करती है।

इसके विपरीत, मार्क्सवादी विचारक वर्ग विभाजित समाज में आर्थिक न्याय की संभावनाएँ नहीं देखते। वे स्पष्ट मानते हैं कि पूंजी की विषमता सर्वहारा को न्यायपूर्ण स्थिति में आने ही नहीं देती। इसके कारण, श्रम करने वाला कामगार भूखा रहता है जबकि श्रम नहीं करने वाला 'परजीवी वर्ग' (अर्थात् बुर्जुआ वर्ग) सारी सुविधाएँ प्राप्त करता है। आर्थिक न्याय तो साम्यवाद में होगा जहाँ 'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाएगा और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाएगा।' समाजवाद के 'संक्रमण युग' में न्याय का पहला चरण स्थापित होगा जहाँ व्यक्ति को श्रम या कार्य के अनुसार वेतन मिलेगा तथा श्रम करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक होगा। निजी संपत्ति की संस्था के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम से ही आजीविका का अर्जन करना होगा।

सकारात्मक उदारवाद तथा समतावाद के समर्थकों ने उदारवादी ढाँचे को मूलतः स्वीकार करते हुए भी आर्थिक न्याय के तात्त्विक दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयास किया है। मिल ने सबसे पहले मुक्त बाज़ार तथा संपत्ति के असमान वितरण पर कड़ी चोट की। समतावाद के अंतर्गत मैक्फर्सन ने मुक्त बाज़ार पर आधारित पूंजीवाद के दावों पर करारी चोट की तो रॉल्स ने यह साबित किया कि जब तक समाज की सबसे कमजोर कड़ी पर ध्यान न दिया जाए, तब तक न्याय की स्थिति पैदा नहीं हो सकती। इन सभी चिंतकों ने आर्थिक न्याय की स्थिति लोक-कल्याणकारी राज्य में खोजने का प्रयास किया है।

मार्क्स के बाद के समाजवादियों ने भी क्रांति तथा सर्वहारा की तानाशाही की संभावनाओं को क्षीण होते देखकर यही तय किया कि लोकतंत्र की प्रक्रिया के माध्यम से राज्य के स्वरूप को ऐसा बनाया जाए कि हीन स्थिति वाले व्यक्तियों को अधिकतम न्याय की प्राप्ति हो सके।

कुल मिलाकर, नकारात्मक उदारवादी एवं स्वेच्छातंत्रवादी विचारक 'आर्थिक स्वतंत्रता' को आर्थिक न्याय का आधार मानते हैं; मार्क्सवादी चिंतक 'आर्थिक समानता' को मानते हैं; सकारात्मक उदारवादी एवं समतावादी स्वतंत्रता में समानता को मिलाना चाहते हैं जबकि समाजवादी दार्शनिक समानता में स्वतंत्रता को मिलाकर न्याय की प्राप्ति करना चाहते हैं।

समन्वित दृष्टिकोण से, आर्थिक न्याय के कुछ प्रतिमान इस प्रकार हो सकते हैं-

- (क) विशेषाधिकारों की व्यवस्था समाप्त होनी चाहिये व उत्तराधिकारों की आय पर ऊँचे कर लगाए जाने चाहियें।
- (ख) संपत्ति की संस्था वहीं तक मान्य होनी चाहिये जहाँ तक वह श्रम की आय में से बचत करके संचित की गई हो।
- (ग) संपत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित होनी चाहिये ताकि किसी व्यक्ति की समृद्धि शेष व्यक्तियों की बाज़ार-स्थिति इतनी कमजोर न कर दे कि वे मूलभूत संपत्ति भी न खरीद सकें।
- (घ) क्षमता के अनुसार श्रम करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य होना चाहिये।

सामाजिक न्याय (Social Justice)

सामाजिक न्याय का अर्थ है कि समाज में प्रतिष्ठा व सम्मान, स्वतंत्रताओं व सामाजिक अवसरों आदि का वितरण न्यायपूर्ण स्तर पर होना चाहिये। इसके लिये समुचित प्रतिमानों का होना पहली आवश्यकता है, जैसे-

1. प्रत्येक मानव को साध्य माना जाए और उसकी गरिमा की सुरक्षा का यथासंभव प्रयास किया जाए।
2. किसी भी अतार्किक आधार पर समाज में सत्ता और सम्मान का वितरण न किया जाए, जैसे-लैंगिक आधार, नस्लीय आधार, जातीय-प्रजातीय आधार इत्यादि।
3. असम्पत्ति तथा अभिव्यक्ति का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को हो ताकि समाज की रूढ़िवादिता और परंपरा-प्रियता के समक्ष प्रगतिशील विचारों के पैदा होने की संभावना का अंत न हो जाए।

4. प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास के अवसर समान मात्रा में उपलब्ध हो सकें, अर्थात् शिक्षा आदि में सभी को अवसर मिल सकें।

20वीं सदी को श्रेय है कि उसने सामाजिक न्याय के मुद्दों को पहली बार बड़े स्तर पर उभारा। रंगभेद विरोधी आंदोलन तथा नारीवादी आंदोलन-ऐसे दो आंदोलन हैं जिन्होंने इस प्रश्न को विश्व रंगमंच पर लाने में विशेष योगदान दिया है। इनसे पूर्व 19वीं सदी का दास प्रथा विरोधी आंदोलन भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा था। भारत में भी 19वीं-20वीं सदियों में सामाजिक न्याय के कई आंदोलन पैदा हुए हैं, जैसे- जातीय आंदोलन, जनजातीय आंदोलन आदि।

उदारवाद ने सामाजिक न्याय के संबंध में काफी प्रगतिशील विचार रखे हैं और मानव मात्र की स्वतंत्रता का विचार प्रस्तुत किया है। ये विचारक 'व्यक्ति' को महत्त्व देते हैं, इसलिये समाज की रूढ़ियों, परंपराओं तथा अताकिक मान्यताओं से व्यक्ति की पूर्ण मुक्ति के समर्थक हैं। मार्क्सवाद मानता है कि स्वतंत्रता की मूल समस्या वर्ग-विभाजित समाज खुद पैदा करता है। वह एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जहाँ समाज तो होगा, पर परिवार और विवाह जैसी बाध्यकारी संस्थाएँ नहीं होंगी, संपत्ति की व्यवस्था नहीं होगी। यह समाज 'साम्यवादी' समाज होगा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के पास सृजनात्मक स्वतंत्रता होगी और वह अलगाव (Alienation) से मुक्त होकर आनंदपूर्वक जी सकेगा।

प्रक्रियात्मक बनाम तात्त्विक न्याय (Procedural Vs. Substantive Justice)

वितरणमूलक न्याय की कसौटी क्या हो-इस संबंध में राजनीति दर्शन में दो विरोधी मत हैं। एक मत के अनुसार न्यायपूर्ण वितरण का अर्थ वितरण की प्रक्रिया के न्यायपूर्ण होने से है जबकि दूसरे मत के अनुसार, न्यायपूर्ण वितरण का सही अर्थ वितरण के परिणामों का न्यायपूर्ण होना है। पहली धारणा 'प्रक्रियात्मक न्याय' (Procedural Justice) कहलाती है जबकि दूसरी धारणा 'तात्त्विक न्याय' (Substantive Justice) कहलाती है। प्रकारांतर से देखा जाए तो प्रक्रियात्मक न्याय औपचारिक (Formal) न्याय के समान है जबकि तात्त्विक न्याय सामाजिक न्याय के समान है। प्रक्रियात्मक न्याय के समर्थकों में नकारात्मक उदारवादी, व्यक्तिवादी, स्वेच्छातंत्रवादी विचारक शामिल हैं जबकि तात्त्विक न्याय के पक्ष में प्रायः सकारात्मक उदारवादी व समाजवादी विचारक आते हैं। रॉल्स जैसे समतावादियों ने प्रक्रियात्मक न्याय और सामाजिक न्याय को जोड़कर न्याय का एक विस्तृत सिद्धांत बनाने का प्रयास किया है।

प्रक्रियात्मक न्याय

प्रक्रियात्मक न्याय की धारणा मूलतः आरंभिक उदारवाद की है। इसके अनुसार, न्याय का कार्य है व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को नियमित करना। अतः कुछ ऐसे नियम होने चाहियें जो सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होते हों जिनके पालन से न्याय की स्थिति बन सके। व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को एक दौड़ के रूप में देखा जाना चाहिये। राज्य का कार्य रैफरी का है; अर्थात् उसे यह देखना है कि कोई भी प्रतिभागी प्रतियोगिता के नियमों का उल्लंघन न करे। प्रतियोगिता में कौन जीतता है, कौन हारता है, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिये। समकालीन राजनीति दर्शन में प्रक्रियात्मक न्याय का समर्थन स्वेच्छातंत्रवादियों ने किया है। इनमें एफ.ए. हेयक, मिल्टन फ्रीडमैन एवं रॉबर्ट नोजिक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

फ्रीडमैन का तर्क है कि जटिल समाज में यह निर्धारित करना कठिन है कि समाज के संचालन में किस व्यक्ति का मात्रात्मक और गुणात्मक योगदान कितना है? यदि यह निर्धारण राज्य करता है तो न केवल व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होता है बल्कि विचारधारा के हस्तक्षेप के कारण विभिन्न व्यक्तियों का मूल्यांकन भी वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाता। बाजार के द्वारा मूल्यांकन की प्रक्रिया तटस्थ रूप से लगातार चलती रहती है। पूंजीवाद मुक्त विनिमय अर्थव्यवस्था को जन्म देता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज को अपने योगदान के अनुपात में परिणाम प्राप्त कर लेता है। यही वितरणमूलक न्याय का आदर्श हो सकता है।

नोजिक का कहना है कि संपत्ति का अधिकार सभी अधिकारों का मूल है। राज्य का प्रमुख कार्य अन्य अधिकारों के साथ-साथ संपत्ति के अधिकार की रक्षा करना है। राज्य को संपत्ति के पुनर्वितरण का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि मूलतः सभी लोग राज्य के सेवार्थी (Clients) हैं। संपत्ति के अर्जन की प्रक्रिया सभी के लिये खुली है। ऐसी अवस्था के परिणामस्वरूप पैदा होने वाली विषमता समुचित होती है; इसे बदलने का प्रयास नहीं करना चाहिये। 'संरक्षणात्मक भेदभाव' जैसे उपाय वस्तुतः सामाजिक न्याय नहीं, सामाजिक अन्याय को जन्म देते हैं। राज्य की भूमिका मात्र 'रात्रिरक्षक राज्य' (Night Watchman State) या 'पुलिस राज्य' की होनी चाहिये; उससे अधिक नहीं। कर भी इतने ही होने चाहिये कि राज्य का न्यूनतम अनिवार्य खर्च उठाया जा सके; उससे अधिक कर बेगार की श्रेणी में आएंगे। कल्याणकारी राज्य का भी कोई औचित्य नहीं है।

कहीं-कहीं प्रक्रियात्मक न्याय का चिंतन अतिवादी हदों को छूने लगता है। उदाहरण के लिये, इसके आरंभिक समर्थकों में से एक हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism) को स्वीकार करते हुए यहाँ तक कह दिया कि राज्य को अपंग लोगों की भी कोई सहायता नहीं करनी चाहिये। जो जीवन संघर्ष में अयोग्य हों, उसे मर जाने देना चाहिये।

यह दृष्टिकोण सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से भी प्रक्रियागत न्याय का समर्थन करता है। इसके अनुसार, राजनीतिक न्याय का अर्थ उदार लोकतंत्र है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी राजनीतिक क्षमता के अनुसार शक्ति प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार, सामाजिक न्याय का अर्थ किसी भी प्रकार के अतार्किक भेदभावों से मुक्त समाज में शामिल होना है जहाँ लिंग, जाति आदि की पहचान से निरपेक्ष होकर व्यक्ति अपनी योग्यताओं के अनुपात में सामाजिक सम्मान की प्राप्ति कर सके। आर्थिक जीवन में यह दृष्टिकोण बाज़ार अर्थव्यवस्था को उचित मानता है क्योंकि बाज़ार-तंत्र अपने आप उत्पादन के तत्वों को आकर्षित करके उनके सर्वोत्तम प्रयोग की स्थितियाँ पैदा कर देता है।

तात्त्विक न्याय

तात्त्विक न्याय के समर्थक मानते हैं कि केवल समान नियमों से वितरण की वास्तविक समानता पैदा नहीं हो जाती। समान अवसरों का प्रयोग करने के लिये समान स्थितियों का होना आवश्यक है, जो वर्ग-विभाजित समाज में असंभव है। आर्थिक स्तर पर उत्पादन के साधनों पर पूंजीपति का नियंत्रण होने के कारण मजदूर के पास कोई स्वतंत्र विकल्प नहीं बचता। उसे अपना श्रम मांग-पूर्ति के गरिमाहीन नियम के अनुसार बेचना ही पड़ता है। वह अलगाव का भी शिकार हो जाता है। अतः न्याय की अवस्था एकदम पैदा नहीं हो पाती। राजनीतिक स्तर पर उदार लोकतंत्र दिखावटी न्याय पैदा करता है। मूलतः चुनाव की प्रक्रिया भूखे-गरीब मतदाताओं के नहीं, अमीर पूंजीपतियों के अधीन ही रहती है। सामाजिक स्तर पर महिला जैसे वर्गों को मिथ्या चेतना (False Consciousness) में रखा जाता है। उन्हें वास्तविक न्याय एवं माननोचित जीवन नहीं मिल पाता।

तात्त्विक न्याय के समर्थक मानते हैं कि समाज में जो अंतर दिखाई देते हैं, वे न्यायपूर्ण नहीं हैं। इसके दो कारण हैं-

- (क) प्रायः समाज के अंतर भेदभावों की ऐतिहासिक प्रक्रिया के ही परिणाम हैं। अतः जिनके साथ अतीत में अन्याय हुआ, उन्हीं की पीढ़ियाँ आज भी अन्याय की स्थिति में हैं।
- (ख) तात्त्विक न्याय के समर्थक 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) की धारणा को सही नहीं मानते। वे स्पष्टतः कहते हैं कि व्यक्तित्व खुद सामाजिक परिस्थितियों की देन होता है और वर्ग-विभक्त समाज में व्यक्तित्व का विकास भी वर्ग-अंतराल से प्रभावित होता है। इसलिये यह कहना कि व्यक्ति अपनी क्षमताओं से अर्जित होने वाले संपूर्ण धन का स्वामी है, गलत है। वस्तुतः उसकी योग्यता के निर्माण में समाज के संसाधन लगे हैं, अतः उसकी आय में समाज का भी अधिकार बनता है। कॉडवेल ने इस संबंध में विस्तार से चर्चा की है।

समाजवादियों के अतिरिक्त सकारात्मक उदारवादियों जैसे लास्की तथा समतावादियों जैसे मैक्फर्सन ने भी तात्त्विक न्याय की ओर रुझान दिखाया है। रॉल्स का न्याय सिद्धांत 'शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय' (Pure Procedural Justice) का सिद्धांत होते हुए भी तात्त्विक न्याय की भावना से संबद्ध है। इन सभी की दृष्टि में जब तक

राज्य 'कल्याणकारी' न हो, जब तक 'संरक्षणात्मक भेदभाव' के माध्यम से धन, शक्ति तथा प्रतिष्ठा के वितरण को समतल न बनाया जाए, तब तक वितरणमूलक न्याय की स्थिति पैदा नहीं हो सकती। राज्य को प्रगतिशील कराधान, संपत्ति के स्थानांतरण पर अति ऊँचे कर तथा गरीबों को निःशुल्क शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी सुविधाएँ उपलब्ध करानी चाहियें ताकि आर्थिक न्याय हो सके। लिंग, जाति, नस्ल आदि पर आधारित भेदभाव दूर करके वितरणमूलक समानता लाने के लिये राज्य को नौकरियों तथा अन्य अवसरों में इन वर्गों को 'संरक्षणात्मक भेदभाव' का लाभ देना चाहिये। इसी प्रकार, गरीब लोग भी अपनी राजनीतिक क्षमताओं का प्रयोग करके राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर सकें, इसके लिये चुनाव खर्च राज्य को स्वयं वहन करना चाहिये।

स्वतंत्रता एवं समानता में संबंध (Relation between Equality & Liberty)

समानता व स्वतंत्रता विरोधी हैं:

बहुत से विचारकों की राय है कि स्वतंत्रता और समानता के आदर्श परस्पर विरोधी हैं। ऐसा सोचने वाले विचारकों में लॉर्ड एक्टन, अलेक्सी द टाकविले जैसे समाजशास्त्रीय विचारक, हेयक तथा फ्राइडमैन जैसे स्वेच्छातंत्रवादी विचारक; मिशेल, मोस्का और पैरेटो जैसे विशिष्टवर्गीय (Elitist) विचारक तथा वाल्टर बेजहॉट, लीकी तथा स्टीफन जैसे विचारक शामिल हैं। ऐसे विचारकों के कई तर्क हैं जो इस प्रकार हैं-

1. अलेक्सी द टाकविले (Alexis De Tocqueville) की राय में आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या स्वतंत्रता व समानता में सामंजस्य स्थापित करने की है। लोकतंत्र बहुमत के शासन की व्यवस्था है जो धीरे-धीरे बहुमत की तानाशाही में परिवर्तित हो जाती है। यह स्थिति जनमत के अनुकूल चलने के लिये सभी को मानसिक तौर पर बाध्य करती है। जो विचार लोकमत से अलग होते हैं, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। अतः विविधता (Variety) के स्थान पर अनुरूपता (Conformity) को बढ़ावा मिलने लगता है और अभिव्यक्ति, विचार आदि की स्वतंत्रता का दमन होने लगता है। इसलिये जे.एस. मिल ने भी कहा है कि यदि एक भी व्यक्ति की राय समाज की राय से अलग हो तो उसको दबाया नहीं जाना चाहिये।
2. उदारवादियों की मान्यता है कि स्वतंत्रता तथा असमानता दोनों प्राकृतिक स्थितियाँ हैं। स्वतंत्रता मनुष्य को प्राकृतिक रूप से प्राप्त है और असमानता इसी स्वतंत्रता (स्वत्वमूलक योग्यताओं के आधार पर) का स्वाभाविक परिणाम है। यह असमानता तो व्यक्ति की योग्यता का ही तार्किक परिणाम है।
3. स्वेच्छातंत्रवादियों का तर्क है कि समानता, विशेषतः आर्थिक समानता एवं सकारात्मक समानता को तभी बढ़ाया जा सकता है जब राज्य को अधिकाधिक शक्तियाँ दी जाएँ। राज्य को ज्यादा शक्तियाँ देने का परिणाम यह होगा कि स्वतंत्रता कम हो जाएगी। फ्रीडमैन ने इसी तर्क को बढ़ाते हुए कहा कि पूंजीवादी बाजार राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हावी नहीं होने देता और शक्ति के संकेंद्रण की संभावनाएँ नहीं पनप पातीं। ऐसी स्थिति में ही स्वतंत्रता की रक्षा हो सकती है। हेयक की राय में, स्वतंत्रता विषमता को जन्म देती ही है।
4. विशिष्टवर्गवादी (Elitist) दार्शनिकों की राय है कि यदि विशिष्टवर्ग न हो तो लोकतंत्र के नाम पर भीड़तंत्र (Mobocracy) या Populism के स्थापित होने के खतरे बढ़ जाते हैं। भीड़तंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर खतरे पैदा हो ही जाते हैं। मिशेल्स, पैरेटो और मोस्का ने यह राय व्यक्त की है।

समानता व स्वतंत्रता पूरक हैं:

बहुत से विचारकों की राय में, समानता व स्वतंत्रता परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। लास्की और बार्कर जैसे सकारात्मक उदारवादी; सी.बी. मैक्फर्सन जैसे समतावादी इसी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। समाजवादी

लोकतंत्र के समर्थक भी इस विचार का समर्थन करते हैं। इन विचारकों के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं-

1. स्वतंत्रता एवं समानता दोनों का उद्देश्य एक ही है-मानव की शक्तियों एवं व्यक्तित्व का विकास। यदि हम केवल स्वतंत्रता दें तो प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं क्योंकि कुछ ही व्यक्ति स्वतंत्रता का भोग करने में समर्थ हो पाते हैं तथा उनकी इस शक्ति के सामने शेष बहुसंख्यक लोग स्वतंत्रता से वंचित हो जाते हैं।
2. आर्थिक समानता के अभाव में न आर्थिक स्वतंत्रता का महत्त्व बचता है, न ही राजनीतिक स्वतंत्रता का; क्योंकि ऐसी स्थिति में सत्ता का सुख केवल वही चंद लोग उठा पाते हैं जो चुनाव लड़ने की स्थिति में होते हैं। यही स्थिति धनतंत्र (Plutocracy) कहलाती है।

निष्कर्ष

वस्तुतः सकारात्मक स्वतंत्रता एवं सकारात्मक समानता परस्पर पूरक हैं; उनमें विरोध का कोई संबंध नहीं है। इसी दृष्टि से कई विचारकों ने स्वतंत्रता व समानता की पूरकता में गहरा विश्वास व्यक्त किया है। एल. टी. हॉबहाउस ने कहा है कि “समानता के बिना स्वतंत्रता एक भारी-भरकम शब्द है जिसके परिणाम गंदे ही होते हैं।” इसी प्रकार, आर.एच. टॉनी ने जोरदार शब्दों में कहा कि “अधिक मात्रा में समानता स्वतंत्रता की विरोधी नहीं, बल्कि इसके लिये आवश्यक है।” इसी प्रकार, बार्कर कहते हैं- “यह कहना शेष रहता है कि समानता कोई अलग सिद्धांत नहीं है। यह स्वतंत्रता और बंधुता के सिद्धांत की साथी है। इसका दोनों के साथ, विशेषकर स्वतंत्रता के सिद्धांत के साथ, सामंजस्य किया जाना चाहिये।”

समानता एवं न्याय में संबंध (Relation between Equality & Justice)

समानता और न्याय का पारस्परिक संबंध बेहद जटिल है। जहाँ तक न्याय के संशोधनात्मक (Rectificatory) या प्रतिकारी (Retributive) पक्ष की बात है; यह बात सर्वसम्मत है कि इसमें सभी व्यक्तियों को समानता उपलब्ध होनी चाहिये। ‘विधि के समक्ष समता’ और ‘विधि का समान संरक्षण’ के नियम इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

समानता और न्याय के संबंधों में निहित जटिलता मूलतः वितरणमूलक न्याय (Distributive Justice) के संदर्भ में आती है। जहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा, राजनीतिक सत्ता और आर्थिक उपलब्धियों के वितरण का प्रश्न सामने खड़ा हो जाता है। उदारवादी एवं समाजवादी-दोनों पक्षों के विचारक समानता को न्याय का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष तो मानते हैं, पर ‘किसकी समानता’ के मुद्दे पर एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं।

मूल तनाव आर्थिक वितरण को लेकर है। उदारवादियों और स्वेच्छातंत्रवादियों की स्पष्ट धारणा है कि “प्रक्रिया के स्तर पर अवसरों की समानता” (Equality of Opportunities at the Level of Process) ही न्याय का मूल मंत्र है। यदि व्यवस्था मुक्त बाजार के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के अनुसार मुक्त विनिमय एवं प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति प्रदान करती है, तो यह न्यायपूर्ण स्थिति है और इससे पैदा होने वाली विषमताएँ भी न्यायपूर्ण ही होंगी। चूँकि ये विषमताएँ न्यायपूर्ण हैं, इन्हें राज्य द्वारा सीमित या नियंत्रित करने का प्रयास स्वतः ही अन्यायपूर्ण हो जाएगा। समाजवादी और मार्क्सवादी प्रक्रिया के स्तर पर नहीं, “समान अवसरों की उपलब्धियों की स्थितियों की समानता” (Equality of circumstances for attaining equal opportunities) की बात करते हैं। वे कहते हैं कि वर्ग-विभक्त समाज में आर्थिक न्याय नहीं हो सकता क्योंकि सभी संबंध पूंजी के अनुसार नियंत्रित होते हैं। यह परतंत्रता की, अलगाव की स्थिति है। साम्यवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को क्षमता के अनुसार कार्य करना होगा और उसकी समस्त जरूरतें पूरी की जाएंगी। तब न्याय की वास्तविक स्थिति होगी जिसका अर्थ होगा- “मानव की सृजनात्मकता के साथ जी पाने की स्वतंत्रता का समान वितरण।” समानता की इस स्थिति को ही न्यायपूर्ण माना जा सकता है। कुल मिलाकर, उदारवाद अस्तु के नियम “समानों की समानता और असमानों की असमानता” को आर्थिक प्रणाली पर लागू करता है, जबकि मार्क्सवाद सभी की समान आवश्यकताओं को समानता का आधार मानकर समानता की बात उठाता है।

राजनीतिक स्तर पर भी उदारवाद प्रक्रियागत एवं संस्थागत समानता की बात करता है। वयस्क मताधिकार तथा गणतंत्र की व्यवस्था उसकी दृष्टि में न्यायपूर्ण हैं क्योंकि सभी को नेता चुनने और बनने का हक मिल जाता है। मार्क्सवादी मानते हैं कि उदार-लोकतंत्र में राजनीतिक शक्ति पूंजीपति वर्ग के हाथों में ही केंद्रित होती है। न्यायपूर्णता की वास्तविक स्थिति साम्यवाद है, जहाँ राज्य का लोप हो जाता है और शक्ति के अंधप्रयोग की संभावना समाप्त हो जाती है। राज्य हमेशा शक्तिशाली वर्ग का हथियार होता है, अतः अंततः राज्य का न होना ही न्यायपूर्ण स्थिति होगी।

सामाजिक स्तर पर प्रायः उदारवाद एवं मार्क्सवाद दोनों प्रगतिशील विचार धारण करते हैं। उदारवाद मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक आधारों, जैसे- लिंग, जाति, नस्ल के आधार पर समानता मिलनी ही चाहिये। मार्क्सवाद मानता है कि परिवार, धर्म जैसी संस्थाएँ मानव को परतंत्र बनाती हैं, अतः साम्यवाद में ये संस्थाएँ भी नहीं रहेंगी; मानव अपनी सृजनात्मकता के अनुसार संबंधों का निर्धारण कर सकेगा। उदारवाद मानता है कि समाज में तार्किक स्तरीकरण अनिवार्य है क्योंकि क्षमताओं के अंतर के अनुसार सभी को भिन्न परिणाम मिलते हैं। दूसरी ओर, मार्क्सवाद मानता है कि साम्यवाद में स्तरीकरण की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

स्वतंत्रता और न्याय (Liberty and Justice)

स्वतंत्रता तथा न्याय का संबंध भी जटिल है, हालाँकि उतना नहीं जितना जटिल समानता एवं न्याय अथवा समानता एवं स्वतंत्रता का संबंध है।

स्वतंत्रता साधारण रूप में न्याय की मूलभूत शर्त है। कोई भी परतंत्रता न्यायपूर्ण नहीं हो सकती। 19वीं शताब्दी में अमेरिका में दासों ने स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी और अंततः 1866 ई. में स्वतंत्रता प्राप्त की। 20वीं सदी में विश्व के सभी पराधीन राष्ट्रों ने स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी और इन सभी संघर्षों को न्याय के लिये संघर्ष माना गया। 20वीं सदी में ही नारियों ने लैंगिक स्वतंत्रता एवं समानता की लड़ाई लड़ी और आज के समय में इसे भी न्याय की लड़ाई माना जाने लगा है।

किंतु, एक सीमा से अधिक स्वतंत्रता अन्यायपूर्ण भी हो सकती है, उनके लिये जिन्हें यह स्वतंत्रता नहीं मिल सकी है। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों की स्वतंत्रता शेष संपूर्ण समाज की परतंत्रता बन जाती है। नकारात्मक उदारवाद तथा समकालीन स्वेच्छातंत्रवाद प्रायः अत्यधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता की मांग करते हैं जो परिणाम के स्तर पर कुछ समर्थ लोगों को छोड़कर शेष के लिये बंधनकारी ही साबित होती हैं। वे स्वतंत्रता की व्याख्या भी प्रतिबंधों के अभाव के रूप में करते हैं।

मार्क्सवाद का दृष्टिकोण इस संबंध में अलग प्रकार का है। वह मानता है कि समाज से अलग व्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं होती है। स्वतंत्रता का अर्थ है- प्रकृति के अंध नियमों पर नियंत्रण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को रचनात्मकता के साथ जीने की स्थितियों की उपलब्धि कराना; जो साम्यवाद में हो पाता है। जब यह स्थिति आती है तो स्वतंत्रता और न्याय दोनों उपलब्ध हो जाते हैं। वर्ग विभाजित समाज में मजदूर सामान्य जीवन की परतंत्रताओं से मुक्त नहीं हो पाता और पूंजीपति भी पूंजी द्वारा नियंत्रित होकर मानवीय गुणों को खो देने के कारण अलगाव का शिकार हो जाता है। अतः वर्ग-विभाजित समाज में न स्वतंत्रता संभव है और न ही न्याय।

सकारात्मक उदारवाद, समतावाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद की विचारधाराओं ने इन दोनों के बीच की स्थिति निकाली है। इनके अनुसार, स्वतंत्रता तो प्रत्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिये, पर इतनी नहीं कि अन्य व्यक्ति उसकी अति-स्वतंत्रता के कारण परतंत्र हो जाएँ। ऐसी सीमित स्वतंत्रता, जो सभी को तात्त्विक रूप से मिल सके, ही न्यायपूर्णता की स्थिति पैदा कर सकती है।

मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था ही वितरणमूलक न्याय का आधार है

राजनीतिक दर्शन में न्याय के संप्रत्यय की व्याख्या तथा न्यायपूर्ण स्थिति की प्रक्रिया के संबंध में कई प्रकार के मत दिये जाते रहे हैं। प्रस्तुत कथन न्याय के संबंध में उदारवादी दर्शन की एक समकालीन शाखा स्वेच्छातंत्रवाद की मान्यता से प्रभावित है जिसमें हेयक, मिल्टन फ्रीडमैन, नॉजिक जैसे राजनीतिक दार्शनिक शामिल हैं। दरअसल यह दर्शन अरस्तू के वितरणमूलक न्याय तथा हर्बर्ट स्पेंसर के सामाजिक डार्विनवाद जैसे सिद्धांतों का समकालीन विस्तार है।

स्वेच्छातंत्रवादियों का दावा है कि न्याय का अर्थ है योग्यतानुसार प्रतिफल प्राप्त करना। जो व्यक्ति समाज को जितना देता है उसी के अनुरूप प्रतिफल का वह भागी है। समाज को अधिक देने वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से अधिक प्रतिफल का भागी है जो समाज को उससे कम देता है। किसने समाज को कितना दिया, इसको निर्धारित करने का एकमात्र निष्पक्ष तरीका है कि लोग सामूहिक रूप से मुक्त बाज़ार के माध्यम से इसे निश्चित करें। अतएव मुक्त बाज़ार न्याय प्राप्ति का एकमात्र तरीका है।

स्वेच्छातंत्रवादियों के इस विचार में मूलतः दो बातें निहित हैं जिनके प्रति सहमति या असहमति की गुंजाइश बनती है। पहली धारणा यह है कि न्याय का अर्थ 'योग्यतानुसार प्रतिफल' प्राप्त करना है और दूसरी धारणा यह है कि समाज में व्यक्ति के योगदान व इस योगदान के लिये प्रतिफल निर्धारित करने का 'एकमात्र' और 'निष्पक्ष' तरीका मुक्त बाज़ार पर आधारित प्रतिस्पर्द्धात्मक पूंजीवादी व्यवस्था है। दोनों मान्यताओं का क्रमशः विश्लेषण अपेक्षित है।

पहला प्रश्न यह है कि क्या न्याय का अर्थ योग्यतानुसार प्रतिफल की प्राप्ति को माना जा सकता है? उदारवादी, नव उदारवादी और स्वेच्छातंत्रवादी विचारकों का मत है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का स्वामी समझा जाना चाहिये। चूँकि योग्यता एवं क्षमता व्यक्तित्व का हिस्सा होती है अतः इनके आधार पर व्यक्ति को प्रतिफल का वितरण किया जाना चाहिये। इतना अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिये कि जब सभी व्यक्ति अपनी क्षमताओं के प्रतिफल की दौड़ में शामिल हों तो प्रक्रिया के स्तर पर सभी को समान धरातल मिलना चाहिये। इस दार्शनिक विचार को बहुत से विद्वानों ने 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) की संज्ञा भी दी है।

किंतु, उक्त मत से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता है। यह बात सही है कि व्यक्ति के प्राकृतिक अंतरों को समाज के स्तर पर समाप्त करना संभव नहीं है और इस रूप में समान प्रक्रिया के साथ सभी को बराबर अवसर मिलना चाहिये। किंतु योग्यता क्या सचमुच वैयक्तिक प्रघटना है या वह भी समाज पर आधारित है? यदि योग्यता का एकमात्र आधार आनुवांशिकता है तो योग्यतानुसार न्याय 'मत्स्य न्याय' होगा, और यदि योग्यता समाज द्वारा मिलने वाले पर्यावरण पर आधारित है तो योग्यता स्वयं समाज की देन है। पुनः योग्यता सभी के पास समान रूप से नहीं है तो इसका कारण यह है कि समाज के पास संसाधनों की कमी है। इस रूप में जैसा कि कॉडवेल ने कहा भी है, योग्यता सामाजिक संसाधनों के अन्यायपूर्ण वितरण का परिणाम है और यदि इसे न्याय का आधार मान लिया जाए तो अन्याय भी स्थायी होने लगता है। दूसरी समस्या यह है कि न्याय को योग्यतानुसार होना चाहिये या आवश्यकतानुसार। योग्य व्यक्ति को उसकी समस्त आवश्यकताओं से अधिक मिले और कोई अपंग या कमजोर व्यक्ति अयोग्यता के कारण भूख से मरे तो इस स्थिति को कैसे न्यायपूर्ण माना जा सकता है? यह बात समाजवादी विचारकों, जैसे- सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर आदि ने तो कही ही है; इसकी ओर लास्की, मैक्फर्सन तथा रॉल्स ने भी संकेत किया है।

उपरोक्त कथन में दूसरा विवादास्पद संदर्भ यह है कि समाज में व्यक्ति के योगदान तथा प्रतिफल को निर्धारित करने का 'एकमात्र' तथा 'निष्पक्ष' तरीका मुक्त बाज़ार ही है। फ्रीडमैन जैसे विचारकों ने इस संबंध में विशेष चर्चा की है। इन विचारकों का मानना है कि मुक्त बाज़ार में प्रवेश करने का सभी को अधिकार है, अतः सभी को प्रक्रियागत समानता की प्राप्ति होती है। व्यक्ति के मात्रात्मक तथा गुणात्मक प्रयास उसके प्रतिफल

को तय करते हैं। इससे अनुचित तथा बाध्यकारी समाजवाद समाप्त हो जाता है तथा समुचित स्वतंत्रता प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति स्वहित, स्वधर्म तथा स्वगुण के आधार पर व्यवसाय का चयन कर सकता है, अतः स्वतंत्र है और निरंतर बनी रहने वाली प्रतिस्पर्द्धा किसी भी व्यक्ति या समूह की स्वतंत्रता को निरंकुश होने से बचाती है। इस प्रकार मुक्त बाजार व्यवस्था समानता और स्वतंत्रता के परस्पर विरोधी टिकने वाले प्रभावों का उचित समायोजन करती है, अतः यह न्याय का समुचित प्रावधान है।

फ्रीडमैन जैसे विचारकों के अनुसार मुक्त बाजार न्याय की 'निष्पक्ष' व्यवस्था इसलिये है क्योंकि यहाँ न्याय की प्रक्रिया में किसी व्यक्ति या समूह की प्रतिभागिता नहीं है। यह सत्य है कि कोई भी व्यक्ति अपने पूर्वाग्रहों से पूर्णतः तटस्थ होकर न्याय नहीं कर सकता। बाजार व्यवस्था निष्पक्ष न्याय इसलिये करती है क्योंकि यह व्यवस्था माँग व पूर्ति के वस्तुनिष्ठ, तटस्थ एवं निष्पक्ष नियमों के आधार पर कार्य करती है। इतना ही नहीं यह न्याय की 'एकमात्र' व्यवस्था है अर्थात् अन्य कोई भी व्यवस्था निष्पक्ष न्याय स्थापित नहीं कर सकती। उदाहरण के लिये, समाजवादी व्यवस्थाओं में सक्षम व्यक्ति की स्वतंत्रता, योग्यता तथा उद्यमशीलता के साथ न्याय नहीं हो पाता जबकि बहुत से व्यक्ति योग्यता तथा पर्याप्त श्रम के अभाव में भी बेहतर उपलब्धियाँ अर्जित कर लेते हैं। इसी प्रकार, राजतंत्रीय शासन में न्याय किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर हो जाता है, इसलिये उसमें निष्पक्षता नहीं आ पाती है। अर्थव्यवस्था में भी देखें तो एकाधिकारवादी अर्थव्यवस्था शेष सभी पक्षों को समानता व स्वतंत्रता नहीं उपलब्ध करा पाती है। अतः मुक्त बाजार ही न्याय का एकमात्र आधार है।

प्रश्न उठता है कि स्वेच्छातंत्रवादियों का यह दावा कितना सुसंगत है। पहली समस्या जिसे मैक्फर्सन ने उठाया है, यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से तथाकथित मुक्त बाजार में प्रवेश नहीं कर पाता है अतः इसकी निष्पक्षता संदिग्ध है। पूंजी की अधिकता बाजार में प्रवेश को अत्यंत सरल बना देती है और पूंजीविहीन श्रम पूंजी पर निर्भर होने को बाध्य हो जाता है। पुनः, यह प्रतिफल देने में भी वस्तुनिष्ठ या निष्पक्ष नहीं है क्योंकि संपत्तिवान् वर्ग का अयोग्य व्यक्ति संपत्तिहीन वर्ग के योग्य व्यक्ति की तुलना में अधिक प्रतिफल प्राप्त करता है। तीसरी बात यह है कि बाजार व्यक्ति के योगदान के अनुरूप प्रतिफल नहीं देता, बल्कि माँग व पूर्ति के अनुरूप देता है। हो सकता है कि व्यक्ति के कार्य की जरूरत समाज को हमेशा हो किंतु किसी आपदा के समय अचानक माँग बढ़ जाए और कालाबाजारी करने के कारण मूल्य वृद्धि से उसे अधिक लाभ मिले। क्या इसे योगदान के अनुरूप प्रतिफल माना जा सकता है? चौथी समस्या यह है कि बाजार उन योग्यताओं को ही महत्त्व दे पाता है जो बाजारोचित हों। उसकी नजर में संवेदनाएँ, भावनाएँ, कला, साहित्य आदि निरर्थक वस्तुएँ हैं। किंतु क्या सचमुच उन्हें निरर्थक माना जा सकता है? अंतिम बात यह है कि बाजार में योगदान देने वाला ही नहीं अपितु भ्रम फैलाने वाला व्यक्ति भी अधिक प्रतिफल प्राप्त कर लेता है। ज्यों बौद्धिआ ने अपनी पुस्तक 'द कंज्यूमर एज' में दिखाया है कि वर्तमान बाजार में कोई वस्तु गुणवत्ता के आधार पर नहीं, अपितु इसलिये बिकती है कि उस वस्तु के विज्ञापन ने उपभोक्ता को कितना आकर्षित किया है। यह आकर्षण छद्म या मिथ्या भी हो सकता है।

सभी पक्षों का संतुलित विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि न्याय का अर्थ केवल योग्यतानुसार प्रतिफल देना नहीं है, अपितु इसमें आवश्यकता के तत्त्व को भी समाहित किया जाना चाहिये। आवश्यकता की पूर्ति सभी व्यक्तियों की होनी चाहिये चाहे वे योग्य हों या अयोग्य, किंतु आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद व्यक्ति को क्षमता के आधार पर स्वतंत्र रूप से विकास करने का अवसर मिलना चाहिये। व्यक्ति को आगे बढ़ने के अवसर उपलब्ध कराने के लिये मुक्त बाजार अच्छी व्यवस्था है, किंतु इसकी कुछ कमियों को दूर करना आवश्यक है, जैसे नई उद्यमशीलता को प्रोत्साहित करने के लिये पूंजीगत एवं संरचनात्मक सुविधाएँ राज्य द्वारा उपलब्ध कराई जानी चाहियें, समाज की दृष्टि से आवश्यक किंतु बाजार की दृष्टि से अप्रासंगिक वस्तुओं व सेवाओं, जैसे- कला, साहित्य, चिंतन और संवेदनाओं को विशेष सुरक्षा दी जानी चाहिये क्योंकि सुंदर समाज के निर्माण में वे जरूरी हैं। कुल मिलाकर, जैसा कि रॉल्स ने भी माना है कि मुक्त बाजार बेहतर व्यवस्था हो सकती है बशर्ते वह सामाजिक न्याय के साथ संबद्ध हो।

संप्रभुता की संकल्पना (Concept of Sovereignty)

संप्रभुता अंग्रेजी शब्द Sovereignty का हिन्दी रूपांतरण है। Sovereignty शब्द लैटिन भाषा के Superanurs से बना है, जिसका अर्थ होता है श्रेष्ठ, परम, सबसे ऊपर या सर्वोच्च शक्ति। अतः संप्रभुता का तात्पर्य सर्वोच्च शक्ति या सत्ता से है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक राज्य अपने आंतरिक मामलों में स्वतंत्र एवं सर्वोच्च तथा बाह्य विषयों से स्वतंत्र है।

बोदाँ का संप्रभुता सिद्धांत (Bodin's Theory of Sovereignty)

राजनीति-दर्शन में बोदाँ की ख्याति संप्रभुता की संकल्पना को स्थापित करने वाले पहले विचारक के रूप में है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Republic' में इस सिद्धांत की चर्चा की है। माना जाता है कि मैकियावली और लूथर ने राज्य को धार्मिक सत्ता से मुक्त कराने के जो प्रयत्न किये थे, उनकी तार्किक परिणति बोदाँ के संप्रभुता के सिद्धांत के रूप में सामने आई।

बोदाँ के समय की परिस्थितियाँ

बोदाँ 16वीं सदी के फ्राँस का दार्शनिक है। उसका समय मध्यकाल और आधुनिक काल के संक्रमण का काल था। मध्यकाल के धर्मकेंद्रित ढाँचे में संप्रभुता जैसे विचार का विकास होना संभव नहीं था। इस पर मुख्यतः चार स्थितियाँ रोक लगाए हुई थीं-

1. रोम के पतन के बाद प्राकृतिक और दैवी कानून (Natural and Divine Law) का सिद्धांत बहुत महत्वपूर्ण हो गया था। ऐसी स्थिति में राजा द्वारा बनाए एवं लागू किये जाने वाले सकारात्मक कानून (Positive Law) के विचार का विकास ही संभव नहीं था।
2. मध्यकाल में चर्च राज्य पर प्रभुता का दावा लगातार कर रहा था और पोप की शक्ति राजा की शक्ति से अधिक बनी हुई थी; अतः संप्रभुता के विचार के पनपने की कोई संभावना मौजूद नहीं थी।
3. सामंतवादी व्यवस्था (Feudal System) के कारण सत्ता राजा से लेकर सामंतों-सरदारों तक विभाजित थी। सामंत-सरदार अपने-अपने क्षेत्र में संप्रभु माने जाते थे। अतः ऐसी स्थिति में केंद्रीकृत प्रभुसत्ता (Centralized Sovereignty) का विचार पनपना संभव नहीं था।
4. मध्यकाल में अनेक प्रकार के निगमों (Corporations) का विचार तथा नगरों द्वारा अपनी स्वतंत्रता के लिये किये जाने वाले दावे भी थे।

16वीं सदी में फ्राँस की स्थितियाँ काफी जटिल थीं। सन् 1562 से लेकर 1598 तक कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंटों के मध्य नौ धर्म युद्ध हो चुके थे। फ्राँस का राजा कभी किसी गुट का साथ देता था तो कभी किसी का। 1572 ई. में चार्ल्स नवम् ने एक ही दिन 20000 प्रोटेस्टेंटों की हत्या करा दी थी। ऐसी स्थिति में कई विचारक चाहते थे कि कोई ऐसी सत्ता हो जो धर्म पर नियंत्रण कर सके और धार्मिक मामलों में उदारता एवं सहिष्णुता की नीति पर चल सके। इस समय जनसाधारण भी धार्मिक एवं सामंती शोषण से परेशान हो चुका था। फ्राँस व इंग्लैंड में सामंतवाद के विध्वंस के आसार बन ही रहे थे।

इन संक्रमणकालीन स्थितियों में कुछ प्रगतिशील विचारकों ने एक बौद्धिक संस्था का निर्माण किया, जिसका नाम था 'पोलीतीक' (Politique)। बोदाँ इसी संस्था से संबद्ध था और फ्राँस के तत्कालीन राजा 'फ्राँस्वा' का

संरक्षण इस संस्था को प्राप्त था। इस स्थिति में संप्रभुता का सिद्धांत निर्मित हुआ। गैटिल के अनुसार- “16वीं सदी में फ्रांस के राजा ने देश को संगठित बनाते हुए एकीकरण किया और फ्रांस को ही लेखक जीन बोदाँ ने पहली बार सर्वोच्च संप्रभुता को राज्य की अनिवार्य विशेषता मानते हुए राजा को इस सत्ता का अधिष्ठान माना।”

बोदाँ की संप्रभुता की धारणा

बोदाँ की राय में, संप्रभुता राज्य का प्राण या सारतत्त्व है। शेष सभी समुदायों व संस्थाओं का राज्य से मूलभूत अंतर यही है कि राज्य के पास संप्रभुता का गुण है जबकि शेष संस्थाओं के पास ऐसा कोई गुण नहीं है।

संप्रभुता की परिभाषा देते हुए बोदाँ कहता है- “संप्रभुता नागरिकों तथा प्रजाजनों पर सर्वोच्च सत्ता है जो विधि द्वारा प्रतिबंधित नहीं है।” इसका अर्थ है कि संप्रभु के ऊपर कोई भी कानून लागू नहीं होता है, उसकी इच्छा ही कानून होती है। संप्रभु को संपूर्ण सत्ता देने के कारण कुछ विचारकों ने बोदाँ को ‘आधुनिक पूर्णसत्तावाद’ (Modern Absolutism) के सिद्धांतकार की उपाधि भी दी है।

बोदाँ के अनुसार, संप्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. संप्रभुता ‘सर्वोच्च शक्ति’ है। शासक को जनता के जीवन व स्वतंत्रता पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। कोई भी समूह, संगठन उसकी शक्ति से बाहर नहीं होता।
2. संप्रभुता ‘स्थायी’ (Perpetual) शक्ति है। संप्रभुता का हस्तांतरण नहीं किया जा सकता। अगर किसी को संप्रभुता निश्चित काल के लिये दी जाती है तो उसे वास्तविक संप्रभु नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार किसी की अमानत को रखने वाला उसका मालिक नहीं होता, वैसे ही कुछ समय के लिये संप्रभुता प्राप्त करने वाला वास्तविक संप्रभु नहीं हो सकता।
3. संप्रभुता निरपेक्ष या पूर्ण (Absolute) शक्ति है। इसका अर्थ है कि यह सभी प्रकार के वैधानिक, प्रथागत आदि प्रतिबंधों से मुक्त है। कोई भी सर्वोच्च शासक न तो पहले के शासकों के और न ही अपने ही पूर्व आदेशों या कानूनों से बंधा होता है। इस विचार के माध्यम से बोदाँ एक ओर प्राकृतिक या धार्मिक कानून की बाधा खत्म करना चाहता था तो दूसरी ओर सामंतों की शक्ति को। अतः संप्रभुता सभी कानूनों और प्रतिबंधों से मुक्त (Legibus Soluta) है।
4. संप्रभुता शाश्वत भी है, क्योंकि राज्य की एकता और स्थायित्व की यही एक विशेषता है।
5. कोकर जैसे विद्वानों ने कहा है कि बोदाँ के अनुसार संप्रभुता जनता में निहित होती है। बोदाँ ने एक-दो प्रसंगों में ऐसा विचार दिया है कि संप्रभुता अंततः जनता में निहित होती है क्योंकि राजा की संप्रभुता तभी तक है जब तक वह जनता के विरुद्ध जाकर उसे क्रांति के लिये प्रेरित न कर दे। अतः व्यावहारिक रूप से राजा निरपेक्ष संप्रभुता रखता है, किंतु सैद्धांतिक रूप से संप्रभुता अंततः जनता में ही निहित रहती है।

संप्रभुता की सीमाएँ

संप्रभुता की पूर्णसत्तावादी तथा निरपेक्ष (Absolutist) परिभाषा देने के बाद भी व्यवहारतः बोदाँ की धारणा संप्रभुता पर नियंत्रणों की व्यवस्था करती है। बोदाँ के अनुसार, संप्रभुता पर निम्नलिखित प्रतिबंध होते हैं-

1. पहली सीमा यह है कि संप्रभुता प्रकृति के विधानों और भगवान के नियमों से बंधी है। वह कहता है कि “कानून की बाध्यकारी शक्ति से संप्रभुता के स्वतंत्र होने के संबंध में जो कहा गया है, उसका ईश्वरीय या प्राकृतिक कानून से कोई संबंध नहीं है।” बोदाँ के अनुसार, यदि राजा को ईश्वरीय व प्राकृतिक नियमों के अधीन न माना जाए तो इसका अनिष्टकारी परिणाम यह होता है कि “हमें चोर-डाकुओं के संगठन के सरदार को भी संप्रभु मानना होगा, क्योंकि उसमें उनके सरदार की इच्छा ही कानून होती है और वह किसी बाह्य शक्ति के आधिपत्य में नहीं होती।”

इसके बाद भी बोदों ने प्राकृतिक विधि को चर्च के स्थान पर मानवीय बुद्धि पर निर्भर माना है ताकि चर्च का दबाव कम हो सके। उसके अनुसार “प्राकृतिक नियम बुद्धि द्वारा ज्ञात किये जाने वाले, मानवों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करने वाले नैतिक नियम हैं, वे भगवान के आदेश हैं। मनुष्य आदम के पतन के बाद दुष्ट प्रवृत्ति का हो गया, इसलिये इन नियमों का पालन नहीं करता है। अतः सर्वोच्च शक्तिमान राजा मनुष्यों को इन ईश्वरीय नियमों का पालन कराने के लिये बाध्य करता है।” उत्तम राजा वही है जो “प्रकृति के नियमों का पालन करता है।” वह यहाँ तक कहता है कि “वही व्यक्ति प्रभु है, जो अमर भगवान के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति को अपने से ऊँचा नहीं मानता।”

2. संप्रभुता पर दूसरी सीमा यह है कि वह राज्य के मौलिक कानूनों (Leges Imperii) से प्रतिबंधित है। प्रत्येक देश के कुछ मौलिक विधान होते हैं जिन्हें कोई भी राजा नहीं तोड़ सकता है। उदाहरण के लिये, फ्रांस की एक पुरानी जाति ‘सेलियम फ्रेंको’ के प्रसिद्ध सैलिक कानून (Salic Law) के अनुसार स्त्रियाँ भू-संपत्ति की मालिक नहीं हो सकती थीं और भाई न होने पर भी राजगद्दी पर नहीं बैठ सकती थीं। इस आधार पर बोदों ने साफ कहा कि कोई संप्रभु इस कानून का उल्लंघन करके अपनी पुत्री को अपना उत्तराधिकारी नहीं बना सकता है। इसी प्रकार, उत्तराधिकार के नियमों में कोई भी परिवर्तन करना या राज्य के भू-भाग में से कुछ हिस्सा खंडित कर देना- ये सभी राजा के अधिकार तंत्र से बाहर हैं।
3. संप्रभुता की तीसरी सीमा यह है कि यह व्यक्तिगत संपत्ति को नियंत्रित नहीं कर सकती। बोदों का कहना है कि प्रभुसत्ता राजनीतिक क्षेत्र से संबंधित है। इस क्षेत्र में राजा को पूर्ण अधिकार है किंतु संपत्ति के क्षेत्र में उसे ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। बोदों संपत्ति को इतना पवित्र समझता है कि राजा स्वामी की सहमति के बिना संपत्ति को स्पर्श तक नहीं कर सकता। उसने यह भी निश्चित किया कि राजा को अपनी इच्छा मात्र से प्रजा पर कोई कर लगाने का अधिकार नहीं है। जनता के तीनों वर्गों के प्रतिनिधियों की सभा (Estates General) के परामर्श और स्वीकृति से ही वह कोई कर लगा सकता है।
4. संप्रभुता पर चौथी सीमा पारिवारिक जीवन से संबंधित है। बोदों मानता है कि व्यक्ति के लिये अपने पारिवारिक जीवन की वैयक्तिकता आवश्यक ही नहीं, पवित्र भी है। अतः वह नहीं चाहता कि संप्रभु किसी व्यक्ति के पारिवारिक जीवन में हस्तक्षेप करे।
5. संप्रभुता की अंतिम सीमा यह है कि राजा को अनावश्यक रूप से विधि-व्यवस्था से छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। संप्रभु को ऐसे कानून नहीं बनाने चाहियें जो अस्वीकार्य होने के कारण जनता द्वारा पालन न किये जाएँ; और न ही प्रचलित विधि व्यवस्था में अनावश्यक हस्तक्षेप कर अव्यवस्था उत्पन्न करनी चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो जनसामान्य को अपना विरोधी बना लेगा और विद्रोह को आमंत्रित करेगा। अतः “विवेकपूर्ण प्रयोग संप्रभुता के असीमित प्रयोग की सीमा है।”

असंगतियाँ व अंतर्विरोध

बोदों के संप्रभुता के सिद्धांत में कई असंगतियाँ (Inconsistencies) हैं जो इस प्रकार हैं-

1. बोदों ने एक ओर संप्रभुता की व्याख्या निरपेक्ष संप्रभुता (Absolute Sovereignty) के रूप में की है जबकि दूसरी ओर मध्यकाल से चली आ रही धार्मिक, ईश्वरीय और प्राकृतिक कानूनों (Divine And Natural Laws) की मान्यता को स्वीकार कर लिया है। मैकियावली ने धर्म और नैतिकता के विचार को राजनीति के क्षेत्र से पूर्णतः तिलांजलि दे दी थी, किंतु बोदों ऐसा नहीं कर सका। वह धार्मिक कट्टरता को रोकना भी चाहता था, पर धर्म से प्रभावित भी हुआ।
2. दूसरी बड़ी असंगति यह है कि पूर्ण संप्रभु के असीम अधिकार को मानते हुए भी उसने राज्य के मौलिक कानूनों या सामुदायिक विधि (Leges Impiree) की सीमा को आरोपित कर दिया।

3. तीसरी असंगति संपत्ति के संबंध में है। एक ओर वह संप्रभु को निरपेक्ष (Absolute) मानता है, दूसरी ओर वह किसी की संपत्ति को छू भी नहीं सकता है। यहाँ एक महत्वपूर्ण अंतर्विरोध कराधान के संबंध में है। एक ओर बोदों कहता है कि राजा बिना प्रतिनिधि सभा की सहमति के कोई कर आरोपित नहीं कर सकता, जबकि दूसरी ओर वह कहता है कि प्रतिनिधि सभा राजा को सुझाव देने का ही अधिकार रखती है; और यह अधिकार भी प्रतिनिधि सभा को संप्रभु राजा ही प्रदान करता है।
4. चौथी असंगति परिवार के प्रधान और संप्रभु के संबंध में है। बोदों एक ओर मानता है कि राजा निरपेक्ष शक्ति रखता है किंतु दूसरी ओर कहता है कि परिवार की संस्था राज्य के अधीन नहीं है। इस असंगति पर सेबाइन ने यहाँ तक कहा है कि “बोदों एक के स्थान पर दो संप्रभुओं की बात करता है—एक तरफ परिवार के अकाट्य अधिकार; और दूसरी तरफ संप्रभु की असीम विधायी शक्ति।”

अंतर्विरोधों की व्याख्या

वस्तुतः बोदों के सामने दो उद्देश्य थे जो परिस्थितियों की जटिलता के कारण आपस में उलझ गए थे। एक ओर वह संप्रभु की शक्तियों को बढ़ाना चाहता था ताकि राजा समाज की तत्कालीन जटिलताओं में समन्वय की शक्ति के रूप में काम कर सके। दूसरी ओर वह पक्का संविधानवादी भी था और देश की प्राचीन परंपराओं तथा विधियों की रक्षा करना चाहता था। वह तय नहीं कर पा रहा था कि प्रभुसत्ता को इन दोनों में से कहाँ नियोजित करे?

राज्य के मौलिक कानूनों के मूल में संविधानवाद का यह विचार निहित था कि राजा भी राज्य के एक अंग के रूप में अस्तित्व रखता है जबकि पूर्णसत्तावादी संप्रभुता के अंतर्गत राजा राज्य का पर्यायवाची हो जाता है। यदि राजा ही राज्य है, तो कोई ऐसी विधि नहीं हो सकती जिसे वह न बदल सके; पर यदि राजा राज्य की सांविधानिक संरचना का एक अंग मात्र है, तो विधियाँ राजा से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं। बोदों निश्चित सिद्धांत तभी दे सकता था जब यह तय कर लेता कि इन दोनों में से आधारभूत महत्व की संकल्पना कौन सी है, पर उसके समय की जटिलताओं ने उसे निश्चित होने का अवसर ही नहीं दिया।

बोदों का संप्रभुता का सिद्धांत एक ओर संविधानवाद (Constitutionalism) के साथ जुड़ा हुआ दिखाई देता है तो दूसरी ओर पूर्णसत्तावाद (Absolutism) के साथ। यह अंतर्विरोध वास्तव में तत्कालीन स्थितियों का परिणाम था।

‘रिपब्लिक’ के अंतिम अध्याय में बोदों ने विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों की चर्चा करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि वंशानुगत राजतंत्र ही सबसे बेहतर व्यवस्था है क्योंकि इसमें झगड़े सबसे कम होते हैं और स्थायित्व सबसे अधिक होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि बोदों ने पूर्ण राजतंत्र (Absolute Monarchy) का समर्थन तो किया है, पर निरंकुशवादी या स्वेच्छाचारी शासन (Autocracy) का समर्थन नहीं किया है। बोदों के सामने समस्या यह थी कि उसे एक ओर धार्मिक या प्राकृतिक कानूनों की मनमानी व्याख्या करने वाले पोप की सत्ता से जूझना था तो दूसरी ओर सामंतों, सरदारों की उस व्यवस्था से जूझना था जो सत्ता को सदा अस्थिर बनाए रखती थी। इसके लिये जरूरी था कि संप्रभु की सत्ता पूर्णतः सर्वोच्च, एकदम स्थिर व निश्चित हो। ये सभी संभावनाएँ एक साथ तभी पूरी हो सकती थीं जबकि बोदों आनुवंशिक आधार पर राजतंत्र का समर्थन करता। राजतंत्र ने शक्ति को राजा में अवस्थित कर दिया और आनुवंशिक आधार ने इस शक्ति को अस्थिरता से दूर कर दिया। इससे शक्ति के फिर से गलत हाथों में पहुँच जाने या संघर्ष का मुद्दा बन जाने के अवसर समाप्त हो गए।

पूर्ण प्रभुसत्ता का विचार संविधानवाद का विरोधी विचार है। बोदों मूलतः संविधानवाद पर विश्वास करता था। उसका मानना था कि प्रत्येक राज्य का शासन कुछ विधियों के नियंत्रण में चलना चाहिये ताकि संप्रभु के गलत होने पर भी राज्य का विनाश न हो। बोदों के समय में संविधानवाद का अर्थ यही हो सकता था कि समाज के सामाजिक, प्राकृतिक, धार्मिक और पारिवारिक विधानों का स्थायित्व सुरक्षित रहे। यही कारण है कि

बोदाँ ने संप्रभु को सामंतों और पोप आदि के संदर्भ में पूर्ण सत्ता प्रदान करते हुए भी सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन के परिप्रेक्ष्य में इतने व्यापक अधिकार नहीं दिये। उसकी दृष्टि में पूर्ण प्रभुसत्ता का मूल कार्य यही था कि वह सामंजस्य (Conciliation) के प्रामाणिक स्रोत की भूमिका निभा सके। यही कारण है कि बोदाँ ने अल्पसंख्यक वर्गों के अधिकारों की सुरक्षा का विषय भी उठाया और कराधान के अनौचित्य पर सांविधानिक नियंत्रण स्थापित कर दिये।

निष्कर्ष

स्पष्ट है कि बोदाँ ने निरपेक्ष प्रभुसत्ता (Absolute Sovereignty) और राजतंत्र (Monarchy) का जो समर्थन किया, उसे तत्कालीन स्थितियों के आलोक में न्यायोचित कहा जा सकता है। संविधानवाद (Constitutionalism) के अपने मूल विश्वासों को उसने पूर्ण प्रभुसत्ता के विचार के साथ भी बनाए रखा। इसीलिये पूर्ण राजतंत्र (Absolute Monarchy) का समर्थक होकर भी वह स्वेच्छाचारी शासन (Autocracy) का समर्थक नहीं बना।

ऑस्टिन का संप्रभुता का एकलवादी सिद्धांत (*Austin's Monistic Theory of Sovereignty*)

पृष्ठभूमि

संप्रभुता के सिद्धांत की शुरुआत 16वीं सदी में बोदाँ के चिंतन से हुई थी। यह वह समय था जब पोप तथा सामंतों-सरदारों की सत्ता ने समाज में अस्थिर और उलझे हुए वातावरण की सृष्टि कर दी थी। इस समय संप्रभुता की धारणा के विकास के साथ-साथ 'राष्ट्रीय राजतंत्र' के उदय की स्थितियों का निर्माण हो रहा था। 16वीं से 19वीं शताब्दी तक संप्रभुता का विचार विकसित होता रहा किंतु धर्म के प्रतिनिधियों तथा रूढ़िवादी चिंतकों ने बार-बार प्राकृतिक विधि (Natural Law) की उच्चता को स्थापित करने का प्रयास किया। तत्कालीन उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारक चाहते थे कि समय के साथ इंग्लैंड की लोक-विधि (Common Law) में वांछनीय परिवर्तन होते रहने चाहियें किंतु रूढ़िवादी (Conservatives) मूल परंपराओं, प्राकृतिक नियमों आदि की बात उठाकर बार-बार विरोध करते थे। उनका तर्क था कि लोक-विधि मानव के प्राकृतिक विवेक की अभिव्यक्ति है जो परंपराओं से हमें मिलती है। ऑस्टिन ने प्राकृतिक विधि (Natural Law) तथा लोकविधि (Common Law) की इन चुनौतियों से जूझने के लिये ही 'सकारात्मक विधि' (Positive Law) की धारणा प्रस्तुत की जो संप्रभु को वास्तविक रूप से सर्वशक्तिमान बनाने के एक प्रयास के रूप में सामने आई थी।

दरअसल, 16वीं से 19वीं सदी तक के विचारकों की मूल समस्या राज्य को धर्म, परंपराओं तथा सामंतों-सरदारों के प्रभाव से मुक्त कराने की थी। यही कारण है कि इस काल में बोदाँ (16वीं सदी), ह्यूगो ग्रोशियस (17वीं सदी), टॉमस हॉब्स (17वीं सदी), रूसो (18वीं सदी) तथा जॉन ऑस्टिन (19वीं सदी) ने जो सिद्धांत प्रस्तुत किये, उनमें राजा को प्रायः सभी प्रभावों तथा संस्थाओं से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है। इन विचारकों ने माना कि राज्य समाज की बुनियादी संस्था है। यह संपूर्ण समाज के लिये कानून बनाने वाली एकमात्र संस्था है। विभिन्न व्यक्तियों के हित कहीं आपस में मिलते हैं तो कहीं-कहीं टकराते भी हैं, अतः वे राज्य की छत्रछाया में ही पारस्परिक शांति के साथ जी सकते हैं। इस विचार का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन विचारकों ने राज्य की सत्ता को असीम एवं सर्वोच्च माना। इस तरह के सिद्धांतों को संप्रभुता का एकलवादी सिद्धांत (Monistic Theory) कहा गया। ऑस्टिन का सिद्धांत एकलवादी सिद्धांतों में श्रेष्ठतम माना जाता है।

ऑस्टिन की धारणा

जॉन ऑस्टिन ने अपनी प्रसिद्ध रचनाओं "The Province of Jurisprudence Determined" तथा "Lectures on Jurisprudence or the Philosophy of Positive Law" में संप्रभुता तथा अन्य विचारों की चर्चा की है। इन विचारों के कारण दार्शनिक रूप से उसे 'कानूनी प्रत्यक्षवाद' (Legal Positivism) का जनक भी कहा जाता है।

सबसे पहले, ऑस्टिन विधि की परिभाषा देता है। उसकी स्पष्ट राय है कि "विधि एक ऐसी आज्ञा या समादेश (Command) है जिसको न मानने पर दंड का भागी होना पड़ता है।" यह आज्ञा एक प्रभु (Superior) द्वारा अपने अधीनस्थ (Inferior) को दी जाती है। प्रभुता (Superiority) का तात्पर्य है- दूसरों से कार्य करवा पाने की शक्ति, जो प्रायः दंड का भय दिखाने पर आश्रित होती है। उदाहरण के लिये, ईश्वर सभी मनुष्यों का प्रभु है, पिता बच्चों का तथा मालिक दास का प्रभु है।

ऑस्टिन के अनुसार, विधि दो प्रकार की हो सकती है- ईश्वरीय विधान तथा मानवीय विधान। मानवीय विधान को ऑस्टिन पुनः दो भागों में विभाजित करता है- 'विधि उचित अर्थ में' (Law properly so-called) तथा सामाजिक नैतिकता (Positive Morality)। इसके बाद ऑस्टिन स्पष्टतः कहता है कि ईश्वरीय विधान तथा सामाजिक नैतिकता वास्तविक अर्थ में विधि नहीं हैं। ईश्वर के कानून इसलिये वास्तविक विधि नहीं हैं क्योंकि उनकी प्रामाणिकता कानूनी नहीं, धार्मिक होती है। परंपराएँ किसी समर्थ संस्था के आदेशों के रूप में नहीं होतीं, इसलिये वे कानून नहीं हैं। परंपरागत व्यवहार विधि तभी बन सकते हैं जबकि उन्हें संप्रभु द्वारा मान्यता मिल जाए।

इस विश्लेषण के आधार पर ऑस्टिन संप्रभुता की परिभाषा का निर्धारण करता है। वह कहता है- "यदि किसी समाज का अधिकांश भाग किसी निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञाओं का पालन आदतन करता हो तथा वह व्यक्ति किसी अन्य प्रधान की आज्ञा मानने का अभ्यस्त न हो, तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति संप्रभु है तथा वह समाज उस प्रधान के सहित एक स्वतंत्र राज्य है।"

इस परिभाषा में चार बातें ध्यान देने योग्य हैं-

1. **निश्चित व्यक्ति** ही संप्रभु हो सकता है, ऐसा ऑस्टिन का मानना है। इसका अर्थ यह है कि यह मानवीय शक्ति है। इससे पूर्व अनेक विचारकों ने संप्रभुता को ईश्वर, बुद्धि, न्याय, सामाजिक इच्छा (रूसो) आदि में निहित माना था, पर ऑस्टिन ने स्पष्टतः कहा कि संप्रभुता एक 'निश्चित मानवीय शक्ति' है। चूँकि संप्रभुता एक निश्चित मानवीय सत्ता है, इसलिये यह कहना भी गलत होगा कि यह सारी जनता में बसती है।
2. ऑस्टिन के अनुसार, '**समाज का अधिकांश भाग**' संप्रभु का आज्ञा का पालन करता है। इसका तात्पर्य है कि यदि कुछ व्यक्ति संप्रभु के आदेशों का पालन करें, न तो उससे संप्रभुता पर कोई अंतर नहीं पड़ता है। इसके विपरीत, यदि बहुसंख्यक लोग उसकी आज्ञा का पालन न करें तो मानना पड़ेगा कि वहाँ संप्रभुता नहीं है।
3. ऑस्टिन के अनुसार, संप्रभु के आदेशों का पालन 'आदतन' (Habitually) होना चाहिये। आदतन का अर्थ है- 'हमेशा' और 'बिना सोचे-विचारे'। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक आदेश का पालन करने से पूर्व सोचने लगे या कुछ आदेशों का पालन करे और कुछ का न करे; तो संप्रभुता का कोई अर्थ नहीं है। आज्ञापालन स्थायी और आदतन ही होना चाहिये।
4. इन तीनों सकारात्मक लक्षणों के साथ संप्रभुता का एक महत्वपूर्ण नकारात्मक लक्षण भी है। यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसी के आधार पर ऑस्टिन ने बेंथम की आलोचना की है। ऑस्टिन का विश्लेषण प्रायः बेंथम की मान्यताओं पर आधारित है, पर वह स्पष्टतः कहता है कि बेंथम संप्रभुता के नकारात्मक

पक्ष को नहीं देख पाया; अतएव उसकी परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। नकारात्मक लक्षण या चिह्न यह है कि 'वह संप्रभु अन्य किसी प्रभु के आदेशों के पालन का आदी नहीं है।' ऑस्टिन के अनुसार, यदि यह लक्षण अनुपस्थित हो तो प्रभु को संप्रभु नहीं माना जा सकता और समाज को स्वतंत्र राज्य नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिये, एक वाइसराय को संप्रभु नहीं कहा जा सकता है जबकि शासित प्रदेश के बहुसंख्यक निवासी उसके आदेशों का आदतन पालन करते हैं। इसका कारण यह है कि वाइसराय स्वयं एक अन्य प्रभु की अधीनता में है जिसके आदेशों का वह स्थायी रूप से पालन करता है। वस्तुतः यही प्रभु उस प्रदेश का भी वास्तविक संप्रभु है।

ऑस्टिन के उपरोक्त विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं-

1. जिस समाज में कोई निश्चित मानवीय प्रभु न हो, वह 'राज्य' नहीं कहलाया जा सकता है।
2. प्रत्येक राज्य के लिये संप्रभुता का होना आवश्यक है क्योंकि संप्रभुता के बिना कानून संभव नहीं है और कानून के बिना राज्य चल नहीं सकता है।
3. बोदौ व हॉब्स की भांति ऑस्टिन भी मानता है कि 'कानून संप्रभु की आज्ञा है'। परंपरागत व्यवहार तभी कानून बनता है जब संप्रभु उसे अनुमति दे देता है। संप्रभु की आज्ञाएँ दो प्रकार की होती हैं- व्यक्त एवं अव्यक्त (Explicit And Implicit)। यदि कोई परंपरागत व्यवहार चल रहा है तो इसलिये कि संप्रभु की अव्यक्त आज्ञा उसके पक्ष में है।
4. संप्रभुता निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों के संगठन में निवास करती है।
5. संप्रभुता अमर्यादित (Unrestricted) सत्ता है क्योंकि यह कानून का स्रोत है। यहाँ ध्यातव्य है कि ऑस्टिन ने यह बात इस अर्थ में कही है कि संप्रभुता 'वैधानिक रूप' में अमर्यादित है। सर्वोच्चता या अमर्यादित होने में अंतर्निहित है कि यदि ईश्वर के कानून या प्रकृति के कानून या सामाजिक परंपराएँ संप्रभु के आदेशों अर्थात् 'सकारात्मक विधि' के विरोध में हों तो भी सकारात्मक विधि को ही मान्यता मिलनी चाहिये।
6. संप्रभुता अविभाज्य (Indivisible) सत्ता है।
7. संप्रभुता की अंतिम विशेषता इसकी अदेयता (Inalienability) है। यदि संप्रभु यह शक्ति किसी और को दे देगा तो वह खुद संप्रभु नहीं रह जाएगा।

आलोचना

1. सर हेनरी मेन के अनुसार ऑस्टिन यह नहीं समझ पाया कि वैधानिक संस्थाओं के पास चाहे जितनी भी संप्रभुता हो, सामान्य व्यक्तियों के जीवन का अधिकांश हिस्सा सामाजिक परंपराओं से निर्धारित होता है।
2. ऑस्टिन ने संप्रभुता को अविभाज्य बताया था। किंतु, यह बात इंग्लैंड के संसदीय लोकतंत्र में चाहे ठीक हो, अमेरिका जैसे संघात्मक राज्यों पर लागू नहीं होती। वहाँ संप्रभुता केंद्र व राज्यों में तो विभाजित है ही; साथ ही संसद, कार्यपालिका और न्यायपालिका में भी शक्तियों का विभाजन कुछ इस प्रकार से है कि किसी को संप्रभु नहीं माना जा सकता।
3. ऑस्टिन का मानना था कि संप्रभु की शक्ति अमर्यादित होती है। लास्की का दावा है कि कोई भी संप्रभु उतने ही आदेश दे सकता है, जितना उसे लगता है कि समाज मान लेगा। उसने चुनौती दी कि इंग्लैंड की संसद यदि सर्वोच्च है तो क्या वह रोमन कैथोलिक नागरिकों को निर्वाचन के अधिकार से वंचित कर सकती है?
4. सिजविक तथा गार्नर का आक्षेप है कि ऑस्टिन ने सिर्फ वैधानिक संप्रभुता पर चर्चा की है, राजनीतिक संप्रभुता पर ध्यान नहीं दिया। गार्नर ने यहाँ तक कहा कि ऑस्टिन जैसे वकील के लिये यह भूल करना स्वाभाविक ही था।

5. टी.एच. ग्रीन का आक्षेप है कि सामान्य व्यक्ति कानून का पालन दंड के भय से नहीं बल्कि 'प्रबुद्ध स्वहित' को पहचानने के कारण करता है। ऑस्टिन ने संपूर्ण आज्ञा पालन को दंड पर आधारित बताकर मानवीय गरिमा का हनन किया है।
6. बहुलवादी चिंतकों जैसे लास्की और मैकाइवर का दावा है कि समाज की मूल प्रकृति संघात्मक है क्योंकि समाज की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति भिन्न-भिन्न संस्थाएँ करती हैं। चूँकि राज्य समाज के सभी कार्य नहीं करता, इसलिये राज्य को सारी शक्ति देना गलत है।
7. आलोचकों के अनुसार ऑस्टिन के संप्रभुता विचार को स्वीकार करने पर तानाशाही के उदय का खतरा उत्पन्न हो सकता है।
8. अन्तर्राष्ट्रवाद के दौर में राष्ट्रीय संप्रभुता का विचार निरर्थक हो गया है। लास्की ने कहा भी है कि विश्वयुद्धों और खतरनाक हथियारों की दौड़ में ज़रूरी हो गया है कि राष्ट्रों के ऊपर भी किसी अधिकरण की स्थापना हो।

लास्की का संप्रभुता का बहुलवादी सिद्धांत (Laski's Pluralistic Theory of Sovereignty)

पृष्ठभूमि

19वीं शताब्दी में धीरे-धीरे यह विचार पनपने लगा कि प्रभुसत्ता संपन्न राज्य की शक्तियाँ अत्यंत विस्तृत और असीम होती हैं। दार्शनिक दृष्टि से ऑस्टिन के साथ-साथ हीगेल, नीत्शे तथा बर्नहार्डी जैसे विचारक असीमित शक्ति से संपन्न राज्य की वकालत कर चुके थे। हीगेल ने तो यहाँ तक कहा था कि 'राज्य पृथ्वी पर भगवान का रूप है।' 19वीं शताब्दी के अंत में व्यक्ति के अस्तित्व को राज्य की तुलना में गौण माना जाने लगा। 20वीं शताब्दी के आरंभ में तीन-चार ऐसी ही जटिल स्थितियाँ पैदा हुईं—एक ओर विश्वयुद्ध के दौर में राज्य व्यक्ति से उसके प्राण तक मांगने लगा; फिर, 1917 की रूसी क्रांति के बाद समाजवादी राज्य ने तानाशाही पर बल देकर सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर नियंत्रण स्थापित कर लिया; इसके अतिरिक्त फासीवाद, नाजीवाद के आरंभ ने व्यक्ति की संपूर्ण स्वतंत्रता छीनने का प्रयास किया तथा सर्वसत्तावादी (Totalitarian) राज्य की धारणा पर बल दिया। फिर, कुछ ऐसी नई अवस्थाएँ या स्थितियाँ भी विकसित होने लगीं जिनमें संप्रभुता का एकलवादी सिद्धांत अपर्याप्त साबित होने लगा, जैसे अमेरिका आदि राज्यों में संघवाद का उदय; विश्वयुद्धोत्तर जगत में अंतर्राष्ट्रवाद (Internationalism) की उत्पत्ति इत्यादि।

कुल मिलाकर, 20वीं सदी के आरंभ तक आते-आते संप्रभुता का एक नया संप्रदाय खड़ा हो चुका था जिसके विचारों की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति लास्की के दर्शन में हुई। इस धारा के अन्य विचारक थे— फ्राँस के लियो द्यूगी (Leon Duguit), हॉलैंड के ह्यूगो क्रैब (Hugo Crabbe), इंग्लैंड के अर्नेस्ट बार्कर (E. Barker), ए.डी. लिंग्स (A.D. Lindsay) तथा अमेरिका के मैकाइवर (R.M. Maciver)। इस संप्रदाय को बहुलवाद (Pluralism) कहते हैं तथा इनकी संप्रभुता की धारणा 'बहुलवादी धारणा' कहलाती है।

ध्यातव्य है कि बहुलवाद अराजकतावाद (Anarchism) की तरह राज्य का उन्मूलन नहीं करना चाहता; वह मात्र इतना चाहता है कि राज्य का सर्वाधिकारवादी रूप समाप्त होना चाहिये और वह एक सामाजिक संस्था के रूप में कार्य करे।

लास्की की धारणा

हेरल्ड जे. लास्की (1893-1950) ने अपनी अनेक कृतियों में संप्रभुता के विचार की चर्चा की है, यद्यपि इस दृष्टि से उनकी 1925 ई. में लिखी गई पुस्तक 'A Grammar of Politics' सबसे महत्वपूर्ण है। अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं— 'An Introduction of Politics', 'The foundation of Sovereignty', 'The State In Theory and In Practice', 'Authority In The Modern State'।

लास्की के विचारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-पहले भाग में वे विचार हैं जो ऑस्टिन के एकलवादी सिद्धांत का खंडन करते हैं, जबकि दूसरे भाग में वे विचार हैं जो संप्रभुता के लिये नया बहुलवादी सिद्धांत प्रस्तावित करते हैं।

ऑस्टिन के एकलवादी सिद्धांत के खिलाफ लास्की के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं-

1. प्रभुसत्ता का विचार 16वीं शताब्दी के धार्मिक संघर्ष की संतान है जिसका अब कोई महत्व नहीं है। बोदाँ तथा हॉब्स ने राज्य की प्रभुसत्ता का समर्थन इसलिये किया था कि चर्च का विरोध करने की सामर्थ्य किसी और संस्था में नहीं थी। ऐसी स्थिति में निरंकुश चर्च पर नियंत्रण करने के लिये निरंकुश प्रभुसत्ता का विचार उभरा। अतः निरंकुश प्रभुसत्ता का विचार एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति की पैदाइश है और चूँकि अब वे स्थितियाँ नहीं हैं, अब उस विचार की कोई आवश्यकता नहीं है।
2. लास्की का यह भी दावा है कि निरंकुश प्रभुसत्ता का विचार यथार्थ नहीं है। वस्तुतः कोई भी सत्ता न कभी निरंकुश रही है और न ही रह सकती है। वह ऑस्टिन के तर्क के आधार पर ब्रिटेन की संसद को ब्रिटेन का संप्रभु मानते हुए प्रश्न उठाता है कि क्या कोई भी संसद निरंकुश हो सकती है? निष्कर्षात्मक टिप्पणी करते हुए वह स्पष्ट कहता है- “कोई भी संसद रोमन कैथोलिक नागरिकों से मताधिकार नहीं छीन सकती अथवा ट्रेड यूनियनों के अस्तित्व को खत्म नहीं कर सकती।” अतः लास्की के अनुसार, निरंकुश प्रभुसत्ता मात्र विचार के स्तर पर अस्तित्व में रहती है, यथार्थतः इसका कोई अस्तित्व नहीं होता। इसी विचार के संदर्भ में लास्की ने सर हेनरी मेन के विश्लेषण को भी आधार बनाते हुए सिद्ध किया है कि रीति-रिवाज इत्यादि संप्रभुता को सीमित करते हैं।
3. लास्की के अनुसार राज्य तथा सरकार में अंतर होता है। राज्य की धारणा हम चाहे जितने भी आदर्श रूप में स्वीकार करें; वास्तविक रूप में राज्य की शक्ति का संचालन सरकार ही करती है जो कि साधारण मानवों से निर्मित होती है। अतः हम संपूर्ण शक्तियाँ कुछ मानवों के हाथों में छोड़ कर कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं?

प्रभुसत्ता के बहुलवादी सिद्धांत की स्थापना के लिये भी लास्की ने बहुत से तर्क दिये हैं, जो उसके सिद्धांत के सकारात्मक पक्ष की व्याख्या करते हैं। ये तर्क इस प्रकार हैं-

1. लास्की बहुलवाद के सामान्य विश्वास के अनुसार राज्य तथा समाज में भेद करते हैं। ग्रीक दार्शनिकों प्लेटो और अरस्तू तथा आदर्शवादी दार्शनिकों हीगेल व बोसांके इत्यादि ने राज्य और समाज को पर्यायवाची मानते हुए राज्य को असीमित शक्ति देने की वकालत की थी। इसके विरोध में लास्की का तर्क है कि राज्य को समाज के एक प्रमुख उपकरण के रूप में ही देखा जाना चाहिये। अतः राज्य समाज के उद्देश्यों में से मात्र एक उद्देश्य को पूर्ण करता है; और इसलिये वह सीमित है।
2. मानव जीवन के बहुत से पक्ष हैं जिन्हें पूरा करने के लिये विभिन्न सामाजिक समूह अस्तित्व में आते हैं। ये सभी समूह व संस्थाएँ मिलकर ही मानव जीवन को अर्थपूर्ण बनाते हैं। अतः किसी भी एक समूह या संस्था की सत्ता अंतिम नहीं हो सकती। ये समूह राज्य पर आश्रित भी नहीं हैं क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें से कई राज्य से पूर्व ही अस्तित्व में आ चुके थे। अतः हम ‘एक-विश्व’ में नहीं, ‘बहु-विश्व’ में रहते हैं। लास्की लिखता भी है- “इस प्रकार के समुदाय सदस्यों के लिये उतने ही प्राकृतिक हैं जितना कि राज्य। उनकी कमी, जो राज्य से उनका अंतर स्पष्ट करती हैं, केवल इतनी ही है कि वे अपने सदस्यों को शारीरिक दंड नहीं दे सकते।”
3. अंतर्राष्ट्रवाद की धारणा के आधार पर भी लास्की ने संप्रभुता के बहुलवादी विचार को प्रस्तावित किया है। इसके आधार पर वह असीमित प्रभुसत्ता के स्थान पर सीमित प्रभुसत्ता के विचार की स्थापना करता है। उसकी राय में, संप्रभुता का सिद्धांत मूलतः राष्ट्रवाद के अनुकूल था जबकि अब राष्ट्रवाद के खतरनाक

पक्ष सामने आने लगे हैं। यह वही समय था जब 'लीग ऑफ नेशंस' की स्थापना हुई थी। लास्की कहता है- "एक निर्माणात्मक सभ्यता में पृथक राज्यों की ऐतिहासिक दुर्घटना के स्थान पर विश्व की आपसी निर्भरता का वैज्ञानिक तथ्य अधिक महत्वपूर्ण है।.... अगर मनुष्य को बड़े समाज में रहना है तो सहयोग द्वारा आदान-प्रदान की आदत डालनी होगी।"

4. लास्की ने राजनीतिक क्षेत्र में नई उभरने वाली संघीय व्यवस्था के आधार पर भी बहुलवाद की स्थापना का प्रयास किया है। इस विचार के अनुसार, सत्ता राज्य की विविध इकाइयों में भी विभाजित हो सकती है। लास्की ने संघीय व्यवस्था को प्रशंसा की नज़रों से देखा क्योंकि यह संप्रभुता के क्षेत्रीय केंद्रीकरण का विरोध करती है।

कुल मिलाकर, लास्की ने तीन तरह से ऑस्टिन की एकलवादी संप्रभुता को सीमित कर दिया-

- (i) भीतरी भौगोलिक क्षेत्र में - राजनीतिक संघवाद के माध्यम से।
- (ii) बाहरी भौगोलिक क्षेत्र में - अंतर्राष्ट्रवाद के माध्यम से।
- (iii) भीतरी विषयगत क्षेत्र में - सामाजिक संघवाद के आधार पर।

आलोचना

बहुलवादी सिद्धांत की भी बहुत से आलोचनाएँ की गई हैं-

1. बहुलवाद एक सीमा के उपरांत अराजक सी स्थिति पैदा कर देता है। उदाहरण के लिये, जब विविध हित समूह अपने-अपने आधार पर व्यक्ति की निष्ठा का दावा करने लगते हैं और पारस्परिक संघर्ष में शक्ति का दुरुपयोग करने लगते हैं, तो उन्हें नियंत्रित करना कठिन हो जाता है। जैसे- चिकित्सकों के संघ की हड़ताल।
2. कुछ हित-समूह अन्य हित-समूहों की तुलना में अधिक संगठित एवं शक्तिशाली होते हैं। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र भी संगठित अन्याय की व्यवस्था में रूपांतरित होने लगता है। बहुलवादियों के पास इस समस्या का कोई जवाब नहीं है।
3. बहुलवादी यह नहीं सोच पाते कि समाज में न्याय और व्यवस्था बनाए रखने के लिये एकता और केंद्रीय सर्वोच्च शक्ति-ये दो तत्त्व एकदम अनिवार्य हैं। वे समाज की विविधता को तो देख पाते हैं, पर यह नहीं कि समाज की विविधता में एकता भी है।
4. लास्की के चिंतन का आर्थिक पक्ष काफी कमजोर है। वह राज्य और अर्थव्यवस्था को यथासंभव अलग करके आर्थिक संघों की स्वतंत्रता की मांग करता है, पर इस बात को नहीं सोच पाता कि वर्ग-विभाजित समाज में अर्थव्यवस्था की स्वतंत्रता केवल विषमतामूलक परिणाम पैदा कर सकती है। लास्की ने खुद 1934 ई. में अपनी पुस्तक 'A Grammar of Politics' के अगले संस्करण में इस कमी को स्वीकारा है। वह लिखता है- "मैं अब बहुलवाद की कमजोरी को स्पष्ट रूप से देख सकता हूँ। इसने राज्य की प्रकृति को वर्ग-संबंधों की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखा।.... यदि यह एक हकीकत है कि राज्य हर हालत में उत्पादन के साधनों का मालिकाना हक रखनेवाले वर्ग का हथियार है तो बहुलवाद का उद्देश्य वर्ग-विहीन समाज होना चाहिये।"
5. लास्की अंतर्राष्ट्रवाद को ज़रूरत से ज्यादा महत्व दे देता है। वह केवल कल्पना करता है कि विश्व सरकार की स्थिति आने वाली है, पर यह नहीं समझ पाता कि विश्व सरकार की धारणा भी राष्ट्रों के साथ ही अस्तित्व में रहेगी, न कि उनके अभाव में।
6. लास्की ने अपनी पुस्तक 'आज्ञापालन के खतरे' में सुझाव दिया है कि व्यक्ति को अपने अंतःकरण की आवाज़ के अनुसार ही निश्चित करना चाहिये कि वह संप्रभु की किस आज्ञा का पालन करेगा और किस आज्ञा का नहीं? आलोचकों की राय में यह मान्यता व्यावहारिक स्थितियों में अराजकता पैदा करने वाली है।

कौटिल्य का संप्रभुता सिद्धांत (Kautilya's Theory of Sovereignty)

कौटिल्य तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के विचारक हैं। उन्होंने संप्रभुता शब्द का प्रयोग तो नहीं किया है किंतु अपने ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' में जो राज्य का 'सप्तांग सिद्धांत' प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर उनके विचारों में संप्रभुता की धारणा देखी जा सकती है। प्रसिद्ध इतिहासकार अल्तेकर का दावा है कि कौटिल्य के संबंध में संप्रभुता की चर्चा करना उचित नहीं है जबकि पी.वी. काणे जैसे इतिहासकारों ने 'सप्तांग सिद्धांत' में प्रयुक्त 'स्वामी' शब्द को 'संप्रभु' का समानार्थक माना है।

कौटिल्य ने राजा या स्वामी को ही संप्रभु के रूप में देखा है। उससे पहले सप्तांग सिद्धांत 'मनु-संहिता' में प्रयुक्त किया जा चुका था, किंतु कौटिल्य का दृष्टिकोण कुछ अलग है। सप्तांग सिद्धांत के अनुसार राज्य सात अंगों से मिलकर बनता है, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य का शरीर कुछ अंगों से मिलकर बनता है। ये सात अंग इस प्रकार हैं—

1. स्वामी अर्थात् राजा — जो सिर के समान है।
2. अमात्य अर्थात् मंत्री — जो आँखों के समान है।
3. सुहृद् अर्थात् मित्र — जो कान के समान है।
4. कोष — जो मुख के समान है।
5. सेना — जो मस्तिष्क के समान है।
6. दुर्ग — जो बाँहों के समान है।
7. पुर अर्थात् जनपद — जो जाँघों के समान है।

कौटिल्य ने संप्रभुता की उत्पत्ति के लिये 'दैवीय सिद्धांत' (Divine Theory) को स्वीकार किया है। उसके अनुसार, राजसत्ता के उदय से पहले हर तरफ अव्यवस्था व अराजकता थी जिसमें मात्र 'मत्स्य न्याय' (Survival of the fittest) ही प्रचलित था। यह स्थिति लगभग वैसी ही है जैसी हॉब्स ने अपने ग्रंथ 'लेवियाथन' में 'प्राकृतिक स्थिति' के रूप में बताया है। जब प्रजा इस स्थिति से त्रस्त हो गई तो उसने सूर्य के पुत्र वैवस्वत मनु को राजा बनाया और उसे इंद्र व यम आदि देवताओं के समतुल्य महत्त्व दिया।

कौटिल्य ने राजा या संप्रभु को लगभग सारी शक्तियाँ प्रदान कर दी हैं जो पश्चिम के एकलवादी संप्रभुता (Monistic Sovereignty) के विचार से मिलती हुई विशेषता है। मनु ने राजा को धर्म के अधीन किया था किंतु कौटिल्य ने धर्म को भी इतना प्रभावी नहीं बनने दिया। इसी कारण उसे 'भारत का मैकियावली' भी कहा गया है व उसकी संप्रभुता की धारणा को लौकिक धारणा माना गया है, न कि धार्मिक धारणा।

कौटिल्य का संप्रभुता विचार पूर्णसत्तावाद (Absolutism) व सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) की विशेषताओं को धारण करता है। वह पूर्णसत्तावाद के निकट इसलिए है क्योंकि राजा की शक्ति पर किसी संस्था का नियंत्रण नहीं है। वह सर्वाधिकारवाद के निकट इसलिए है क्योंकि राजा की शक्ति मात्र राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक व आर्थिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में भी उसी की शक्ति सर्वोच्च है। उसे न सिर्फ शत्रुओं से राज्य की रक्षा करनी है बल्कि दैवीय आपदाओं से बचाव, धर्म का संरक्षण, पारिवारिक संबंधों की पवित्रता की व्यवस्था तथा विभिन्न व्यवसायों से संबंधित नियमों का निर्धारण भी करना है।

कौटिल्य ने प्रतीकात्मक रूप से संप्रभु को कुछ सीमाओं में बांधने का काम किया है। उसे बहुत सारे गुण व अर्हताएँ अर्जित करने की सलाह दी गई है, जैसे तर्कशास्त्र व दंड-नीति का अध्ययन, निर्भीक, धैर्यवान तथा धर्मात्मा होने का प्रयास इत्यादि। इसी प्रकार कुछ अवगुणों, जैसे शिकार, जुआ, मद्यपान, कठोर वचन, कठोर दंड आदि से बचने की सलाह भी दी गई है। इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट कहा गया है कि राजा अपने मंत्रियों

की सलाह को ध्यानपूर्वक सुने व उन्हें अभिव्यक्ति की पूरी स्वाधीनता दे। प्रजा को कष्ट न पहुँचे, यह सुनिश्चित करने के लिये कौटिल्य ने कई संकेत किये हैं, जैसे, यह कथन कि 'प्रजा का प्रकोप सबसे कठिन प्रकोप है' इत्यादि।

समग्रतः कौटिल्य का संप्रभुता सिद्धांत तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय एकता की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए तथा धर्म के अनुचित दबावों को दरकिनार करते हुए कौटिल्य ने यह धारणा प्रस्तुत की जिसके कुछ अंश आज तक राजनीतिक प्रणाली में महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

प्रश्न: संप्रभुता की धारणा एक निर्जीव धारणा बन चुकी है। कथन का मूल्यांकन करें।

राजनीति-दर्शन के इतिहास में जितना उतार-चढ़ाव संप्रभुता के संप्रत्यय ने देखा है, उतना संभवतः किसी और में नहीं। 15वीं सदी तक रोमन कानून में यह धारणा अंतर्निहित चाहे रही हो किंतु एक संप्रत्यय के रूप में विकसित नहीं हुई थी। बोदाँ ने 16वीं सदी में राज्य को निरपेक्ष संप्रभुता देने की बात की और माना गया कि लगभग यहीं से राजनीति-दर्शन आधुनिक दौर में शामिल हुआ। फिर ग्रोशियस, हॉब्स, रूसो एवं बेंथम से होते हुए यह संप्रत्यय ऑस्टिन के दर्शन में अपने दृढ़तम रूप में सामने आया जहाँ राष्ट्र राज्य अपने क्षेत्र में इसी संप्रभुता के कारण निर्विवादतः निरपेक्ष शक्ति बन गया। परंतु 20वीं सदी के आरंभ में अचानक दुनिया में ऐसे परिवर्तन हुए कि यह संप्रत्यय एकाएक अपने महत्व को खोने लगा और प्रसिद्ध बहुलवादी दार्शनिक लास्की ने तो यहाँ तक कह दिया कि "संप्रभुता की धारणा को राजनीति-दर्शन से निष्कासित कर देना चाहिये।"

प्रश्न यह उठता है कि ऐसे कौन से कारण हैं जिनसे राजनीति-दर्शन की इतनी महत्वपूर्ण धारणा अचानक मृतप्राय लगने लगी है? वास्तव में इसके अनेक कारण हैं जो 20वीं सदी के आरम्भिक काल में परिलक्षित होते हैं जिनकी हम क्रमशः समीक्षा कर सकते हैं—

20वीं सदी के आरंभ तक दर्शन के स्तर पर कई ऐसे सिद्धांत विकसित हुए जो व्यक्ति के महत्व को सीमित करते थे। ऑस्टिन संप्रभुता के विचार में यह कह चुका था कि 'संप्रभु का आदेश ही कानून है' तथा उसके ऊपर न तो ईश्वर है, न प्रकृति और न ही सामाजिक परंपराएँ। हीगेल जैसे प्रत्ययवादी विचारकों ने राज्य को ईश्वर की अभिव्यक्ति बताया था और उसके सामने व्यक्ति की कोई सत्ता स्वीकार नहीं की थी; यही मत नीत्सो तथा डार्विनवाद से प्रभावित कुछ अन्य दार्शनिकों का भी था। इस पूरे दौर में यह लगने लगा था कि जिस 'व्यक्ति' को मानववादी दर्शन ने साध्य के रूप में प्रतिष्ठित किया था, उसकी हैसियत राज्य के सामने कुछ भी नहीं है। फासीवाद, नाजीवाद में तो यहाँ तक कह दिया गया था कि व्यक्ति का जीवन राज्य की संपत्ति है। इस कारण इस काल में दर्शन में एक नई प्रवृत्ति शुरू हुई जिसमें 'व्यक्ति' को इस नई परतंत्रता से मुक्त कराने का प्रयास किया गया। राजनीति-दर्शन में यह काम एक तरफ लास्की तथा अन्य बहुलवादियों ने किया तो दूसरी तरफ सार्त्र एवं अन्य अस्तित्वादी दार्शनिकों ने।

ठीक इसी समय, विश्व में ऐसी कई स्थितियाँ बनी हुई थीं जिन्होंने इस मान्यता हेतु प्रोत्साहन का कार्य किया। राष्ट्र-राज्य की धारणा जो यूरोपीय प्रगति का आधार थी, वही अब विनाश का माध्यम बनने लगी थी। अपने-अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा हेतु और कभी-कभी नृजातीय आधार पर ये राष्ट्र परस्पर युद्धरत हुए और विश्व के इतिहास का सबसे खतरनाक युद्ध (प्रथम विश्वयुद्ध) इसी समय लड़ा गया। ऐसी स्थिति में महसूस किया गया कि यदि राष्ट्र-राज्य कोई भी निर्णय लेने हेतु सम्प्रभु है तो इसका प्रभाव केवल उस राष्ट्र तक सीमित नहीं होगा बल्कि समूचा विश्व उससे प्रभावित होगा। इसीलिये 'लीग ऑफ नेशन्स' जैसी संस्था बनाई गई ताकि इस आक्रामक संप्रभुता को रोका जा सके परंतु यह प्रयास सफल नहीं रहा और उसका परिणाम अंततः द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में सामने आया।

हमारे वर्तमान में यह समस्या विश्वयुद्धों के समय की तुलना में और अधिक गहरी हो चुकी है। हमारे सामने ऐसी कई समस्याएँ हैं जिनको संप्रभुता के आधार पर सुलझाया ही नहीं जा सकता, जैसे— वैश्विक आतंकवाद ऐसी ही एक समस्या है। यदि कोई आतंकवादी किसी देश पर हमला करके अपने देश में छिप

जाय तो संप्रभुता न्याय में बाधक हो जाती है। इसी प्रकार पर्यावरण संकट को देखें तो जो देश ग्लोबल वार्मिंग हेतु जिम्मेदार गैसों का अधिक उत्सर्जन कर रहे हैं, उनके कारण कई अन्य देशों के अस्तित्व पर खतरा है। आज नाभिकीय हथियारों के अस्तित्व ने यह ज़रूरी कर दिया है कि कोई भी राष्ट्र किसी भी हद तक संप्रभुता के प्रयोग की शक्ति धारण न कर सके।

आज के समय में वस्तुतः संप्रभुता अवांछनीय के साथ-साथ असंभव भी हो चुकी है। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी राष्ट्र अपनी सीमाओं के भीतर सारे निर्णय खुद ले ही नहीं सकता। उदाहरण के लिये, कई देशों के खुफिया उपग्रह लगातार अंतरिक्ष में हैं, इसलिये हम अपनी गोपनीयता का उल्लंघन चाहकर भी बहुत कम ही रोक पाते हैं। फिर, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के विकास ने विश्व को भूमंडलीय ग्राम बना दिया है और दुनिया की दृष्टि हर देश पर इतनी अधिक है कि उससे तटस्थ हुआ ही नहीं जा सकता। पहले शीतयुद्ध के गुटों ने और अब आर्थिक गुटों ने अंतर्राष्ट्रवाद पर इतना बल दिया है कि राष्ट्रवाद का विचार ही शून्य होने लगा है। डब्ल्यू.टी.ओ. जैसी संस्थाएँ संप्रभुता के महत्त्व को सीमित करने के समकालीन उदाहरण हैं।

पर इन सब का यह अर्थ नहीं है कि संप्रभुता वास्तव में मृत हो चुकी है। वस्तुतः राजनीतिक-दर्शन के सिद्धांत कभी समाप्त नहीं होते बल्कि समय के साथ उनके स्वरूप में परिवर्तन आता रहता है। संप्रभुता में अंतर मात्र इतना आया है कि संप्रभुता राष्ट्र के भीतर प्रायः राजनीतिक पक्षों तक सीमित होकर रह गई है और अन्य पक्षों के नियंत्रण के स्थान पर नियमन करने लगी है। फिर, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी चाहे भूमंडलीय प्रभाव बढ़ गए हों, उसके बावजूद राष्ट्रीय संप्रभुता का उल्लंघन प्रायः तब तक नहीं किया जाता जब तक बहुत ठोस आधार विद्यमान न हों। अंतर्राष्ट्रीय दबाव ज़रूर बढ़े हैं किंतु उसके बावजूद अंतिम निर्णय करने की शक्ति या विभिन्न दबावों में उचित दबाव चुनने की शक्ति अभी भी राज्य के पास है।

कुल मिलाकर यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि संप्रभुता की धारणा आज के समय में निर्जीव हो गई है। तार्किक रूप से देखें तो परिवर्तन मात्र इतना हुआ है कि ऑस्टिन की एकलवादी संप्रभुता अब अस्तित्व में नहीं है और इसलिये नहीं है कि अब उसकी ज़रूरत नहीं है। वर्तमान में ऐसी संप्रभुता की आवश्यकता है जो राष्ट्र को दुनिया 'से' स्वतंत्र नहीं, दुनिया 'में' स्वतंत्र बनाती हो तथा जो वैश्विक नैतिकता के मानदंडों के अनुसार चलती हो। साथ ही, जो अपने भीतरी परिवेश में भी लोकतांत्रिक प्रकृति की हो। यह आदर्श कहीं न कहीं लास्की की संप्रभुता का कुछ विकसित रूप है जो आज की आवश्यकता भी है एवं वास्तविकता भी।

शासन के प्रकार (Forms of Government)

राजतंत्र (Monarchy)

सामान्यतः राजतंत्र का अर्थ 'एक व्यक्ति' के शासन से लिया जाता है जिसमें शासक जीवनपर्यन्त शासन करता है व संप्रभुता उसी में वास करती है। राजतंत्र में शासक की सत्ता वंशानुगत होती है तथा राजा का पुत्र-पुत्री ही उत्तराधिकारी बन सकता है।

इतिहास पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि राजतंत्र मानव इतिहास में शुरू से ही विद्यमान रहा है। मानवशास्त्र में जनजातियों के अध्ययन से भी राजतंत्र के प्राचीन स्वरूप की जानकारी प्राप्त होती है। मध्यकाल में राजतंत्र का स्वरूप कुछ कमजोर हुआ क्योंकि यूरोप में राजा का शक्ति पोप तथा सामंतों में विभाजित थी। पुनर्जागरण के पश्चात् अनेक दार्शनिकों ने सामंतों व पोप की शक्ति पर चोट की तथा राजतंत्र का समर्थन किया। इनमें मुख्यतः बोदाँ, हॉब्स, मैकियावली व ह्यूगो ग्रोशियस थे। बोदाँ ने राजा को पूर्णतः निरपेक्ष शक्ति प्रदान की तथा राजसत्ता के लिये वंशानुगत प्रथा का समर्थन किया। इन चिन्तकों के प्रभाव के कारण फ्राँस में लुई XIV, इंग्लैंड में हेनरी VIII तथा स्पेन में जॉर्ज पंचम जैसे शक्तिशाली राजा हुए। इन राजाओं के प्रभाव से 'नये राजतंत्र' (New Monarchy) का उदय हुआ। 16वीं-17वीं शताब्दी में राजतंत्र अपने चरमोत्कर्ष पर था जैसा कि लुई XIV के कथन से प्रकट होता है कि 'मैं ही राज्य हूँ'।

राजतंत्र के पतन का कारण (Causes of Decline of Monarchy)

पुनर्जागरण के पश्चात् धर्मसुधार आंदोलन ने पारलौकिक जीवन के स्थान पर इहलौकिक जीवन तथा वाणिज्य-व्यापार को बढ़ावा दिया। वाणिज्य-व्यापार के समर्थक उदारवादी दार्शनिकों ने व्यक्तिवाद पर बल दिया। इनमें जॉन लॉक, एडम स्मिथ व बेंथम ने राज्य को 'रात्रिक्षक' (Night Watchman) की संज्ञा दी। इनके अनुसार राज्य का कार्य सिर्फ यह देखना है कि कोई व्यक्ति कानूनों का उल्लंघन न करे। ध्यातव्य है कि उदारवाद ऐसे राज्य का विरोध करता है जो 'सर्वाधिकारवादी' प्रकृति का हो।

इंग्लैंड में 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रांति ने संवैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy) का मार्ग प्रशस्त किया। संवैधानिक राजतंत्र में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) पर बल दिया गया जिससे व्यक्ति का महत्त्व बढ़ने लगा। क्रांति के पश्चात् राजा की निरपेक्ष-प्रभुसत्ता, सापेक्ष-प्रभुसत्ता में परिवर्तित हो गई।

रूसो तथा लॉक जैसे दार्शनिकों ने राजतंत्र के दैवीय सिद्धांत (Divine Theory) को नकार दिया। इन्होंने 'सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत' (Theory of Social Contract) प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मानवों के पारस्परिक समझौते के कारण हुई है। अतः राज्य एक कृत्रिम संस्था है जिसे मानव ने अपने हित-साधन के लिये ही बनाया है। इससे भी राजतंत्र का निषेध हुआ। रूसो ने 'लोक प्रभुसत्ता' के विचार को बढ़ावा दिया, जिसके अनुसार प्रभुसत्ता किसी शासक में नहीं बल्कि जनसाधारण के पास होती है।

1789 ई. की फ्राँसीसी क्रांति ने राजतंत्र को जड़ से उखाड़ फेंका। फ्राँसीसी क्रांति को रूसो व मान्टेस्क्यू के विचारों का परिणाम माना जाता है। इन्होंने समानता, स्वतंत्रता व न्याय पर जोर दिया। मान्टेस्क्यू का स्पष्ट विचार था कि सम्पूर्ण शक्ति एक व्यक्ति या संस्था में केंद्रित नहीं होनी चाहिये।

19वीं शताब्दी में लोकतंत्र का विकास होने लगा। लोकतंत्र सामाजिक न्याय व आर्थिक स्वतंत्रता जैसे मूल्यों पर आधारित था जिसमें सभी व्यक्तियों का समान महत्त्व होता है। 19वीं शताब्दी के अंत में लोकतांत्रिक राज्यों में लोक कल्याण की धारणा प्रचलित हुई। लोकतंत्र की सभी मान्यताओं ने जनता को अपनी ओर आकर्षित किया।

हीगेल, नीत्शे, बर्नहार्डी जैसे दार्शनिक राज्य के सर्वाधिकारवादी रूप के समर्थक थे। हीगेल का विचार था कि राजा के पास पूर्ण शक्ति होनी चाहिये। 20वीं शताब्दी में इन दार्शनिकों का प्रभाव फासीवाद व नाजीवाद के रूप में दिखता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद चिंतकों का झुकाव पुनः लोकतंत्र की तरफ होने लगा। अफ्रीका तथा एशिया में कहीं-कहीं राजतंत्र आज भी बना हुआ है किंतु हर स्थान पर यह कमजोर होता जा रहा है।

राजतंत्र के प्रकार (Types of Monarchy)

प्राचीन काल से लेकर अभी तक के राजतंत्रों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया जा सकता है—

- 1. निरपेक्ष (Absolute) राजतंत्र:** यह वहाँ होता है जहाँ राजा में संप्रभुता निवास करती हो तथा उसकी आज्ञा ही कानून हो। इस प्रकार का राजतंत्र वर्तमान में कुछ देशों में दिखता है, जैसे— कतर, सऊदी अरब, ब्रुनई व ओमान।
- 2. संवैधानिक (Constitutional) राजतंत्र:** इसमें राजा के पास निरपेक्ष शक्ति नहीं होती, वह भी कानूनी प्रावधानों के अंतर्गत होता है अर्थात् राजा की शक्ति सापेक्ष होती है। इसके उदाहरण ब्रिटेन, डेनमार्क, बेल्जियम, हॉलैंड, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया व जापान हैं।
- 3. निर्वाचित (Elected) राजतंत्र:** इस व्यवस्था में राजा एक बार निर्वाचित होने पर अपनी मृत्यु तक राजसत्ता पर काबिज रहता है। वर्तमान में निर्वाचित राजतंत्र के उदाहरण नहीं मिलते। इसके उदाहरण इतिहास में देखे जा सकते हैं, जैसे पोलैंड के राजा स्टैनिस्लॉ व डेनमार्क में फ्रेडरिक प्रथम।
- 4. आभासी (Virtual) राजतंत्र:** आभासी राजतंत्र वस्तुतः लोकतंत्र व गणतंत्र की ही एक विशेष अवस्था है जिसमें लोकतंत्र में शासनाध्यक्ष के रूप में एक परिवार के व्यक्ति सत्ता पर लगातार काबिज रहते हैं। लोगों के मन में उनके परिवारों के प्रति राजा जैसी भावना होती है। उदाहरणार्थ क्यूबा, उत्तर कोरिया व निकारागुआ में यह प्रवृत्ति लंबे समय से दिखती है।

राजतंत्र के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Monarchy)

जो विचारक राजतंत्र का समर्थन करते हैं वे इसकी उपयोगिता को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित तर्क देते हैं—

1. कुछ विचारक राजतंत्र में विद्यमान स्थिरता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। शासक के अपरिवर्तित होने के कारण राजतंत्र शासन को स्थिरता प्रदान करता है।
2. कुछ विचारक राजतंत्र को कम खर्चीली व्यवस्था मानते हैं। इन विचारकों का मत है कि राजतंत्र में चुनाव पर होने वाला खर्च बच जाता है। चूँकि राजतंत्र में राजा कभी अपदस्थ नहीं होता, इसके कारण सेवामुक्ति के बाद शासक पर होने वाला खर्च भी बचता है।
3. राजतंत्र में सत्ता एक व्यक्ति के पास होने के कारण निर्णय तीव्र व प्रभावशाली होते हैं। विधेयक की लंबी प्रक्रिया व सरकार के अल्पमत होने जैसी समस्याएँ नहीं होतीं।
4. राजतंत्र में राज्याध्यक्ष की गरिमा बची रहती है। चूँकि राजा कभी भी बर्खास्त नहीं होता तथा जीवन पर्यंत शासन करता है, इसलिये लोग उसकी सत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। लोकतंत्र में तो विरोधी दल सरकार के प्रमुख की गरिमाहीन आलोचनाएँ करते रहते हैं।

5. राजा की सत्ता राजतंत्र में तटस्थ होती है। वह किसी दल विशेष के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसे न तो बहुसंख्यकों का भय रहता है, न ही अल्पसंख्यकों का। इसके कारण प्रशासन में भी तटस्थता नज़र आती है।

राजतंत्र के विपक्ष में तर्क (Arguments Against Monarchy)

इन सभी विशेषताओं के होते हुए भी राजतंत्र को वर्तमान युग में उपयुक्त शासन पद्धति नहीं माना जा सकता क्योंकि—

1. राजतंत्र में व्यक्ति के पास प्राकृतिक अधिकार नहीं होते। इस शासन व्यवस्था में मानवीय गरिमा का हमेशा उल्लंघन होता रहता है।
2. राजतंत्र में राजा के पास निरपेक्ष शक्ति होती है। उसका कथन ही कानून होता है। इसके कारण राजा में प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव होता है।
3. मानव एक विवेकशील प्राणी है। वह सभी कार्य अपने विवेकानुसार करता है। राजतंत्र में राजा की सत्ता मानवीय विवेक का हनन करती है तथा सभी व्यक्तियों का जीवन एक व्यक्ति के हाथ में होता है।
4. राजतंत्र में राजा की शक्ति सर्वोच्च होने के कारण उसके खर्च पर कोई वैधानिक रोक नहीं लगाई जा सकती है। राजा जब चाहे खर्च बढ़ा सकता है या कम कर सकता है जबकि लोकतंत्र में खर्चों का लेखा-जोखा वैधानिक संस्थाएँ रखती हैं।
5. मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि 'असामान्य बचपन' में पलने वाले बच्चों में हठ की भावना तथा आक्रामकता प्रबल होती है। वे अपने को सबसे अलग समझते हैं। ऐसी ही मानसिकता राजा के पुत्र-पुत्री में देखी जा सकती है। वे अपने को शक्ति का प्रतीक मानते हैं। जब वे स्वयं राजा बनते हैं तो उसका दुष्परिणाम जनता को भुगतना पड़ता है।

मूल्यांकन

वर्तमान युग में संवैधानिक व निरपेक्ष राजतंत्र के कुछ उदाहरण मिलते हैं। ये राजतंत्र होते हुए भी मानवीय गरिमा व अधिकारों के हनन से बचते हैं क्योंकि मानवाधिकारों की चेतना आज पूरे विश्व में फैल चुकी है। राजतंत्र आज प्रायः अप्रासंगिक हो गया है, हालाँकि धर्मतंत्र से लोकतंत्र की यात्रा को पूरा करने के लिये इसने एक अनिवार्य चरण के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

धर्मतंत्र (Theocracy)

धर्मतंत्र वह राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें राज्य के कार्यों में धर्म की भूमिका पर बल दिया जाता है। ऐतिहासिक विकास के दौरान यद्यपि धर्मतंत्र की संकल्पना एवं स्वरूप में निरंतर परिवर्तन होता रहा है किंतु एक बात, जो धर्मतंत्र के विषय में हमेशा कही जा सकती है, यह है कि इसमें किसी न किसी रूप में शासन व्यवस्था धर्म के प्रभाव में ही रहती है।

'धर्मतंत्र' अंग्रेज़ी शब्द 'Theocracy' का हिन्दी रूपांतर है। यह शब्द दो शब्दों 'Theos' एवं 'Cracia' से मिलकर बना है। पहले शब्द का अर्थ 'ईश्वर' है जबकि दूसरे का 'तंत्र'। इस प्रकार यदि 'Theocracy' के शाब्दिक अर्थ की बात की जाए तो वह है— 'ईश्वरतंत्र' या 'ईश्वर का शासन'। अपने प्रारंभिक रूप में धर्मतंत्र का अर्थ संभवतः 'ईश्वर का शासन' ही रहा होगा क्योंकि यह शब्द मूलतः ईश्वरवादी धर्मों के संदर्भ में प्रयोग किया गया था जिनकी मान्यता थी कि ईश्वर अपने प्रतिनिधि के माध्यम से स्वयं शासन करता है। बाद में जब 'बौद्ध' जैसे निरीश्वरवादी धर्मों के धर्मतंत्र की व्याख्या का प्रश्न पैदा हुआ तो 'ईश्वरतंत्र' के स्थान पर 'धर्मतंत्र'

शब्द का प्रयोग ज़्यादा ठीक माना गया। 'थियोक्रेसी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यहूदी इतिहासकार एवं विधिवेत्ता 'जोसेफस फ्लेवियस' (Josephus Flavius) द्वारा 'अरिस्टोक्रेसी' (कुलीनतंत्र) एवं 'डेमोक्रेसी' (लोकतंत्र) के समानांतर एक शासन व्यवस्था के अर्थ में किया गया। 'फ्लेवियस' ने इस शब्द का प्रयोग यहूदियों की विशेष प्रकार की शासन व्यवस्था की व्याख्या करने के लिये किया।

धर्मतंत्र का स्वरूप (Nature of Theocracy)

स्वरूप के आधार पर धर्मतंत्र के दो रूप देखने को मिलते हैं। पहला रूप वह है जिसमें माना जाता है कि ईश्वर स्वयं शासन करता है। यह शासन वह अवतार (हिंदू धर्म) अथवा पैगम्बर या नबी (सामी धर्म) के माध्यम से चलाता है। यहाँ सामी धर्मों एवं हिंदू धर्म में एक विशेष अंतर देखा जा सकता है। हिंदू धर्म में ईश्वर स्वयं अवतार लेता है। उदाहरण के लिये, भगवान राम या कृष्ण के द्वारा शासन कार्य किया जाना ईश्वरीय शासन का ही प्रतीक है क्योंकि ये दोनों स्वयं विष्णु के अवतार हैं। दूसरी ओर, सामी धर्मों में ईश्वर प्रत्यक्षतः तो शासन नहीं करता किंतु पैगम्बर एवं नबी को शासन कार्य के लिये अधिकृत व निर्देशित करता है। उदाहरण के लिये, 'हज़रत मूसा' या 'पैगम्बर मुहम्मद साहब' का शासन कार्य पूर्णतः ईश्वरीय निर्देशों के अनुरूप माना जाता है।

धर्मतंत्र का दूसरा रूप वह है जिसमें ईश्वर किसी संस्था को शासन कार्य के लिये नियुक्त करता है तथा उसे शासन कार्य में स्वतंत्रता प्रदान करता है, स्वयं निर्देशित नहीं करता। इस व्यवस्था को पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग में धार्मिक संस्थाओं के अधिकारी ही राज्याधिकारी होते हैं, जैसे तिब्बत का लामा शासन। दूसरे वर्ग के अंतर्गत धार्मिक संस्थाओं के अधिकारी एवं राज्याधिकारी होते तो अलग-अलग व्यक्ति हैं किंतु राज्य प्रमुख, धर्म-प्रमुख के अधीन कार्य करता है। उदाहरण के लिये, मध्यकाल में यूरोप के विभिन्न देशों में राजतंत्रीय शासन जो कि चर्च के अधीन कार्य करता था। पहले वर्ग की शासन व्यवस्थाएँ 'एकलवादी धर्मतंत्र' (Monistic Theocracy) के अंतर्गत आती हैं जबकि दूसरे वर्ग की शासन व्यवस्थाओं को 'द्वैतवादी धर्मतंत्र' (Two Arm Theocracy) कहा जाता है।

विभिन्न धर्मतंत्रों के विश्लेषण के आधार पर धर्मतंत्रात्मक राज्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित मानी जा सकती हैं-

1. धर्मतंत्र राज्य को दैवी सत्ता या ईश्वर का प्रतिनिधि मानता है। यहूदी धर्म में पैगंबर के माध्यम से स्वयं ईश्वर शासन करता है। इस्लाम में खुदा विश्व का बादशाह है जबकि राजा खुदा का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार, ईसाई धर्म के कई समर्थकों का दावा है कि राज्य ईश्वर की रचना है।
2. धर्मतंत्र राजा के दैवी अधिकारों का प्रतिपादन करता है। इसमें माना जाता है कि ईश्वर ने राजा को प्रशासन व नियंत्रण हेतु भेजा है। राजा की आज्ञा का उल्लंघन सिर्फ अपराध नहीं, बल्कि नैतिक दृष्टि से पाप भी है।
3. धर्मतंत्र सामान्यतः धर्म विशेष के धार्मिक ग्रंथ पर आधारित होता है और धर्मग्रंथों की व्याख्या करने का अधिकार पुरोहित, पादरी, मौलवी आदि को होता है। धर्मतंत्र का मूल आधार धर्मग्रंथ ही हैं, जैसे- इस्लाम में कुरान, हिंदुओं में गीता, वेद, उपनिषद; यहूदियों में ओल्ड टेस्टामेंट एवं ईसाइयों में न्यू टेस्टामेंट ऐसे ही विश्वसनीय धर्मग्रंथ हैं।

धर्मतंत्र का ऐतिहासिक विकास (Historical Development of Theocracy)

इतिहास में हमें धर्मतंत्रों के कई उदाहरण मिलते हैं, जैसे-

1. यहूदी धर्म में हज़रत मूसा ने इज़राइल पर शासन किया।
2. ईसाई धर्मतंत्रों के उदाहरण हमें यूरोप में जेनेवा एवं फ्लोरेंस में देखने को मिलते हैं।
3. इस्लामी धर्मतंत्र के अंतर्गत मुहम्मद साहब द्वारा मक्का पर शासन किया जाना शामिल किया जाता है। निकट अतीत में अफगानिस्तान में तालिबानी शासन भी इस्लामी धर्मतंत्र का उदाहरण माना जाता है।
4. तिब्बत एवं बाहरी मंगोलिया में ऐतिहासिक रूप से बौद्ध धर्मतंत्र स्थापित रहा है।
5. इसके अतिरिक्त जापान में भी सूर्यदेवी का शासन धर्मतंत्रीय शासन माना जाता है।

प्रश्न उठता है कि इतिहास में धर्मतंत्र की सफलता के कारण क्या थे? सभ्यता के आरंभ में ज्ञान, विज्ञान का विकास नहीं हुआ था। उस समय असुरक्षा एवं भय में आकंट डूबा मानव समुदाय किसी ऐसी व्यवस्था में ही संतोष पा सकता था जो उसे हर तरह की सुरक्षा का आश्वासन दे सके। यह काम धर्म ने किया और इसी क्रम में धर्म-प्रमुख शासक बन गए। इस प्रकार धर्मतंत्र का उदय हुआ और धर्म से ही राज्य सत्ता निर्धारित होने लगी। कालांतर में धर्मतंत्रों की ताकत अत्यधिक बढ़ गई। मध्यकालीन यूरोप में चर्च समाज की सभी संस्थाओं पर हावी हो गई। परिणामतः मनुष्य की स्वतंत्रता छिन गई।

धर्मतंत्रों के उदय में सामी धर्मों की मूल मान्यताओं का भी योगदान है। सामी धर्मों की मान्यता है कि मनुष्य मूलतः पापी है तथा अपने पापों के प्रायश्चित के लिये ही धरती पर भेजा गया है। इस पाप-मुक्ति के उपक्रम में धार्मिक संस्थाओं की भूमिका स्वतः ही प्रभावी हो उठती है जो कि धर्मतंत्रों की उत्पत्ति के लिये उर्वर भूमि तैयार करती है।

वर्तमान में धर्मतंत्र (Theocracies in Present Time)

सैद्धांतिक दृष्टि से देखा जाए तो वर्तमान समय में एक भी धर्मतंत्र हमें दिखाई नहीं देता। अनेक राज्य ऐसे हैं, जहाँ धर्मतंत्र स्थापित माना जाता है किंतु किसी न किसी कारण से प्रत्येक के धर्मतंत्र होने का खंडन किया जा सकता है।

वर्तमान युग में धर्मतंत्र का सबसे प्रभावशाली उदाहरण 'वेटिकन सिटी' को माना जाता है। इसका राज्य प्रमुख एवं धर्म प्रमुख एक ही व्यक्ति 'पोप' होता है। परंतु, इसके राज्य होने पर ही प्रश्न चिह्न लगाया जाता है। वेटिकन सिटी की सुरक्षा का दायित्व इटली एवं स्विट्ज़रलैंड का है तथा सामान्य प्रशासन 'इटली' द्वारा देखा जाता है। अतः प्रश्न उठता है कि जो राज्य अपनी सुरक्षा एवं प्रशासन कार्यों के लिये अन्य राज्यों पर निर्भर हो, उसे राज्य ही कैसे माना जा सकता है?

तिब्बत को भी धर्मतंत्र का उदाहरण माना जाता है। यहाँ भी राज्य-प्रमुख एवं धर्म-प्रमुख का पद एक ही व्यक्ति को प्राप्त है किंतु तिब्बत को भी राज्य स्वीकार करने में तकनीकी समस्या है। इस समय तिब्बत के पास न तो भौगोलिक क्षेत्र है, न ही संप्रभुता। अतः तिब्बत को भी राज्य नहीं मान सकते, धर्मतंत्र का प्रश्न तो बाद का है।

सऊदी अरब में 'कुरान' को संविधान का दर्जा दिया गया है तथा वहाँ कानून व्यवस्था 'शरीअत' से निर्धारित होती है। किंतु, तब भी इसे धर्मतंत्र नहीं कह सकते क्योंकि एक तो वहाँ वंशानुगत राजतंत्र है; दूसरे वहाँ धर्म से संबंधित मामलों पर अंतिम निर्णय धर्म-प्रमुख का न होकर राज्य-प्रमुख का होता है। अतः राजा की शक्ति धर्म से अधिक है। यह राजतंत्र का लक्षण है, न कि धर्मतंत्र का।

ईरान में भी धर्मतंत्र एक काल विशेष में माना जाता था जब ईरानी क्रांति के पश्चात् अयातुल्ला खुमैनी ने वहाँ धर्मतंत्र की स्थापना का प्रयास किया। कुछ इसी प्रकार का अल्पकालिक प्रयास अफगानिस्तान में तालिबानी शासन के दौरान भी किया गया किंतु, वर्तमान में इन दोनों ही स्थानों पर लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था लागू है।

यूनान स्थित 'एथोस' नामक स्थान पर भी धर्मतंत्रात्मक शासन व्यवस्था मानी जाती है। यहाँ केवल रूढ़िवादी कैथोलिक पुरुष ही निवास करते हैं तथा शासन का कार्य देखते हैं। किंतु, वास्तविकता यह है कि संप्रभुता की अनुपस्थिति के कारण इसे भी धर्मतंत्र नहीं माना जा सकता।

उपरोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त एक वर्ग ऐसे राष्ट्रों का भी है जो धर्मतंत्र तो नहीं है किंतु उनकी शासन व्यवस्था पर धर्म का प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है। इस वर्ग में प्रमुख उदाहरण ब्रिटेन का है जहाँ महारानी को राज्य-प्रमुख एवं धर्म-संरक्षक का दर्जा प्राप्त है। नॉर्वे में भी 'लूथरवाद' को राजकीय धर्म स्वीकार किया गया है तथा संसद के कम से कम आधे सदस्य 'लूथर चर्च' से जुड़े व्यक्तियों में से ही चुने जाते हैं। इज़राइल

भी धर्म से अत्यधिक प्रभावित राष्ट्र है। इजराइल में 'वापसी के कानून' (Law of Return) के अंतर्गत दुनिया के प्रत्येक यहूदी को इजराइल लौटने पर वहाँ की नागरिकता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इसके अलावा एक अन्य प्रावधान के तहत उस व्यक्ति को चुनाव लड़ने के अधिकार से वंचित किया गया है जो इजराइल को यहूदियों का देश स्वीकार नहीं करता। इसके अलावा **पाकिस्तान, बांग्लादेश** आदि कई अन्य देश भी धर्म से प्रभावित हैं किंतु इन्हें भी धर्मतंत्र कहना उचित नहीं है।

धर्मतंत्र के पतन के कारण (Causes of Decline of Theocracies)

16वीं-17वीं शताब्दी में राजतंत्र के उदय ने धर्मतंत्र को कमजोर किया। इस समय बोद्धों तथा मैकयावली जैसे चिंतकों का संप्रभुता संबंधी विचार राजतंत्र को धर्मतंत्र के प्रभाव से मुक्त कराने के लिये ही दिया गया था। इसके पश्चात् पुनर्जागरण काल में तर्क का विकास हुआ, ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ, परिणामतः धर्म की अतार्किक मान्यताओं से जनसामान्य का विश्वास उठ गया। इसका धर्मतंत्र की विश्वसनीयता पर गहरा प्रभाव पड़ा।

इसके पश्चात् लोकतंत्र एवं धर्मनिरपेक्षता जैसे आधुनिक विचारों ने धर्मतंत्र की जड़ें पूरी तरह हिला दीं। रही-सही कसर उदारवाद की सफलता से पूरी हो गई। उदारवाद के आने से धर्म का प्रभाव कम हुआ तथा सापेक्षिक रूप से अर्थव्यवस्था तथा व्यापार का महत्त्व बढ़ता चला गया। इसके साथ ही व्यक्तिवाद के विकास के कारण मनुष्य की स्वतंत्रता पर अधिक बल दिया जाने लगा। इनमें से एक स्वतंत्रता मनुष्य द्वारा धर्म को मानने या न मानने की भी थी।

वर्तमान समय में बहुसंस्कृतिवाद के प्रभाव के कारण भी धर्मतंत्र की संभावनाएँ सीमित हुई हैं क्योंकि एक ही स्थान पर एक से अधिक धर्मावलंबियों के रहने के कारण किसी धर्म विशेष के प्रति पक्षपाती रवैया रखना सरकारों के लिये कठिन हो गया है।

मूल्यांकन (Evaluation)

मानवाधिकारों के विश्वव्यापी महत्त्व को स्वीकार करने वाली वर्तमान विश्व व्यवस्था में धर्मतंत्र जैसे एकांगी एवं पक्षपाती विचारों के लिये कोई महत्त्वपूर्ण स्थान शेष नहीं है। किसी राज्य के विषय में वर्तमान में यह दर्शन बहुत औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता। यदि थोड़ी बहुत प्रासंगिकता शेष है भी तो वह भी धर्मतंत्र के केवल प्रतीकात्मक महत्त्व के रूप में ही है, एक दर्शन के तौर पर धर्मतंत्र अब अप्रासंगिक हो चुका है।

लोकतंत्र (Democracy)

उदार लोकतंत्र (Liberal Democracy)

आधुनिक युग में लोकतंत्र की मुख्य धारा को 'उदार लोकतंत्र' के नाम से जाना जाता है क्योंकि लोकतंत्र का सिद्धांत उदारवादी दर्शन की कोख से ही पैदा हुआ है। ये धारणाएँ परस्पर इतनी संबद्ध हो गई हैं कि यदि लोकतंत्र शब्द के साथ कोई विशेषण न लगाया जाए तो सामान्यतः उसे 'उदार लोकतंत्र' के अर्थ में ही समझा जाता है।

उदारवाद का आरंभ पूंजीवाद के उदय से संबंधित है। उदारवाद वह दर्शन है जिसने उभरते हुए पूंजीवादी या बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक सपनों को सैद्धांतिक आधार उपलब्ध कराया। पूंजीवाद के कारण तीव्र औद्योगीकरण एवं शहरीकरण हुआ जिससे मजदूर वर्ग शहरों में रहने लगा। खुले बाजार की प्रतिस्पर्धा तथा राज्य की 'अहस्तक्षेप की नीति' के कारण मजदूर वर्ग की दुर्दशा होने लगी। आगे चलकर यह वर्ग अपनी विशाल संख्या के प्रति सजग हुआ तथा इसने दुर्दशा से उबरने के लिये राजनीतिक अधिकारों की मांग करनी आरंभ कर दी। पूंजीवादी व्यवस्था को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये मजदूर वर्ग को राजनीतिक अधिकार सौंपने पड़े। इस प्रकार उदारवादी दर्शन ने 'मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था' के समर्थन के साथ 'वयस्क मताधिकार' का भी समर्थन किया। यहाँ आकर उदारवाद तथा लोकतंत्र के सिद्धांत परस्पर संबद्ध हो गए तथा 'उदार लोकतंत्र' की उत्पत्ति हुई।

उदारवादी दर्शन पिछली चार शताब्दियों में लगातार परिवर्तित होता रहा है तथा इन्हीं परिवर्तनों के साथ-साथ इस दर्शन के लोकतंत्र संबंधी विचार भी बदलते गए हैं। वर्तमान समय में उदार लोकतंत्र के अंतर्गत निम्नलिखित सिद्धांत शामिल हैं:

1. उदार लोकतंत्र का प्रतिष्ठित/क्लासिकी/परंपरागत/लोकप्रिय सिद्धांत (Classical Theory)।
2. उदार लोकतंत्र का विशिष्टवर्गीय सिद्धांत (Elite Theory)।
3. उदार लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धांत (Pluralistic Theory)।
4. सहभागी लोकतंत्र का सिद्धांत (Participatory Democracy)।

ऐतिहासिक विकास

उदार लोकतंत्र का परंपरागत सिद्धांत आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है। पुनर्जागरण तथा सुधारवाद के आंदोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्चता प्रदान करते हुए तमाम चिंतन का केंद्र 'व्यक्ति' को माना। व्यक्ति को साधन के स्थान पर साध्य मानने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। हॉब्स ने स्पष्टतः कहा कि राज्य व्यक्तियों के समझौते का परिणाम है, अतः व्यक्ति राज्य से अधिक महत्वपूर्ण है। लॉक ने सत्ता को जनता की सहमति का परिणाम माना, सत्ता को जनता द्वारा सरकार को सौंपी गई अमानत के रूप में परिभाषित किया तथा प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत देकर स्पष्ट किया कि कोई भी राज्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकता। इंग्लैंड की क्रातियों (1649 तथा 1688 ई.) ने राजा के अधिकारों पर अंकुश लगाते हुए संसद के सर्वोच्च अधिकार को स्थापित किया।

18वीं शताब्दी में बुद्धिवादी दार्शनिक मांटेस्क्यू ने स्वतंत्रता के विचार को महत्त्व दिया तथा राज्य की तीनों शक्तियों के केंद्रीकरण को चुनौती देते हुए शक्ति पृथक्करण (Separation of powers) के सिद्धांत की सिफारिश की। इसी शताब्दी में रूसो (Rousseau) ने लोकतंत्र की आत्मा के रूप में सामान्य इच्छा का सिद्धांत (Principle

of General Will) दिया। इसी शती में मेबले (Mably), हैलविटियस (Helvetius) तथा होलबैक (Holback) ने मानव की समानता के प्रश्न को उठाया। इस शती के अंत में अमेरिका एवं फ्रांस की क्रांतियों ने लोकतंत्र के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

19वीं सदी में उदार लोकतंत्र का सिद्धांत उपयोगितावाद (Utilitarianism) के साथ संबद्ध हुआ और बेंथम तथा मिल के रूप में इसे दो प्रतिपादक मिले। इन्होंने लोकतंत्र का समर्थन इस आधार पर किया कि यह सरकार अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख साधने में सक्षम है। बेंथम ने स्पष्ट रूप से प्रतिनिधि सरकार का सिद्धांत दिया और पढ़े-लिखे लोगों के लिये वयस्क मताधिकार की भी सिफारिश की। मिल ने माना कि लोकतंत्र का उद्देश्य व्यक्ति तथा उसकी सभी प्रतिभाओं का विकास है। उसने विचारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना। नारियों तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की चर्चा करके उसने उदारवादी परंपरा का नए ढंग से सूत्रपात किया।

20वीं सदी में उदार लोकतंत्र के अंतर्गत वयस्क मताधिकार का विकास हुआ। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को वोट देने का समान अधिकार दिया गया। इस शताब्दी में बार्कर (Barker), ड्यूवी (John Dewey), लिंडसे (Lindsay), लास्की (Laski) आदि चिंतकों ने उदार लोकतंत्र का समर्थन किया।

उदार लोकतंत्र का परंपरागत सिद्धांत (Classical Theory of Liberal Democracy)

प्रमुख धारणाएँ:

उदार लोकतंत्र के प्रतिनिधि सिद्धांत की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

1. प्रत्येक व्यक्ति एक बौद्धिक और चिंतनशील प्राणी है तथा स्वयं में साध्य है। चूँकि वह चिंतनशील है, इसलिये वह अपने ऊपर स्वयं शासन कर सकता है। उसे किसी अन्य के शासन की आवश्यकता नहीं है। प्रतिनिधियों के माध्यम से अपने ऊपर स्वयं शासन करने की पद्धति ही उदार-लोकतंत्र कहलाती है।
2. चूँकि प्रत्येक व्यक्ति साध्य है और उसने सरकार का गठन स्वयं अपने लिये किया है, इसलिये राजनीतिक सत्ता सरकार का अधिकार नहीं बल्कि उसके पास संरक्षित जनता की अमानत है।
3. सरकार का गठन व्यक्ति स्वयं करता है किंतु इस अधिकार के समुचित प्रयोग के लिये आवश्यक है कि उसके समक्ष एक से अधिक विकल्प हों। अतः, कम से कम दो प्रतिनिधियों या दलों की उपस्थिति उदार लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त है।
4. व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से जीवन जीने के लिये पर्याप्त अधिकार होने चाहियें जिनमें जीवन का अधिकार, चिंतन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और धार्मिक स्वतंत्रता इत्यादि प्रमुख हैं।
5. सरकार जनता के प्रति अधिकाधिक उत्तरदायी रह सके, इसके लिये आवश्यक है कि जनता को सरकार की नीतियों तथा कार्यों की सतत् निगरानी का अधिकार हो।
6. सरकार की सीमाएँ भी स्पष्ट होनी चाहियें। शक्तियों का पृथक्करण और न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक आदर्श लोकतंत्र की विशेषताएँ हैं।
7. राजनीतिक सत्ता के लिये मुक्त प्रतिस्पर्द्धा उदार लोकतंत्र की शर्त है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक को (कुछ तार्किक सीमाओं को छोड़कर) सरकार में शामिल होने का समान अवसर अवश्य प्राप्त होना चाहिये।
8. सार्वजनिक पद किसी वर्ग विशेष के लिये सुरक्षित नहीं होने चाहियें। उन्हें प्रतिस्पर्द्धा के माध्यम से योग्यता के आधार पर भरा जाना चाहिये। इतना अवश्य है कि सामाजिक समानता की उपलब्धि के लिये संरक्षणात्मक भेदभाव की व्यवस्था स्वीकार की जा सकती है।

सीमाएँ

1. यह सिद्धांत अवास्तविक है क्योंकि वस्तुतः मानव तर्कसंगत व्यवहार नहीं करता। मनोविज्ञान ने साबित किया है कि व्यवहार का अधिकांश हिस्सा उसकी मनोवृत्तियों तथा भावनाओं से ही संचालित होता है। प्लेटो का भी मानना है कि जनसाधारण इतने शिक्षित नहीं होते कि वे 'सर्वोत्तम शासकों व नीतियों' का चयन कर सकें।
2. यह सिद्धांत रूसो के अनुसार मानकर चलता है कि हर समाज में सामान्य इच्छा या सामान्य हित का अस्तित्व होता है। वस्तुतः ऐसा कोई सामान्य हित नहीं होता। यह बात मार्क्सवाद ने भी कही है तथा शुम्पीटर (Shumpeter) जैसे बहुलवादी लोकतंत्र के समर्थकों ने भी।
3. जनता को राजनीति में अधिकाधिक भूमिका देकर यह सिद्धांत लोकतंत्र को भीड़तंत्र (Mobocracy) में परिणत कर देता है। विशिष्टवर्गवादी विचारकों जैसे मोस्का, मिशेल्स तथा पैरेटो ने इसीलिये जनता की सीमित भूमिका पर बल दिया है।
4. यह सिद्धांत व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है, राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व को कम।
5. यह सिद्धांत राज्य कार्य तथा नीति-निर्माण जैसे कार्यों को अति-सरल मानकर चलता है जबकि आज, विशेषीकरण के दौर में आम जनता इन कार्यों को न अपने हाथ में ले सकती है, न ही इनकी स्वतंत्रतापूर्वक समीक्षा कर सकती है। विशिष्टवर्गवादी विचारकों का यह भी एक आक्षेप है।
6. मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार उदार लोकतंत्र आर्थिक समानता दिये बिना राजनीतिक समानता देता है जो निरर्थक है क्योंकि बिना आर्थिक समता के शेष सभी समानताएँ ढोंग हैं।
7. यह सिद्धांत लोकतंत्र की संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं (Institutions and Procedures) पर अधिक बल देता है, उद्देश्यों पर कम। यह आलोचना भी मार्क्सवादियों ने की है।
8. यह सिद्धांत मूल्यों व आदर्शों पर अधिक बल देता है, राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं पर कम। अनुभववादी (Empiricist) तथा व्यवहारवादी (Behaviourist) राजनीति-दार्शनिकों का यह आक्षेप है।

उदार लोकतंत्र का विशिष्ट-वर्गवादी (Elitist) सिद्धांत

यह सिद्धांत इटली में 20वीं शताब्दी में विकसित हुआ। इसके दो आरंभिक विचारक विल्फ्रेडो पैरेटो और गेतानो मोस्का थे। इनके कुछ बाद जर्मनी में रॉबर्ट मिशेल्स व अमेरिका में सी.राइट मिल्स भी इसी विचारधारा से जुड़े।

महत्त्वपूर्ण विचार

1. संपूर्ण जनता में शासन करने की योग्यता नहीं होती। शासन एक विशिष्ट वर्ग (Elite Class) के हाथ में ही केंद्रित रहता है और रहना भी चाहिये।
2. विशिष्ट वर्ग में सत्ता की प्रतिस्पर्धा होती है और सरकार बदलने का अर्थ विशिष्ट वर्गों की अदला-बदली ही है। व्यवस्था चाहे कोई भी हो, सत्ता हमेशा विशिष्ट वर्गों के ही हाथ में होती है।
3. इस सिद्धांत को लोकतांत्रिक सिद्धांत इसलिए माना जा सकता है क्योंकि जनता के पास विशिष्ट वर्गों में से किसी एक को चुनने का अधिकार होता है और सामान्य व्यक्ति तथा विशिष्ट वर्गों में आवागमन के अवसर भी उपस्थित होते हैं।
4. जनता की असीमित भागीदारी और विचारधारा जैसे तत्त्व लोकतंत्र के लिये न आवश्यक हैं, न ही महत्त्वपूर्ण क्योंकि शासन करना एक जटिल कार्य है जो सभी के बस की बात नहीं। विचारधारा भी इसलिये निरर्थक है क्योंकि शासन करते समय प्रत्येक विशिष्ट वर्ग का चिंतन एक जैसा हो जाता है।

5. इस विचार की प्रमुख आलोचनाएँ मैक्सवर्सन जैसे समतावादियों और मार्क्सवादियों ने की हैं। मूल आलोचना यह है कि इस विचार में लोकतंत्र मानवीय समता का विचार नहीं बचता बल्कि एक बाज़ार-संतुलन तक सिमट जाता है। मार्क्सवादियों का दावा है कि विचारधारा को अस्वीकृत करके यह सिद्धांत लोकतंत्र के नाम पर शोषण और दमन को औचित्यपूर्ण सिद्ध करना चाहता है।

उदार लोकतंत्र का बहुलवादी (Pluralistic) सिद्धांत

बहुलवादी लोकतंत्र 20वीं शताब्दी में विकसित उदार लोकतंत्र की एक शाखा है जिस पर आरंभिक प्रभाव बहुलवादी चिंतकों जैसे लास्की, मैकाइवर और बार्कर आदि का पड़ा। आगे चलकर इसका विशेष विकास समूह-सिद्धांत (Group Theory) के रूप में हुआ जिसका संबंध मुख्यतः रॉबर्ट डहल (Robert Dahl) से है। इन्होंने अपने विचार को बहुतंत्र या बहुलतंत्र (Polyarchy) भी कहा है। इस विचार की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सैद्धांतिक रूप से सरकार का निर्माण चाहे व्यक्ति करे, व्यावहारिक रूप से मुख्य भूमिका समूहों की होती है। प्रत्येक व्यक्ति के बहुत से हित कई अन्य व्यक्तियों से मिलते हैं और वे मिलकर हित समूह या दबाव-समूह बनाते हैं। विभिन्न हित समूहों व दबाव समूहों के मध्य सौदेबाजी की प्रक्रिया चलती है और इसी सौदेबाजी की प्रक्रिया के फलस्वरूप अपने-अपने हितों के अनुसार सभी वर्गों को सत्ता और अधिकारों की उपलब्धि होती है। इस अर्थ में लोकतंत्र का अर्थ है समाज के स्वायत्त समूहों में सौदेबाजी की प्रक्रिया।
2. बहुलतंत्र वहाँ है जहाँ समाज के सभी व्यक्ति अपने हितों की पहचान भी कर चुके हों और उनके अनुरूप परस्पर संगठित भी हो चुके हों। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो कुछ वर्ग नुकसान उठाते हैं और यदि ऐसा हो जाए तो सभी दबाव समूह स्वयं ही एक दूसरे को संतुलित करते रहते हैं।
3. बहुलतंत्र में सरकार की भूमिका अत्यंत सीमित होती है क्योंकि सरकार का कार्य सिर्फ इतना है कि वह विभिन्न समूहों के परस्पर विरोधी दावों में समायोजन करे। सरकार विभिन्न समूहों के दबावों का केंद्र-बिंदु होती है और ऐसी नीतियाँ बनाती है जो सभी समूहों को अधिकतम संतुष्ट कर सकें।
4. बहुलवादी सिद्धांत विचारधारा को महत्वपूर्ण नहीं मानता। उसके अनुसार प्रत्येक समूह के हित अलग हैं, इसलिये कोई एक विचारधारा सभी के लिये पर्याप्त नहीं है। पुनः उत्तर-पूँजीवादी समय में विचारधारा इसलिये भी अनावश्यक हो गयी है कि पूँजीवाद ने आर्थिक समानता के मूल्य को स्वीकार करके कल्याणकारी राज्य की धारणा को स्वीकार कर लिया है।
5. इस सिद्धांत की आलोचना यह है कि यह समाज के विभिन्न समूहों को उनकी गणितीय शक्ति के अनुसार महत्त्व देता है, न कि उनकी वास्तविक आवश्यकताओं के अनुसार। वे समूह जो अल्पसंख्यक हैं, इस व्यवस्था में निरंतर अन्याय के शिकार होते हैं। सरकारी नीतियों को पूर्णतः दबाव और सौदेबाजी पर आधारित मानकर यह सिद्धांत अंध-नियमों को महत्त्व देता है, न कि मानवीय अपेक्षाओं को।

उदार लोकतंत्र की नई शाखा: सहभागी (Participatory) लोकतंत्र

सहभागी लोकतंत्र 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ उदार लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण विचार है जिसके प्रमुख समर्थकों में मैक्सवर्सन तथा पोलाञ्जा शामिल हैं। इन्होंने विशिष्ट-वर्गवादी और बहुलवादी लोकतंत्र के विचारों के विरुद्ध अपना विचार प्रस्तुत किया और जनसाधारण की सहभागिता को लोकतंत्र का बुनियादी लक्षण माना।

1. राजनीतिक शक्तियों का यथासंभव विकेंद्रीकरण किया जाए ताकि नीतियों के निर्माण और शासन के संचालन में जन भागीदारी बढ़ सके।
2. राजनीतिज्ञों और लोक प्रशासकों का उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जाना चाहिये कि वे जो भी कार्य करेंगे, उसके लिये उन्हीं को उत्तरदायी माना जाएगा।

3. राजनीतिक दलों, लोक सेवाओं तथा विधानमंडलों का अधिकाधिक लोकतंत्रीकरण होना चाहिये ताकि उन्हें अधिक उत्तरदायी और मुक्त बनाया जा सके।

4. जन साधारण की पहुँच सरकारी सूचनाओं और दस्तावेजों तक प्रत्यक्षतः होनी चाहिये ताकि वे भी यह जाँच कर सकें कि प्रशासन जनहित में ही चलाया जा रहा है अथवा नहीं।

इस विचार की कई सीमाएँ हैं। व्यावहारिक सीमा यह है कि जन भागीदारी का चाहे कोई भी स्तर स्वीकार किया जाए, यह संभव नहीं है कि बड़ी जनसंख्या वाले किसी देश में सभी लोग सचमुच मिलकर जनभागीदारी को अंजाम दे सकें। दूसरी समस्या है कि प्रशासन अत्यंत विशेषीकृत और जटिल संरचना है जिसका मूल्यांकन साधारणजन करने में असमर्थ होता है। इसके अतिरिक्त अनावश्यक जन-हस्तक्षेप के कारण प्रशासनिक कुशलता भी घटती है।

लोकतंत्र के गुण-दोष (Merits and Demerits of Democracy)

लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)

1. इसमें प्रत्येक व्यक्ति को विवेकशील तथा साध्य माना जाता है जबकि अन्य व्यवस्थाओं में ऐसा नहीं है। 'राजतंत्र' (Monarchy) एक व्यक्ति के विवेक पर, 'अल्पतंत्र' (Oligarchy) कुछ व्यक्तियों के विवेक पर, 'धर्मतंत्र' (Theocracy) धार्मिक अधिकारियों के विवेक पर तो 'कुलीनतंत्र' (Aristocracy) सिर्फ उच्च कुल के व्यक्तियों के विवेक पर आधारित होता है। लोकतंत्र अकेली व्यवस्था है जो हर व्यक्ति को विवेक का सम्मान करती है।
2. लोकतंत्र से प्रत्येक व्यक्ति में आत्मविश्वास तथा स्वावलंबन जैसे गुण विकसित होते हैं। इसका मूल कारण यह है कि लोकतंत्र में व्यक्ति अपनी नियति का जिम्मेदार स्वयं होता है जबकि अन्य व्यवस्थाओं में वह निष्क्रिय होकर सिर्फ राज्य द्वारा दी गई आज्ञाओं का पालन करता है।
3. लोकतंत्र सांस्कृतिक व नैतिक दृष्टि से उच्च स्तर की व्यवस्था है। लोकतंत्र मनुष्य को सिखाता है कि वह सिर्फ अपने मत पर न अड़ा रहे बल्कि सभी के मत को सुनकर उस निष्कर्ष को मानना सीखे जिस पर सर्वसम्मति या सर्वाधिक सहमति हो। इससे 'चर्चा की संस्कृति' का विकास होता है जो किसी भी समाज के विकास हेतु बेहद जरूरी है।
4. लोकतंत्र वह प्रणाली है जिसमें सत्ता का परिवर्तन बिना किसी हिंसा या तनाव के शांतिपूर्ण तरीके से होता है। राजतंत्रों, तानाशाहियों तथा अल्पतंत्रों में अक्सर सत्ता का परिवर्तन हिंसक घटनाओं के माध्यम से होता है जबकि लोकतंत्र में चुनावों के माध्यम से। इससे शांति व्यवस्था बनी रहती है।
5. राज्य की सत्ता के दुरुपयोग के रोकथाम की दृष्टि से लोकतंत्र सबसे बेहतर व्यवस्था है। राजतंत्र, धर्मतंत्र या तानाशाही में व्यक्ति के पास सत्ता का दुरुपयोग रोकने की कोई शक्ति नहीं होती जबकि लोकतंत्र में सूचना का अधिकार, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, संवैधानिक पदाधिकारियों की स्वायत्तता व आम-चुनाव जैसे दबाव सत्ता के दुरुपयोग को रोकते हैं। मीडिया का दबाव भी सत्ता के दुरुपयोग को रोकने का महत्वपूर्ण तरीका है जो लोकतंत्र में ही स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर पाता है।

लोकतंत्र के दोष (Demerits of Democracy)

1. लोकतंत्र व्यवहार में 'भीड़तंत्र' (Mobocracy) बन जाता है। कभी-कभी जनता के अशिक्षित होने के कारण तो कभी-कभी भावनात्मक मुद्दों के उछलने के कारण जनता का व्यवहार भावनात्मक हो जाता है व वह तर्कशून्य व्यवहार करने लगती है। प्लेटो ने लोकतंत्र का विरोध इसी कारण किया था। अरस्तू ने भी इसी आधार पर लोकतंत्र को खारिज करते हुए मिश्रित संविधान की वकालत की थी।

2. लोकतंत्र प्रायः 'धनतंत्र' (Plutocracy) बन जाता है। चुनावों की प्रक्रिया इतनी महँगी है कि सामान्य व्यक्ति चुनाव लड़ने के बारे में सोच भी नहीं सकता। निम्न वर्ग सिर्फ वोट देने तक सीमित हो जाता है जबकि चुनाव लड़ने की शक्ति उच्च वर्ग तक सीमित रहती है। मार्क्सवादियों व समाजवादियों ने यही आलोचना प्रमुख रूप से की है।
3. लोकतंत्र एक अकुशल व्यवस्था है। इसका एक कारण यह है कि 'औसततंत्रीय' (Mediocratic) व्यवस्था है। इसमें सर्वाधिक योग्य लोग नहीं बल्कि सर्वाधिक लोकप्रिय लोग चुने जाते हैं। लोकप्रिय वही होता है जो जनसाधारण की मानसिकता के अनुकूल होता है, न कि वह जो वैचारिक दृष्टि से बेहद परिपक्व हो। जब औसत कोटि के लोग शासन चलाते हैं तो स्वभावतः अकुशलता पैदा होती है।
अकुशलता का दूसरा कारण यह है कि इस व्यवस्था में सरकार पर अत्यधिक दबाव रहता है। विभिन्न राजनीतिक दल व हित समूह अपने-अपने हितों के अनुसार सरकार पर दबाव डालते हैं जिनके कारण सरकार कोई भी कठोर निर्णय लेने में अक्षम हो जाती है, जैसे-भारत में आतंकवाद जैसे मामलों पर कठोर कदम इसलिये नहीं उठ पाता कि यह मुद्दा चुनावों की दृष्टि से दबाव पैदा करता है।
4. लोकतंत्र सांस्कृतिक दृष्टि से निम्नस्तरीय व्यवस्था है। इसमें दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों जैसे अधिक गुणसंपन्न व्यक्तियों को कोई महत्त्व नहीं मिलता है। उनसे ज़्यादा महत्त्व अभिनेताओं तथा खिलाड़ियों आदि को मिलता है जो वैचारिक तौर पर तुलनात्मक रूप से हीन होते हैं। जो व्यक्ति जीवन भर समाज सेवा करते हैं, लोकतंत्र उन्हें नायक का दर्जा नहीं देता जबकि कोई भी अभिनेता यदि चुनाव लड़े तो जनता उसे सिर-आँखों पर बिठा लेती है। प्लेटो व इकबाल का विरोध इस बिंदु पर भी है।
5. गांधीजी ने भी लोकतंत्र की आलोचना की है व कहा है कि यह अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों के दमन की प्रणाली है। यदि समाज के अधिकांश लोग कुछ व्यक्तियों का दमन करना चाहें तो लोकतंत्र उन्हें सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। इस बिंदु पर जे.एस. मिल व जॉन रॉल्स ने भी गांधीजी जैसे ही विचार दिये हैं। गांधीजी ने कहा कि अच्छी व्यवस्था 'अधिक व्यक्तियों' पर नहीं बल्कि 'अंतिम व्यक्ति' पर ध्यान देती है। मिल ने कहा कि यदि एक भी व्यक्ति की राय समाज से अलग है तो उसकी अभिव्यक्ति का दमन नहीं किया जाना चाहिये। रॉल्स ने कहा कि व्यवस्था की मजबूती इस बात से तय होती है कि सबसे कमजोर व्यक्ति कितना मजबूत है, 'वैसे ही जैसे किसी शृंखला की मजबूती उतनी ही होती है जितनी मजबूती उसकी सबसे कमजोर कड़ी की होती है।'
6. लोकतंत्र एक महँगी व्यवस्था है। हर चार या पाँच वर्ष बाद इसमें अरबों रुपये चुनाव प्रक्रिया पर खर्च होते हैं। इसी वजह से भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा मिलता है क्योंकि इतना अधिक धन खर्च करके चुनाव लड़ने वाला व्यक्ति अपने धन की वापसी चाहता है।
7. अनुशासन की दृष्टि से लोकतंत्र निकृष्ट व्यवस्था है। जब व्यक्ति को अपने मताधिकार का अहसास होता है तो वह सरकार को अपने सामने असहाय समझकर कानून व अनुशासन भंग करने लगता है। भारत में विभिन्न आरक्षण आंदोलनों में ऐसा ही देखा गया है।
8. लोकतंत्र बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक समानता देता है जो वस्तुतः निरर्थक होती है। मार्क्सवादियों व समाजवादियों ने स्पष्ट कहा है कि बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक समानता की बात करना भ्रामक है।

निष्कर्ष

यह सही है कि लोकतंत्र में बहुत सी सीमाएँ हैं किंतु यह भी उतना ही सही है कि बाकी व्यवस्थाओं की तुलना में इसमें सबसे कम सीमाएँ हैं। प्रसिद्ध चिंतक सी.डी. बर्न्स का कथन है कि "इस बात से कोई इनकार नहीं करता कि वर्तमान प्रतिनिधि सभाओं में अनेक त्रुटियाँ हैं। पर, यदि मोटरगाड़ी खराब हो जाए तो उसकी जगह बैलगाड़ी का इस्तेमाल करना मूर्खता होगी, चाहे उसकी कल्पना हमें कितनी भी मधुर प्रतीत हो।"

मार्क्सवाद एवं लोकतंत्र का संबंध (Marxism and Democracy)

1. दोनों का मूलभूत संबंध विरोधात्मक रहा है।

लोकतंत्र मूलतः उदारवादी विचार था; आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप को मानता था, समानता और स्वतंत्रता के नकारात्मक विचार को तथा न्याय के औपचारिक विचार को स्वीकार करता था; विषमताओं को वह योग्यताओं के अंतर का परिणाम मानता था और योग्यताओं के अंतर को 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) के सैद्धांतिक प्रकाश में न्यायपूर्ण मानता था। निजी संपत्ति के अधिकार को मूलभूत अधिकार की मान्यता; अनुबंध की स्वतंत्रता; वयस्क मताधिकार के रूप में औपचारिक राजनीतिक समानता-ये सभी उदार लोकतंत्र के मूल लक्षण रहे थे।

इसके विपरीत, मार्क्सवाद ने आर्थिक क्षेत्र को मूलभूत महत्व का क्षेत्र माना; पूंजीवाद और अहस्तक्षेप जैसी स्थितियों को अन्यायपूर्ण माना; निजी संपत्ति की धारणा को ही मूलतः अस्वीकृत किया समानता और स्वतंत्रता की सकारात्मक धारणाएँ स्वीकार कीं; न्याय की 'तात्त्विक' धारणा और 'सामाजिक न्याय' की धारणा का प्रतिपादन किया; आर्थिक न्याय के अभाव में सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों को ढकोसला बताया; व्यक्ति की योग्यताओं को सामाजिक स्थितियों एवं उपलब्धियों का ही परिणाम माना। इतना ही नहीं, उसने हिंसक क्रांति को अनिवार्य बताकर लोकतंत्र, पूंजीवाद इत्यादि व्यवस्थाओं को सिरे से अस्वीकार कर दिया।

2. लोकतंत्र मार्क्सवाद की ओर क्यों झुका?

- (i) बुर्जुआ क्रांति के बाद अहस्तक्षेप की नीति के कारण कामगारों की दशा अत्यधिक चिंतनीय होने लगी। 19वीं सदी के आरंभ में सेंट साइमन आदि आरंभिक समाजवादी विचारकों ने इस ओर इशारा किया। धीरे-धीरे उदारवाद 'सीमित हस्तक्षेप' या 'न्यूनतम हस्तक्षेप' के सिद्धांत को स्वीकार करने लगा।
- (ii) कई उदारवादी विचारकों ने सामाजिक न्याय के विचार को गंभीरता से लिया। यह परंपरा लास्की से आरंभ हुई और वर्तमान काल में 'समतावाद' (Equalitarianism) की धारा के रूप में जॉन रॉल्स तथा सी.बी. मैक्फर्सन के रूप में विद्यमान है। यह धारा अंतरों को न्यूनतम अनिवार्य स्तरों तक लाने की बात करती है।
- (iii) वयस्क मताधिकार तो लोकतंत्र ने दिया था। धीरे-धीरे इंग्लैंड जैसे देशों में मजदूर वर्ग में यह चेतना फैलने लगी कि मजदूर वर्ग की दशाओं को सुधारने के लिये राज्य की शक्तियों का आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग बढ़ना चाहिये।
- (iv) लोकतंत्र के विस्तार के साथ धीरे-धीरे यह विचार विकसित होने लगा कि राज्य को न केवल शासन, बल्कि कल्याण के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करना चाहिये। इस प्रकार धीरे-धीरे लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार स्थापित हुआ।
- (v) जैसे-जैसे पूंजीवाद का प्रसार हुआ, पूंजी से पैदा होने वाले संकट बढ़े, जैसे- एकाधिकार आदि की समस्याएँ, श्रमिकों का शोषण इत्यादि। अतः ऐसे मामलों में नियामक संस्था के रूप में राज्य को हस्तक्षेप करना ही पड़ा।

इस प्रकार, लोकतंत्र मात्र राजनीतिक प्रणाली न रहकर एक समग्र दर्शन बना जिसमें आर्थिक न्याय और सामाजिक न्याय जैसे विचार भी शामिल हो गए।

3. मार्क्सवाद लोकतंत्र की ओर क्यों झुक रहा है?

- (i) राजनीतिक व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र का मानव विवेक में विश्वास ऐसा बिंदु है जिसके कारण इस व्यवस्था को कम ही समय में वैश्विक लोकप्रियता हासिल हो गई। सभी देशों के लिये किसी न किसी रूप में लोकतंत्र से जुड़ना अनिवार्य हो गया।
- (ii) विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया ने भी योगदान दिया। मानव स्वतंत्रता का आधुनिक विचार मार्क्सवादी राज्यों में उपलब्ध नहीं होता था, जबकि पूंजीवादी राज्यों में था। समाजवादी देशों की जनता ने महसूस किया कि स्वतंत्रता को किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ा जाना चाहिये। इसके लिये समाजवादी देशों में जन आंदोलन भी हुए, जैसे चीन में थ्येन-ऑन-मन चौक की घटना। कार्ल पॉपर ने भी इसी बिंदु पर मार्क्सवाद की आलोचना की है।
- (iii) क्रांति का विचार पूंजीवाद की विफलताओं पर टिका था, पर पूंजीवाद उतना कमजोर साबित नहीं हुआ जितना मार्क्स या रोज़ा लंगज़ेमबर्ग ने सोचा था। उपभोक्तावाद ने मांग में अभूतपूर्व वृद्धि करके पूंजीवाद को नया जीवन दे दिया। सेवा क्षेत्र के विकास ने भी पूंजीवाद को बचाया।
- (iv) राज्य के अत्यधिक शक्तिशाली होने से क्रांति की संभावना समाप्त हो गई।
- (v) वर्ग संघर्ष का सिद्धांत कॉर्पोरेट पूंजीवाद, वर्ग सहयोग, कल्याणकारी राज्य, मध्य वर्ग के विस्तार आदि कारणों से अप्रासंगिक होने लगा। नारीवाद, रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष आदि के तीव्र होने के कारण नए प्रकार के संघर्ष आरंभ हुए। इसके अतिरिक्त, आर्थिक शोषण के समानांतर तकनीकी प्रभाव आदि ने नवमार्क्सवादी विचारकों को नए सिरे से विश्लेषण करने के लिये प्रेरित किया।
- (vi) मार्क्स के समय से ही कई मार्क्सवादियों ने समाजवाद के लिये मार्क्सवादी पद्धति की कमियों की ओर इशारा करना आरंभ कर दिया था। एडवर्ड बर्नस्टीन जैसे विचारक इसी वर्ग के थे। इन्होंने हिंसक क्रांति को गैर-अनिवार्य घोषित किया; राष्ट्रवाद और समाजवाद के बीच संवाद स्थापित किया। 20वीं सदी की स्थितियों ने भी यही साबित किया।
- (vii) लोक-कल्याणकारी राज्य ने भी प्रभाव पैदा किया। मजदूरों की समस्याओं का समाधान होना आरंभ हुआ। लेबर कोर्ट इत्यादि ने भी सहायता दी। इससे मजदूर वर्ग का लोकतंत्र में विश्वास बनने लगा। नॉर्वे, स्वीडन जैसे लोकतांत्रिक देशों में हुए विकास ने यही प्रमाणित किया।
- (viii) सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशों के पतन के बाद रही सही कसर भी पूरी हो गई। सोवियत शक्ति के कारण कई देश सुरक्षा चक्र में शामिल थे। उसके टूटने पर वह सुरक्षा भी समाप्त हो गई।
- (ix) कई समाजवादी व्यवस्थाओं में हिंसा इतनी अधिक होती रही कि लोगों का व्यवस्था पर विश्वास कम होने लगा। पोल पोट आदि शासकों का शासन इस दृष्टि से विशेष रहा। फिर, धर्म के निषेध के कारण आम आदमी के आध्यात्मिक असंतोष का असर भी साम्यवाद की स्थिति पर पड़ा।

4. वर्तमान स्थिति:

यह ज़रूरी हो गया था कि दोनों के विचारों में समन्वय हो। मार्क्सवाद के उद्देश्यों का आर्थिक तत्व लेकर, सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता की सकारात्मक धारणा, आर्थिक वितरण-न्याय आदि धारणाओं से संपन्न होकर जब लोकतंत्र की व्यवस्था नए रूप में उभरी तो लोक-कल्याणकारी राज्य का स्वरूप सामने आया। लोकतंत्र ने इसे वैयक्तिक स्वतंत्रता, राजनीतिक समानता तथा धार्मिक स्वतंत्रता जैसे विचार दिये तो मार्क्सवाद ने सामाजिक न्याय, आर्थिक समता तथा धर्मनिरपेक्षता जैसे विचार।

यहीं आकर पूंजीवादी लोकतंत्र तथा समाजवादी तानाशाही के वाद-प्रतिवाद में संवाद हुआ, जिसे 'लोकतांत्रिक समाजवाद' या 'समाजवादी लोकतंत्र' कहा गया।

समाजवादी लोकतंत्र (Socialist Democracy)

समाजवादी लोकतंत्र वस्तुतः दो विचारधाराओं का समन्वय है। इसमें समाजवाद के आदर्श तथा लोकतंत्र की प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। 19वीं शताब्दी के अंत में जब देखा गया कि उदार लोकतंत्र की संस्थाएँ मजदूर वर्ग की स्थितियाँ सुधारने में सक्षम सिद्ध हो रही हैं तो मार्क्स के क्रांतिकारी समाजवाद के विरुद्ध चिंतकों का एक समूह विकसित हुआ जिसने समाजवाद और लोकतंत्र को जोड़ने पर बल दिया। इन चिंतकों में फेबियनवादी चिंतक जैसे- जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, ग्राहम वेल्लेस, विकासवादी समाजवादी एडवर्ड बर्नस्टीन, जर्मन लोकतंत्रवादी चिंतक फर्डिनेंड लासाल तथा कुछ समष्टिवादी विचारक शामिल थे। आगे चलकर कई देशों ने इसी प्रारूप को अपनाया जिनमें भारत भी शामिल है। जवाहर लाल नेहरू समाजवादी लोकतंत्र के ही समर्थक रहे।

ध्यातव्य है कि उदारवाद में जिन चिंतकों को आधुनिक उदारवाद तथा समतावाद में शामिल किया जाता है, उनके विचार इससे मिलते-जुलते हैं। उदाहरण के लिये, लास्की ने स्पष्ट कहा है कि मैं उदारवादी मार्ग से समाजवादी लक्ष्य पाना चाहता हूँ। इसके बाद भी, राजनीति दर्शन में उदारवादी चिंतकों को समाजवादी लोकतंत्र के समर्थकों में औपचारिक रूप से शामिल नहीं किया जाता।

समाजवादी लोकतंत्र की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

1. उदार लोकतंत्र की प्रक्रियाएँ अनिवार्यतः उच्च वर्ग के पक्ष में नहीं हैं। यदि उनका प्रयोग सही तरीके से किया जाए तो वे सामाजिक, आर्थिक न्याय स्थापित करने में सक्षम हो सकती हैं। अतः दो या अधिक दलों की उपस्थिति, वयस्क मताधिकार, निर्वाचन प्रणाली, शांतिपूर्ण सत्ता हस्तांतरण जैसी प्रक्रियाएँ समाजवादी लोकतंत्र को स्वीकार हैं।
2. ये चिंतक मानते हैं कि आर्थिक समानता को लाना ज़रूरी है किंतु इसके लिये हिंसक क्रांति नहीं, लोकतांत्रिक प्रक्रिया ही काफी है।
3. इनके अनुसार अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित सुधार होने चाहियें-
 - (i) प्रगतिशील कराधान की प्रणाली हो।
 - (ii) प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिलना चाहिये। यदि रोजगार न मिल सके तो कम से कम गुजारा भत्ता अवश्य मिलना चाहिये।
 - (iii) उत्पादन के महत्वपूर्ण साधनों पर व्यक्तिगत नहीं, सार्वजनिक स्वामित्व होना चाहिये।
 - (iv) भूमि एवं बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये।
 - (v) व्यक्तिगत संपत्ति को स्वीकार किया जा सकता है किंतु अधिकतम सीमाओं के साथ, ताकि वर्ग अंतराल ज्यादा न बढ़े।
4. राज्य के स्तर पर समाजवादी लोकतंत्र के समर्थक लोककल्याणकारी राज्य का समर्थन करते हैं।
5. समाज में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता ज़रूर मिलनी चाहिये किंतु सकारात्मक अर्थ में, न कि नकारात्मक अर्थ में। प्रत्येक व्यक्ति को उतनी ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिये जितनी तात्त्विक अर्थों में दी जा सकती है।
6. समाज के जो वर्ग वंचित हैं, उनके लिये संरक्षणात्मक भेदभाव तथा सामाजिक न्याय की व्यवस्था की जानी चाहिये।

आलोचना

1. मार्क्सवादियों के अनुसार इन्होंने मूल समस्या को तो पहचान लिया है किंतु इनका समाधान पक्ष अधूरा है। बिना हिंसक क्रांति के आर्थिक समता नहीं आ सकती है।

2. रॉबर्ट नोजिक के अनुसार, किसी भी प्रकार का संरक्षणात्मक भेदभाव वस्तुतः व्यक्ति की अधिकारिता का उल्लंघन ही है।
3. स्वेच्छातंत्रवादियों के अनुसार ये चिंतक राज्य को अत्यधिक शक्तियाँ देते हैं जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता खंडित होती है।
4. अराजकतावादी दार्शनिकों के अनुसार राज्य को अधिक शक्तियाँ मिलने से समरूपता का खतरा पैदा होता है। अतः यह सिद्धांत विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तिगत वैविध्य को समाप्त करने का प्रयास करता है।

लोकतंत्र एक जीवन प्रणाली के रूप में (*Democracy as a way of life*)

लोकतंत्र के दो अर्थ हैं— सीमित तथा व्यापक। सीमित अर्थ में यह एक शासन प्रणाली है जिसमें सभी वयस्क नागरिक अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं व प्रतिनिधियों के माध्यम से स्वयं शासन चलाते हैं। किंतु, व्यापक अर्थ में लोकतंत्र एक 'जीवन प्रणाली' (Way of life) है जो कुछ मूल्यों के आधार पर व्यक्ति तथा समाज के संपूर्ण जीवन को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है। इसे लोकतंत्र का मानकीय (Normative) पक्ष भी कहा जाता है। माना जाता है कि शासन प्रणाली के तौर पर लोकतंत्र उन्हीं देशों में ज्यादा सफल हो पाता है जिनमें सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर लोकतंत्र जीवन प्रणाली बन चुका है। भारतीय समाज इसका एक प्रमुख उदाहरण है।

लोकतंत्र कुछ ऐसे मूल्यों पर टिका है जो किसी भी अन्य राजनीतिक व्यवस्था में नहीं पाए जाते हैं। यह अकेली व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की विवेकशीलता का सम्मान किया जाता है। शेष राजनीतिक प्रणालियों, जैसे- राजतंत्र, धर्मतंत्र, अल्पतंत्र व कुलीनतंत्र आदि में एक या कुछ ही व्यक्तियों को शासन कार्य हेतु योग्य माना जाता है जबकि लोकतंत्र प्रत्येक व्यक्ति को यह सम्मान देता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति जिम्मेदार नागरिक बनता है क्योंकि उसका जीवन अंततः उसी के निर्णयों से निर्धारित होता है।

लोकतंत्र समन्वय के मूल्य पर टिका है। यह व्यक्ति के चिंतन व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बुनियादी अधिकार मानता है। इससे समाज में समरूपता (Homogeneity) का खतरा कम होता है व प्रत्येक व्यक्ति को अपनी विशिष्टता के साथ जीने की स्वतंत्रता मिलती है। भारतीय दर्शन में कहा गया है "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् सत्य एक ही है जिसे बुद्धिमान लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से कहते हैं। भारतीय संस्कृति का ही एक अन्य प्रमुख सूत्र है- 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का मत भिन्न होता है। लोकतंत्र इसी भिन्नता का संरक्षक है। उसका विश्वास है कि वैचारिक भिन्नता के आधार पर किसी व्यक्ति के मत का दमन नहीं होना चाहिये। यही मूल्य लोकतंत्र का सारतत्त्व है जो व्यक्ति को सिर्फ कठपुतली नहीं अपितु चिंतनशील मनुष्य का दर्जा देता है।

लोकतंत्र सिर्फ शासन प्रणाली के स्तर पर सीमित नहीं रहता बल्कि 'समाज' के जीवन में भी प्रवेश कर जाता है। 'सामाजिक लोकतंत्र' एक सार्थक शब्द है किंतु 'सामाजिक राजतंत्र' या 'सामाजिक तानाशाही' निरर्थक शब्द हैं। सामाजिक लोकतंत्र का अर्थ है लोकतांत्रिक मूल्यों का समाज की मानसिकता व सामाजिक मानदंडों में शामिल हो जाना। इस धारणा के अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार, सम्मान व प्रतिष्ठा का वितरण न्यायपूर्ण तरीके से होना चाहिये। यदि समाज में धर्म, जाति, नस्ल या लिंग के आधार पर विषमता की स्थिति है तो चाहे उस देश में राजनीतिक लोकतंत्र कायम हो, वह सामाजिक लोकतंत्र की कसौटियों पर खरा नहीं उतरेगा।

लोकतंत्र अर्थव्यवस्था से भी जुड़ा है व 'आर्थिक लोकतंत्र' बन जाता है। आर्थिक लोकतंत्र का अर्थ है कि अर्थव्यवस्था में सभी व्यक्तियों की भागीदारी न्यायपूर्ण होनी चाहिये। यदि कुछ वर्ग बेहद सम्पन्न हों व कुछ

वर्ग जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं से ही वंचित हों तो वह आर्थिक लोकतंत्र के अभाव का सूचक है। इसी प्रकार लोकतंत्र का एक अन्य आयाम नीतिमीमांसीय पक्ष में दिखता है जिसे 'नैतिक लोकतंत्र' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि समाज के विभिन्न वर्गों के लिये नैतिक नियम विभेदकारी हैं तो यह गलत व्यवस्था है, जैसे पुरुषों व नारियों हेतु भिन्न नैतिक मान्यताओं की उपस्थिति ऐसा ही उदाहरण है।

लोकतंत्र एक विशेष संस्कृति को जन्म देता है जिसे वाल्टर बेजहॉट के शब्दों में 'चर्चा की संस्कृति' कह सकते हैं। लोकतंत्र सामूहिक चिंतन व निर्णयन की प्रक्रिया पर आधारित व्यवस्था है जिसके लिये चर्चा अपेक्षित होती है। जब समाज में चर्चा का माहौल बनता है तो दमन व वर्चस्व की संस्कृति कमजोर पड़ती है। चर्चा की संस्कृति उस मानसिकता का निर्माण करती है जिसमें किसी पर निर्णय थोपे नहीं जाते बल्कि मिल-जुलकर सहमतिपूर्वक लिये जाते हैं। ऐसा समाज आंतरिक स्तर पर ज्यादा मानवीय व लोकतांत्रिक होता है।

लोकतांत्रिक मानसिकता इतने ही पक्षों तक सीमित नहीं रहती, वह जीवन के हर पक्ष को छूती है। आज के भूमंडलीकरण के समय में वैश्विक समाज को न राजतंत्र चला सकता है व न धर्मतंत्र। इसे लोकतंत्र ही आगे बढ़ा सकता है। इतना ही नहीं, मानव व प्रकृति के संबंधों में जब तक हमारा नजरिया तानाशाहीपरक रहेगा, तब तक प्रकृति की सुरक्षा संभव नहीं है। लोकतांत्रिक नजरिया ही यह महसूस करा सकता है कि मनुष्य को अन्य मानवों के साथ-साथ प्रकृति के प्रति भी समतामूलक व संवेदनमूलक मानसिकता रखनी चाहिये। ऐसी मानसिकता ही पारिस्थितिकीय संकट सुलझा सकती है। आतंकवाद, नस्लवाद, जीनोसाइड, लिंग विभेद जैसी समस्याओं का एक बड़ा कारण यही है कि सामान्यतः सभी देशों व समाजों ने लोकतंत्र को सिर्फ 'शासन प्रणाली' समझा है, उसे 'जीवन प्रणाली' नहीं बनाया है।

योग्यतातंत्र या गुणतंत्र क्या है? इसका लोकतंत्र से कैसा संबंध है?

योग्यतातंत्र कोई निश्चित प्रणाली नहीं, एक विचार है जिसके अनुसार सत्ता का संचालन सर्वाधिक योग्य व्यक्तियों द्वारा होना चाहिये। व्यापक रूप से इसका अर्थ यह भी है कि समाज में धन, सत्ता और प्रतिष्ठा का वितरण प्रत्येक व्यक्ति को उसके गुणों के अनुपात में होना चाहिये। इस विचार के आरम्भिक संकेत प्लेटो के 'दार्शनिक राजा' के विचार में और अरस्तू की 'वितरणमूलक न्याय' की धारणा में दिखते हैं। आधुनिक काल में उदारवादी दार्शनिकों जॉन लॉक, हरबर्ट स्पेंसर और एडम स्मिथ के अतिरिक्त नोजिक और हेयक जैसे स्वेच्छातंत्रवादी विचारकों ने भी 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' के सिद्धांत के आधार पर इसका समर्थन किया है। विशिष्टवर्गवादी विचारकों पैरेटो, मोस्का इत्यादि भी स्पष्टतः इसके समर्थक हैं। इनके अतिरिक्त डार्विन ने अस्तित्व की दृष्टि से, नीत्शे ने शक्ति संघर्ष के आधार पर तथा डेविस, मूर तथा पारसनस ने प्रकायवादी दृष्टिकोण के आधार पर इसका समर्थन किया है। इकबाल ने भी लोकतंत्र के विरोध में कुछ ऐसे विचार व्यक्त किये हैं जिनसे गुणतंत्र का समर्थन प्रतीत होता है।

आलोचना

1. यदि वितरणमूलक न्याय का पैमाना गुण है तो यह प्रश्न भी उठता है कि व्यक्ति में किसी गुण के विकसित होने का कारण क्या है? प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक कॉडवेल ने रसेल के साथ प्रसिद्ध विवाद में तर्क दिया था कि व्यक्ति की योग्यता स्वयं उसकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से निर्धारित होती है। गांधीजी ने भी यह विचार स्वीकार किया है और इसी के आधार पर व्यक्ति को अपने द्वारा उत्पादित धन का स्वामी नहीं, सिर्फ संरक्षक माना है।
2. मेल्बिन ट्यूमिन तथा कई अन्य समाजशास्त्रियों का दावा है कि व्यक्ति की योग्यता का वस्तुनिष्ठ पद्धति से अंकन करना आज तक संभव नहीं हुआ। योग्यता का निर्धारण जब भी होता है, वह मूल्यांकन आत्मनिष्ठ ही होता है। आत्मनिष्ठ मूल्यांकन के आधार पर समाज में ऊँच-नीच पैदा करना गलत है।

3. समाज में सभी व्यक्ति अपना योगदान देते हैं, तभी व्यवस्था काम करती है। इसलिये सभी व्यक्तियों के कार्यों को समान महत्त्व मिलना चाहिये। गांधी और मार्क्स दोनों का मत है कि वितरणमूलक न्याय की आदर्श व्यवस्था योग्यता के आधार पर नहीं, व्यक्ति की आवश्यकताओं के आधार पर निर्मित होती है। गांधी जी का कथन है कि वकील व नाई दोनों को समान वेतन मिलना चाहिये क्योंकि दोनों की मानवीय आवश्यकताएँ समान होती हैं।
4. माइकल यंग ने अपने प्रसिद्ध व्यंग्य-लेख 'The Rise of Meritocracy' में योग्यतातंत्र की विस्तृत आलोचना की है। उसके अनुसार, यदि वितरण का आधार गुण और योग्यता को मान लें तो समाज में शोषक तथा वंचित वर्गों का अंतराल और बढ़ जाता है क्योंकि सभी गुणी व्यक्ति उच्च वर्ग में तथा कम गुणों वाले व्यक्ति निम्न वर्ग में आ जाते हैं। यही स्थिति अगली पीढ़ियों में संचरित होती रहती है। इससे निम्न वर्ग का आत्मविश्वास पूर्णतः समाप्त हो जाता है।
5. योग्यताओं के निर्धारण की प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न मात्रा में होती हैं। यह भी होता है कि एक योग्यता जो किसी विशेष व्यक्ति में अनुपस्थित थी, वही आगे चलकर उसमें अन्य व्यक्तियों से अधिक विकसित हो जाए। यह निर्णय करना कि कौन सी योग्यता अन्य योग्यताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है, आसान नहीं है। अरस्तू के अनुसार लोक परंपराओं तथा संपत्ति की दृष्टि से यह फैसला होना चाहिये किंतु इसमें स्पष्टतः कुलीनतावाद और यथास्थितिवाद दिखाई पड़ता है। डार्विन, स्पेंसर और नीत्शे के अनुसार यह अस्तित्व तथा शक्ति के संघर्ष से तय होना चाहिये किंतु यह केवल पाशविक शक्ति का पैमाना है। उदारवादियों तथा स्वेच्छातंत्रवादियों के अनुसार योग्यता का निर्धारण बाज़ार से होता है किंतु बाज़ार मांग और पूर्ति के जिस यांत्रिक नियम से परिचालित होता है, उसमें समाज का नुकसान करने वाले कई व्यक्ति सफल हो जाते हैं (जैसे शराब और सिगरेट के निर्माता) जबकि समाज का भला चाहने वाले कई लोग (जैसे संस्कृतिकर्मी, साहित्यकार या सामाजिक कार्यकर्ता) विफल हो जाते हैं। अतः योग्यता के निर्धारण की हर विधि एक संकीर्ण दृष्टि से योग्यता की पैमाइश करती है और इस आधार पर यदि संपूर्ण वितरण कर दिया जाए तो यह वितरणमूलक अन्याय ही होगा, न्यायपूर्ण नहीं।

योग्यता और लोकतंत्र में संबंध

1. सामान्य रूप से लोकतंत्र और गुणतंत्र में विरोध है, क्योंकि सबसे अच्छे निर्णय लेने के लिये वे व्यक्ति चाहियें जिनमें राजनीतिक विवेक सबसे अधिक हो (प्लेटो, इकबाल, विशिष्ट वर्गवादी विचारक)।
2. किंतु यह भी सत्य है कि लोकतंत्र में निर्णय लेने की प्रक्रिया सामूहिक चर्चाओं पर आधारित होती है। अरस्तू और वॉल्टर बेजहाट ने कहा है कि चर्चा के आधार पर जब दो या अधिक व्यक्ति निर्णय लेते हैं तो निर्णय बेहतर होता है।
3. यदि लोकतंत्र में सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ बेहतर हों और प्रत्येक व्यक्ति तार्किक शिक्षा तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति से युक्त हो तो संभावना बनती है कि लोकतांत्रिक प्रणाली ही योग्यता के उच्चतम स्तर पर पहुँच जाए।

व्यक्ति एवं राज्य संबंध (Individual and State Relation)

व्यक्ति और राज्य के संबंधों के विभिन्न पक्षों में से एक अधिकार है और एक कर्तव्य। अधिकार से पता चलता है कि व्यक्ति को राज्य से क्या-क्या प्राप्त होना चाहिये जबकि कर्तव्य से पता चलता है कि राज्य को व्यक्ति से क्या प्राप्त होना चाहिये?

अधिकार (Rights)

अधिकारों की धारणा आधुनिक काल की है। प्राचीन काल में आदर्शवाद जैसी विचारधाराएँ प्रमुख थीं जिनमें व्यक्ति के कर्तव्यों की ही बात की गई थी, अधिकारों की नहीं। मध्यकाल में नामवादियों तथा वस्तुवादियों (Realists) की राजनीतिक बहस में अधिकारों की संक्षिप्त चर्चा दिखाई पड़ती है किंतु वहाँ भी कोई निश्चित सिद्धांत नहीं बना। आधुनिक काल में पुनर्जागरण, वैज्ञानिक क्रांति व औद्योगिक क्रांति के कारण जब पूंजीवाद का विकास हुआ तो उभरते हुए पूंजीवादी वर्ग को सामंत वर्ग के विशेषाधिकारों से समस्या महसूस हुई। इस वर्ग को सामंतों से संघर्ष के लिये अधिकारों की आवश्यकता हुई। इसीलिये उदारवादी दर्शन के शुरुआती दार्शनिक जॉन लॉक के विचारों से ही अधिकार संबंधी चिंतन दिखने लगता है।

अधिकारों की परिभाषा विभिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। मोटे तौर पर अधिकार का अर्थ राज्य द्वारा व्यक्ति को दी जाने वाली उन परिस्थितियों से है जिनमें उसे अपने विकास का अवसर मिलता है। लास्की ने अधिकारों की परिभाषा देते हुए कहा कि 'अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना आमतौर पर कोई व्यक्ति पूर्ण आत्म-विकास की आशा नहीं कर सकता।'

अधिकारों की उदारवादी व्याख्या

अधिकारों के सिद्धांत की शुरुआत उदारवाद से हुई किंतु उदारवाद के भीतर अधिकारों के कई सिद्धांत प्रचलित हैं। प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं—

- 1. प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत:** इस चरण की शुरुआत लॉक के साथ ही हुई। लॉक का दावा है कि व्यक्ति को अधिकार राज्य ने नहीं, प्रकृति ने दिये हैं। राज्य का जन्म ही इसलिये हुआ है कि वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त अधिकारों की रक्षा कर सके। उसने तीन अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार माना—जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार तथा संपत्ति का अधिकार। अठारहवीं सदी में फ्राँसीसी तथा अमेरिकी क्रांतियों में ऐसे ही अधिकारों की मांग की गई। ध्यातव्य है कि सामाजिक समझौते के सिद्धांत को हॉब्स और रूसो ने भी माना था किंतु 'व्यक्ति' को जितना महत्त्व लॉक ने दिया, वे दोनों नहीं दे सके।
- 2. कानूनी अधिकार:** बेंथम व मिल ने प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर कानूनी अधिकारों की बात की। इनका स्पष्ट मत है कि प्रकृति मनुष्य को कोई अधिकार नहीं देती। यदि प्रकृति ने जीवन का अधिकार दिया होता तो जानलेवा प्राकृतिक दुर्घटनाएँ क्यों होतीं? अधिकार तभी अस्तित्व में आते हैं जब राज्य कानून बनाकर उन्हें लागू करता है। बेंथम का स्पष्ट कथन है कि 'अधिकार कानूनों तथा केवल कानूनों का फल है।' सीमित रूप से रूसो भी इस सिद्धांत का समर्थन करता है।

3. **नैतिक अधिकार:** इसके बाद **रूसो**, **कांट** तथा **ग्रीन** जैसे दार्शनिकों ने नैतिक अधिकार का सिद्धांत दिया। रूसो व कांट उदारवादियों में शामिल नहीं हैं किंतु इनका प्रभाव उदारवाद पर दिखता है। रूसो ने माना कि व्यक्ति के अधिकार सामान्य इच्छा के अधीन होते हैं क्योंकि उसी के अनुसार वह नैतिक जीवन जी सकता है। कांट ने कहा कि नैतिक स्वतंत्रता मनुष्य का साध्य है। उसकी प्राप्ति में कुछ बाधाएँ आती हैं जिन्हें हटाना राज्य का काम है। राज्य अधिकारों के माध्यम से यही करता है। अतः अधिकार आंतरिक विकास की बाहरी आवश्यकताएँ हैं। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति को नैतिक विकास के लिये स्वतंत्रता चाहिये, स्वतंत्रता के लिये अधिकार चाहिये और अधिकारों के लिये राज्य की जरूरत होती है।
4. **ऐतिहासिक अधिकार:** **एडमंड बर्क** का दावा है कि अधिकारों की उत्पत्ति इतिहास द्वारा हुई है। जब कोई प्रथा समाज में कायम हो जाती है और उसे समाज द्वारा वैधता मिल जाती है तो उसी से अधिकार पैदा होते हैं।
5. **लोक कल्याणकारी सिद्धांत:** उदारवाद के अंतर्गत अधिकारों का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत लोक कल्याणकारी सिद्धांत है। इसकी शुरुआत उत्तरकालीन मिल के चिंतन से हुई किंतु **लास्की** और **मैक्सवर्सन** के विचारों में यह पूर्णतः स्पष्ट हुआ।

अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत

मार्क्सवादियों ने अधिकारों के संबंध में उदारवादियों से भिन्न सिद्धांत दिया है। उनके अनुसार अधिकार न प्राकृतिक होते हैं, नैतिक न और न ही कानूनी; ये ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज होते हैं तथा समाज के वर्गीय ढाँचे को अभिव्यक्त करते हैं। दास व्यवस्था या सामंतवाद के दौर में घोषित रूप से अधिकार सिर्फ उच्च वर्गों के होते थे। पूंजीवाद में मजदूरों का दबाव पड़ने के कारण और लोकतंत्र जैसी व्यवस्था कायम होने के कारण ऐसा दिखाना जरूरी हो जाता है कि मजदूरों के पास भी अधिकार हैं; किंतु तात्त्विक रूप से सारे अधिकार पूंजीपतियों के पास ही होते हैं। उदाहरण के लिये, सम्पत्ति का अधिकार पूंजीवाद में मूल अधिकार माना जाता है जो वस्तुतः वर्ग विभेद को स्थायित्व प्रदान करने का ही तरीका है। मजदूर या निम्नवर्ग को जीवन का अधिकार, व्यवसाय का अधिकार तथा स्वतंत्रता का अधिकार दिया जाता है किंतु ऐसी परिस्थितियाँ नहीं दी जाती कि वह अधिकारों का भोग कर सके। क्षमता के अनुसार काम और काम के अनुसार वेतन पूंजीवाद का दिखावटी नियम है। वस्तुतः किसी श्रमिक को वेतन उसके काम के बराबर नहीं बल्कि बाजार मूल्य के बराबर मिलता है जो उसके कार्य के वास्तविक मूल्य से काफी कम होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार सर्वहारा की तानाशाही में अधिकारों का स्वरूप बदलता है। इस व्यवस्था के समय सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व होता है, इसलिये तात्त्विक रूप से अधिकार उसी के पास होते हैं। स्वतंत्रता का अधिकार तानाशाही के दौरान स्थगित करना पड़ता है किंतु शेष सभी अधिकार अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में ज्यादा बेहतर रूप में उपलब्ध होते हैं। सोवियत संघ ने (विशेषतः 1977 के बाद) ऐसे अधिकारों की व्यवस्था की, जैसे अपनी रुचि के अनुसार आजीविका का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, चिकित्सा का अधिकार तथा निश्चित मात्रा में श्रम करने के बाद आराम का अधिकार। मार्क्सवादी मानते हैं कि समाजवाद या सर्वहारा की तानाशाही की अवस्था अधिकारों की दृष्टि से आदर्श नहीं है क्योंकि इस संक्रमणकाल में क्षमतानुसार कार्य तथा कार्यानुसार वेतन का वही नियम लागू करना पड़ता है जो पूंजीवाद का नियम है। फिर भी, यह पूंजीवाद से बेहतर स्थिति है क्योंकि यहाँ काम के अनुसार वेतन का निर्धारण मांग और पूर्ति के जड़ नियम के आधार पर नहीं होता बल्कि श्रम के वास्तविक मूल्य के आधार पर होता है।

साम्यवाद अधिकारों की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। इस समय उत्पादन की शक्तियाँ वैज्ञानिक तकनीकी विकास के कारण पूर्णतः विकसित हो चुकी होती हैं, इसलिये कार्यानुसार वेतन का नियम खत्म हो जाता है और आवश्यकतानुसार वेतन का नियम लागू होता है। यहाँ राज्य नहीं होता किंतु सारे अधिकार होते हैं क्योंकि

अधिकारों के लिये राज्य का अस्तित्व नहीं, नास्तित्व जरूरी है। प्रत्येक व्यक्ति सृजनात्मक स्वतंत्रता के अधिकार के साथ-साथ रुचि के अनुसार श्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि सभी अधिकार प्राप्त करता है।

अन्य विचारधाराओं का दृष्टिकोण

अधिकारों के संबंध में मुख्यतः उदारवादियों और मार्क्सवादियों ने ही विचार किया है। बाकी विचारधाराओं में सर्वाधिकारवादियों और अधिकांश आदर्शवादियों के अनुसार व्यक्ति के पास कोई अधिकार नहीं हैं, सारे अधिकार राज्य में निहित हैं। व्यक्ति के पास केवल कर्तव्य है। इसके विपरीत, अराजकतावादियों का विचार है कि राज्य के पास अपने अस्तित्व का भी नैतिक अधिकार नहीं है। जब तक राज्य खत्म न हो तब तक उसे न्यूनतम शासन करना चाहिये ताकि व्यक्ति अधिकाधिक अधिकारों का प्रयोग कर सके। आदर्श स्थिति में राज्य को समाप्त हो जाना चाहिये ताकि व्यक्ति को पूर्ण अधिकार मिल सकें।

भारत की स्थिति

भारतीय संविधान में मुख्यतः नकारात्मक अधिकारों का विवरण है, जैसे- चिंतन व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विचरण की स्वतंत्रता, आजीविका की स्वतंत्रता आदि। भारतीय राज्य का दृष्टिकोण तो समाजवादी रहा है किंतु आर्थिक संसाधनों की कमी के कारण सकारात्मक अधिकारों की विशेष व्यवस्था हो नहीं सकी है। तब भी, राज्य ने कुछ ऐसे प्रयास किये हैं जो सकारात्मक अधिकारों की स्थापना में सहायक हैं। उदाहरण के लिये, प्राथमिक शिक्षा को मूल अधिकार का दर्जा देना, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों व महिलाओं को आरक्षण देकर समानता के सकारात्मक अधिकार की स्थापना करना, भूमि सुधार, बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके आर्थिक समानता व स्वतंत्रता को सुनिश्चित करना आदि।

लास्की का अधिकार संबंधी दृष्टिकोण/लोक कल्याणकारी दृष्टिकोण

लास्की ने अधिकारों पर व्यापक चिंतन किया है। उसने नकारात्मक अधिकारों के साथ-साथ सकारात्मक अधिकारों पर काफी बल दिया है। उसका दावा है कि किसी भी राज्य की पहचान उन अधिकारों से होती है जो वह अपने नागरिकों को देता है।

ग्रीन के प्रभाव में लास्की ने स्वीकार किया कि अधिकारों का उत्पत्तिकर्ता राज्य नहीं है बल्कि अधिकार राज्य से कहीं ऊँचे हैं। राज्य अधिकारों को वैधता प्रदान नहीं करता बल्कि अधिकार देकर राज्य स्वयं वैधता प्राप्त करता है।

लास्की के अनुसार राज्य अधिकारों को छीन नहीं सकता क्योंकि अधिकार उसने पैदा नहीं किये हैं। राज्य व्यक्ति ही नहीं, अन्य संस्थाओं के अधिकार भी नहीं छीन सकता क्योंकि समाज का ढाँचा बहुलवादी है, एकलवादी नहीं। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति को राज्य के खिलाफ भी अधिकार मिलने चाहियें। यदि राज्य अधिकार नहीं देता है तो उसे अपनी आज्ञाओं के पालन की उम्मीद करने का कोई हक नहीं है। वह व्यक्ति को भी सलाह देता है कि यदि राज्य उसे अधिकार न दे तो वह राज्य की आज्ञाओं का पालन न करे।

लास्की ने कई नकारात्मक तथा सकारात्मक अधिकारों का समर्थन किया है। वह भाषण तथा अभिव्यक्ति के अधिकार का प्रबल समर्थक है जो कि एक नकारात्मक अधिकार है। वह रोजगार तथा शिक्षा जैसे सकारात्मक अधिकारों का भी समर्थन करता है। वह संपत्ति के अधिकार को इस शर्त पर स्वीकार करता है कि वह स्वतंत्रता और समानता में बाधक न बने।

लास्की के बाद उदारवाद में अधिकारों का कोई स्वतंत्र सिद्धांत विकसित नहीं हुआ किंतु समतावादियों और स्वेच्छातंत्रवादियों ने पहले के अधिकार-सिद्धांत की पुनर्व्याख्या की। मैक्फर्सन ने सृजनात्मक स्वतंत्रता के

अधिकार की वकालत की और दावा किया कि आदर्श लोकतंत्र का मूल्यांकन इसी स्वतंत्रता के आधार पर हो सकता है। नोजिक ने लॉक की ही परंपरा को आगे बढ़ाया और संपत्ति के अधिकार को सभी अधिकारों का मूल बताया।

उदारवाद तथा मार्क्सवाद के दृष्टिकोण में अंतर

अधिकारों के उदारवादी तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण में निम्नलिखित प्रमुख अंतर हैं—

1. उदारवाद व्यक्ति के अधिकारों की बात करता है जबकि मार्क्सवाद समाज के अधिकारों की। जो अधिकार समाज में सभी को उपलब्ध हैं मार्क्सवाद व्यक्ति को वही अधिकार देता है।
2. उदारवाद के अनुसार अधिकार व्यक्ति में प्राकृतिक रूप से ही निहित हैं जबकि मार्क्सवाद इन्हें इतिहास तथा वर्ग संबंधों की देन मानता है।
3. उदारवाद दावा करता है कि अधिकार सबके लिये समान होते हैं। मार्क्सवाद का मत है कि वर्ग विभाजित समाज में अधिकार वस्तुतः उच्च वर्ग को ही हासिल होते हैं। साम्यवाद में ही सभी व्यक्तियों को अधिकार मिल पाते हैं।
4. उदारवाद अधिकार और कर्तव्य को भिन्न किंतु परस्पर संबंधित मानता है जबकि मार्क्सवाद के अनुसार अधिकार व कर्तव्य एक ही हैं।
5. उदारवाद मुख्यतः नकारात्मक दृष्टिकोण से अधिकारों की व्याख्या करता है हालाँकि लास्की आदि ने सकारात्मक दृष्टि को अपनाया है। मार्क्सवाद सकारात्मक दृष्टिकोण से आगे बढ़कर क्रांतिकारी दृष्टिकोण पर बल देता है।
6. उदारवाद के अनुसार समाज के 'सामान्य हित' के लिये ही अधिकारों पर अंकुश लगाया जा सकता है। मार्क्सवाद का दावा है कि सामान्य हित होते ही नहीं, हित सिर्फ वर्गीय होते हैं। अतः निम्न वर्ग के हित में उच्च वर्ग के अधिकारों पर नियंत्रण करना नैतिक रूप से उचित है।
7. उदारवाद नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों को ज़्यादा महत्त्व देता है जबकि मार्क्सवाद आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को।

कर्तव्य (Duties)

कर्तव्यों के संबंध में राजनीति-दर्शन में काफी विवाद है। आदर्शवादियों, सर्वाधिकारवादियों तथा राजतंत्र, तानाशाही व धर्मतंत्र के समर्थकों ने व्यक्ति को सिर्फ कर्तव्य दिये हैं, अधिकार नहीं। उनका दावा है कि राज्य की समस्त आज्ञाओं का पालन करना ही व्यक्ति का कर्तव्य है। इसके विपरीत, अराजकतावादियों का दावा है कि व्यक्ति मूलतः अधिकारों से युक्त है और वे अधिकार स्वयं कर्तव्यबोध पैदा करते हैं। राज्य अपने पास जिन अधिकारों के होने का दावा करता है, वे स्वयं भी अवैध हैं।

कर्तव्यों के संबंध में मुख्य रूप से उदारवादियों और मार्क्सवादियों ने चिंतन किया है। आरम्भिक उदारवादियों ने व्यक्ति के अधिकारों तथा राज्य के कर्तव्यों पर बल दिया, व्यक्ति के सामाजिक कर्तव्यों पर बल नहीं दिया। उन्होंने सिर्फ इतना माना कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों के साथ अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का भी सम्मान करना चाहिये। इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है— दूसरों के अधिकारों का सम्मान करना।

सकारात्मक उदारवाद में लास्की जैसे चिंतकों ने अधिकारों तथा कर्तव्यों में गहरे संबंध की व्याख्या की है। लास्की ने कहा कि अधिकारों की मूल प्रकृति ही सामाजिक होती है, इसलिये वे कर्तव्यों से गहराई से संबंधित होते हैं। व्यक्ति को अधिकार दिये ही इसलिये जाते हैं कि वह सामाजिक कर्तव्यों का निष्पादन ठीक तरह से कर सके। उदाहरण के लिये, जीवन के अधिकार में निहित है कि वह सभी के जीवन का महत्त्व समझे और शिक्षा के अधिकार में निहित है कि वह शिक्षा से अर्जित लाभों को समाज को देने में भी हिचकिचाए

नहीं। इसी प्रकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार इस कर्तव्य पर टिका है कि वह दूसरों की अभिव्यक्ति को स्वीकार करने में समर्थ हो।

मार्क्सवादियों ने अधिकार और कर्तव्य में गहरा संबंध देखा है। मार्क्स ने कहा है-“बिना कर्तव्यों के कोई अधिकार नहीं और बिना अधिकार के कोई कर्तव्य नहीं।” मार्क्स के अनुसार अधिकार और कर्तव्य में कोई भेद नहीं है। काम के अधिकार का मतलब है काम करने का दायित्व और समानता का अर्थ है सभी के साथ समान व्यवहार करने का कर्तव्य। वस्तुतः कर्तव्य ज़्यादा प्राथमिक हैं। सामाजिक व्यक्ति के सामाजिक दायित्व ही कर्तव्य हैं और अधिकार इनके लिये सहायक परिस्थितियाँ ही हैं।

भारत के संविधान में 42वें संशोधन के माध्यम से 10 मूल कर्तव्यों को शामिल किया गया था और बाद में एक और कर्तव्य को जोड़ दिया गया। उदारवादी ढाँचा होने के कारण राज्य व्यक्ति को इनकी पूर्ति के लिये बाध्य नहीं करता। इसका एक कारण यह भी है कि आर्थिक संसाधनों की कमी के कारण समाज के बहुसंख्यक वर्ग को तात्त्विक रूप में अधिकार नहीं मिल सके हैं। ऐसे में गरीब वर्गों पर मूल कर्तव्यों को यदि कानूनी रूप से थोप दिया जाए तो यह उन्हें अधिकारों से और अधिक वंचित करने के समान होगा। भारतीय संविधान में नीति निर्देशक तत्व भी हैं जो राज्य के कर्तव्य हैं। इस अर्थ में, भारतीय संविधान व्यक्ति तथा राज्य दोनों के कर्तव्यों की व्यवस्था करता है।

उत्तरदायित्व (Accountability)

उत्तरदायित्व 'एकाउन्टेबिलिटी' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। यह शब्द अर्थव्यवस्था के क्षेत्र (विशेषतः आर्थिक लेन-देन) से निकला है। यदि कोई व्यक्ति किसी से धन उधार लेता था तो उसकी लेखा-पुस्तकों में उधार लेने वाले व्यक्ति का नाम दर्ज होता था। लेखा पुस्तकों में लिखित इस रकम को चुकाने की ज़िम्मेदारी ही 'एकाउन्टेबिलिटी' कहलाती थी। वर्तमान में इस शब्द का प्रयोग राजनीतिक दर्शन में भिन्न प्रकार से होता है। अब इसका अर्थ है कि राज्य या राजकीय कर्मचारियों का जनता के प्रति या समाज के प्रति क्या उत्तरदायित्व है?

उत्तरदायित्व की धारणा आधुनिक काल की है। प्राचीन काल में राज्य के संबंध में आदर्शवादी विचारधारा प्रचलित रही जो राज्य को ईश्वर का प्रतिनिधि मानती थी। धर्मतंत्रों में भी लगभग यही व्यवस्था बनी रही। इन व्यवस्थाओं में व्यक्ति राज्य के प्रति उत्तरदायी था, न कि राज्य व्यक्ति के प्रति। आगे चलकर राजतंत्र व तानाशाही जैसी व्यवस्थाएँ विकसित हुईं किंतु इनमें भी राज्य की सर्वोच्चता के सामने व्यक्ति का कोई महत्त्व न था। यहाँ भी व्यक्ति का ही उत्तरदायित्व था कि वह राज्य की आज्ञानुसार जीवन जिये। आधुनिक काल के आरंभिक चिंतकों जैसे हॉब्स और आदर्शवादी चिंतकों, जैसे- रूसो, कांट, हीगेल ने भी राज्य को ही अधिकार दिये तथा व्यक्ति के उत्तरदायित्वों पर बल दिया।

राज्य के उत्तरदायित्व का विचार वस्तुतः उदारवाद के साथ पैदा हुआ जहाँ राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या यांत्रिक दृष्टिकोण से की गई। इसमें माना गया कि व्यक्ति साध्य है और व्यक्तियों ने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिये राज्य का निर्माण किया है। राज्य न प्राकृतिक है, न नैतिक। वह एक अनिवार्य बुराई है। उसका उत्तरदायित्व सिर्फ इतना है कि वह दौड़ के वस्तुनिष्ठ नियम बनाए और इस बात की लगातार निगरानी रखे कि कोई व्यक्ति इन नियमों को व्यक्तिगत लाभ के लिये न तोड़े। इसके अतिरिक्त, राज्य अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करता है, वह समाज से लेकर जो धन खर्च करता है उसकी विधि उचित है या नहीं, उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता को जितना सीमित किया है वह ज़रूरी है या नहीं-इन सभी पक्षों पर व्यक्ति को राज्य से उत्तर मांगने का अधिकार है।

आधुनिक उदारवादियों जैसे लास्की तथा समतावादियों जैसे मैक्फर्सन ने राज्य के उत्तरदायित्वों को और ज़्यादा बढ़ा दिया है। राज्य का उत्तरदायित्व सिर्फ वस्तुनिष्ठ नियम बनाने और उनकी सतत् निगरानी करने तक

सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक न्याय, वितरणमूलक न्याय आदि के संबंध में भी है। राज्य का यह भी दायित्व है कि वह व्यक्ति को अधिक से अधिक जागरूक व परिपक्व बनाए ताकि वह राज्य से उत्तर मांग सके। मैक्फर्सन ने सहभागितामूलक लोकतंत्र के अपने सिद्धांत में इस बिंदु पर विशेष बल दिया है कि जनसाधारण की राजनीतिक सहभागिता अधिक से अधिक बढ़नी चाहिये ताकि वह राज्य के उत्तरदायित्वों का सतत् परीक्षण कर सके। 'सूचना का अधिकार' जैसी युक्तियाँ इसके लिये प्रमुख हैं।

मार्क्सवादियों ने उत्तरदायित्व की व्याख्या भिन्न प्रकार से की। इनका दावा है कि राज्य वस्तुतः सिर्फ उच्च वर्ग के प्रति उत्तरदायी होता है। पूंजीवाद से पहले दास व्यवस्था और सामंतवाद में यह बात साफ तौर पर दिखती है क्योंकि इन अवस्थाओं में राज्य घोषित तौर पर उच्च वर्ग के विशेषाधिकारों का संरक्षण करता है। पूंजीवाद जब उदार लोकतंत्र को जन्म देता है तो राज्य यह जाहिर करता है कि वह सभी वर्गों के हितों के प्रति उत्तरदायी है; किंतु तात्त्विक रूप से वहीं की वहीं स्थिति बनी रहती है। उदार लोकतंत्र में चुनाव आदि की व्यवस्था ऐसी है कि वास्तविक रूप से धनी वर्ग के लोग ही राज्य सत्ता में शामिल होते हैं। सर्वहारा की तानाशाही में राज्य सर्वहारा वर्ग के प्रति उत्तरदायी होता है। साम्यवाद में राज्य होता ही नहीं, इसलिये राजकीय उत्तरदायित्व का प्रश्न निरर्थक हो जाता है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति समाज के प्रति तथा समाज प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उत्तरदायित्व का भाव रखता है।

लोकतंत्र में उत्तरदायित्व की स्थापना के तरीके (मुख्यतः भारत के संदर्भ में)

1. नियमित अवधि पर चुनाव होना उत्तरदायित्व की स्थापना का सबसे महत्वपूर्ण तरीका है क्योंकि चुनाव में पराजय का भय और नई सरकार द्वारा जाँच का भय उत्तरदायी शासन का दबाव पैदा करता है।
2. मीडिया को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का पर्याप्त अधिकार उपलब्ध होना चाहिये। इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के दौर में अब मीडिया जनता को काफी हद तक प्रभावित ही नहीं करता, बल्कि जनमत को निर्धारित करने में सक्षम हो गया है। दबावों से मुक्त मीडिया राज्य को बाध्य कर सकता है कि वह अपने उत्तरदायित्वों का पालन करे।
3. यदि संसदीय सर्वोच्चता के स्थान पर प्राकृतिक अधिकारों की सर्वोच्चता को स्वीकार कर लिया जाए तो यह भय खत्म हो जाता है कि बहुमत की तानाशाही समाज का भारी नुकसान कर सकती है।
4. यदि मूल अधिकारों की उपलब्धि कराना राज्य के लिये बाध्यकारी बना दिया जाए अर्थात् मूल अधिकार की नकारात्मक व्याख्या के स्थान पर सकारात्मक व्याख्या स्वीकार कर ली जाए तो राज्य उत्तरदायी शासन चलाने के लिये बाध्य हो जाता है।
5. जनसाधारण को इतनी शिक्षा जरूर मिलनी चाहिये कि वह अपने अधिकारों व कर्तव्यों तथा राज्य के उत्तरदायित्वों को समझ सके और जरूरत पड़ने पर राज्य का विरोध कर सके।
6. कुछ विशेष अधिकार सभी व्यक्तियों को दिये जाने चाहियें जैसे सूचना का अधिकार, किसी भी प्रत्याशी को मत न देने का अधिकार तथा अपने विधायक या सांसद को वापस बुलाने का अधिकार।
7. भ्रष्टाचार और उत्तरदायित्वविहीन शासन से बचने के लिये कुछ संस्थागत उपाय जरूरी हैं, जैसे- लोकपाल या लोकायुक्त की स्वायत्त व्यवस्था, सतर्कता आयोग को पर्याप्त शक्तियाँ दिया जाना, निर्वाचन आयोग, महानियंत्रक व लेखा परीक्षक इत्यादि संस्थाओं को संवैधानिक सुरक्षा देना इत्यादि। इसके अतिरिक्त, उच्च व सर्वोच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार देने के साथ-साथ उनके पदों की संवैधानिक सुरक्षा की व्यवस्था भी बेहद जरूरी है।

सामाजिक प्रगति एवं विकास (Social Progress and Development)

प्रगति एवं विकास सामाजिक परिवर्तन की दो धारणाएँ हैं जिनका प्रयोग सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में होता है। ये दोनों धारणाएँ पूर्णतः निश्चित और सुपरिभाषित नहीं हैं। कभी-कभी वृद्धि (Growth), उद्विकास (Evolution), प्रगति (Progress) और विकास (Development) के निश्चित अर्थ को लेकर सामाजिक दर्शन में विवाद भी होता है।

सामाजिक उन्नति/प्रगति (Social Progress)

प्रगति की अवधारणा आधुनिक काल की है। वह सामाजिक परिवर्तन जो सकारात्मक हो तथा कुछ निश्चित उद्देश्यों के प्रति पूर्वनियोजित प्रयासों का परिणाम हो, उसे प्रगति कहते हैं। यह उद्विकास (Evolution) से भिन्न है क्योंकि उद्विकास प्राकृतिक होता है जबकि यह योजनाबद्ध; उद्विकास मूल्यों से तटस्थ होता है, जबकि इसमें मूल्यात्मक पक्ष भी निहित होता है। रॉबर्ट निस्बेट (Robert Nisbet) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द हिस्ट्री ऑफ प्रोग्रेस' में प्रगति की अवधारणा का सूक्ष्म विवेचन किया है।

18वीं शताब्दी से पहले सामाजिक परिवर्तन के संबंध में मुख्यतः दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं— निराशावादी (Pessimistic) तथा चक्रीय (Circular)। निराशावादी विचारधारा मानती है कि इतिहास अच्छी से बुरी दिशा की ओर बढ़ता है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य का स्वर्णिम समय इतिहास में बीत चुका है तथा भविष्य अंधकारमय है। प्लेटो का विचार इसी प्रकार का है। उसने माना कि सृष्टि का शुरुआती आधा अंश अच्छा समय था जबकि आगे का समय पतन का दौर है। ईसाई धर्मशास्त्री भी मोटे तौर पर यही विचार रखते हैं। उनके अनुसार मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ समय वह था जब वह 'स्वर्ग के उद्यान' में था। आदिम पाप करने के कारण उसे पृथ्वी पर भेजा गया। उसकी पापवृत्ति बढ़ती जा रही है, इसलिये उसका भविष्य निराशाजनक है।

दूसरी विचारधारा वह थी जो इतिहास को चक्रीय रूप में देखती है। यह विचारधारा भारत के हिंदू दर्शन में सतयुग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलियुग के चक्र में दिखती है। जैन दर्शन इसकी व्याख्या 'उत्सर्पिणी' और 'अवसर्पिणी'—दो अवस्थाओं के रूप में करता है। पश्चिम में स्पेंगलर, टॉयनबी, सोरोकिन, मॉन्टेस्क्यू और हेलविटेस जैसे विचारकों ने इसी प्रकार की धारणा प्रस्तुत की। इनका मानना है कि इतिहास कुछ समय तक अच्छाई की ओर बढ़ता है, फिर बुराई की ओर।

18वीं शताब्दी के बाद रेनेसाँ, धर्मसुधार और औद्योगिक क्रांति के कारण यूरोप में वैज्ञानिक मनोवृत्ति तथा तर्कवाद का विकास हुआ जिसने प्रगति की विचारधारा को जन्म दिया। 18वीं शताब्दी में वॉल्टेयर व कांट की विचारधारा में भी प्रगति का विचार मिलता है। कांट वह पहला विचारक है जिसमें पहली बार यह विचार दिखता है कि संपूर्ण मानवजाति एक बेहतर अवस्था की तरफ बढ़ रही है जिसमें विश्वव्यापी नागरिक समाज (Civil Society) होगा और न्याय तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मूल्यों पर मानव सभ्यता स्थापित होगी।

19वीं शताब्दी में ऑगस्ट कॉम्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, हीगेल और मार्क्स जैसे चिंतक प्रगति की अवधारणा लेकर आगे बढ़े। कॉम्ट ने वैज्ञानिकता को प्रगति का आधारभूत तत्त्व माना। उसने दावा किया कि विश्व के हर समाज का विकास तीन अवस्थाओं से गुजर कर होता है— धर्मशास्त्रीय, तत्त्वमीमांसीय व प्रत्यक्षवादी। पहली अवस्था में पारलौकिक कल्पनाओं की स्थिति होती है। दूसरी अवस्था में सूक्ष्म चिंतन होता है किंतु तीसरी

अवस्था मनुष्य के अनुभव तथा इहलोक को ही महत्त्व देती है। यह अवस्था जिसे उसने प्रत्यक्षवादी अवस्था कहा, मानवीय प्रगति की सर्वोच्च अवस्था होती है। यहाँ तक पहुँचने के लिये उसने मानववादी धर्म की स्थापना भी की।

स्पेंसर ने प्रगति का सही रास्ता सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism) को माना। उसका दावा है कि प्रत्येक समाज आरंभ में सैनिक प्रकृति का होता है और आगे चलकर औद्योगिक प्रकृति का बन जाता है। मानवीय सभ्यता की सर्वोच्च प्रगति तभी होगी जब सामाजिक डार्विनवाद के नियम अर्थात् सर्वोत्तम की उत्तरजीविता के नियम उस पर लागू होंगे। इसमें कमजोर तत्त्व खत्म होते जाएंगे और सर्वश्रेष्ठ मानव समूह भविष्य में रहेगा। कुछ-कुछ ऐसा ही विचार जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने भी दिया जिसने 'महामानव' के विकास की कल्पना प्रस्तुत की।

हीगेल का चिंतन यद्यपि आदर्शवादी है और वह जगत की तात्त्विक सत्ता नहीं मानता है; किंतु तब भी एक विशेष रूप में उसने प्रगति की धारणा को स्वीकारा है। उसने बताया कि चेतना के द्वंद्वों से मानसिक प्रगति होती है और भविष्य की हर अवस्था अतीत की अवस्थाओं से बेहतर होती है।

माक्स ने हीगेल के द्वंद्व विकास के नियम को लिया और इसे भौतिकवाद से जोड़कर प्रगति की नई अवधारणा निर्मित की। उसके अनुसार प्रगति का अर्थ है- प्रकृति पर नियंत्रण करते हुए उत्पादन की शक्तियों का चरम विकास इस प्रकार करना कि उत्पादकता का लाभ किसी वर्ग विशेष को नहीं, बल्कि सभी मनुष्यों को उनकी जरूरतों के अनुसार मिले। उसका साम्यवाद मनुष्य की प्रगति का ही सर्वोच्च स्तर है जहाँ उसके अनुसार मनुष्य की मानवीयता को खण्डित करने वाली सभी शक्तियाँ- राज्य, धर्म, विवाह, परिवार, संपत्ति आदि का निषेध होगा और प्रत्येक व्यक्ति मांग और पूर्ति के जड़ नियम से मुक्त होकर अपनी सृजनात्मक स्वतंत्रता के अनुसार जीवन व्यतीत करेगा।

18वीं और 19वीं शताब्दी में प्रगति की जो विभिन्न धारणाएँ उभरीं, उनमें कुछ विशेषताएँ सामान्य थीं, जैसे-

1. ये सभी विचारक मानते थे कि मनुष्य की प्रगति का माध्यम उसकी तार्किकता या तर्कशक्ति है।
2. ये सभी मानते थे कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था ही प्रगतिशील अर्थव्यवस्था की द्योतक है।
3. इन सभी का विश्वास था कि अधिकाधिक ज्ञान के विकास से ही मनुष्य की प्रगति संभव है।
4. इन सबका दावा था कि इतिहास अनिर्धारित तरीके से आगे नहीं बढ़ता है, उसके कुछ नियम होते हैं। उन नियमों को समझकर भविष्य का निर्धारण किया जा सकता है।

किंतु, 20वीं शताब्दी में स्थितियाँ तेजी से बदलीं। इस सदी में जितने भी देश स्वतंत्र हुए, आमतौर पर सभी ने अपनी सांस्कृतिक स्थितियों को नज़रअंदाज़ करते हुए प्रगति की इस अवधारणा को स्वीकार कर लिया। जवाहरलाल नेहरू और एम.एन. रॉय जैसे भारतीय विचारक इस प्रवृत्ति के प्रमुख उदाहरण हैं। दूसरी ओर यह भी देखा गया कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था तथा यूरोपीय प्रगति के परिणाम उतने सकारात्मक नहीं रहे जितनी कि उनसे अपेक्षा थी। 20वीं सदी की शुरुआत में दो विश्वयुद्ध हुए, फासीवाद-नाजीवाद का खतरा उभरा, सोवियत संघ में तानाशाही पैदा हुई, जीनोसाइड का संकट पहली बार व्यापक तौर पर उभरा, आधी शताब्दी बीतते-बीतते पर्यावरण संकट पूरे विश्व में गहराने लगा। इसके अतिरिक्त, बड़े औद्योगिक नगरों में गरीबी, बाल श्रम, स्लम बस्तियाँ, प्रदूषण जैसी समस्याएँ उभरने लगीं।

इन सभी समस्याओं के कारण प्रगति की अवधारणा विवादास्पद हो गई। 1960-70 के दशक में उत्तर आधुनिक दर्शन का विकास हुआ जिसने आधुनिकतावाद के अति तार्किकीकरण जैसे मूल्यों पर चोट की और प्रगति की धारणा पर कई प्रश्नचिह्न लगा दिये। ऐसे तीन प्रमुख प्रश्न निम्नलिखित हैं-

1. क्या प्रगति से समाज के सभी समूह लाभान्वित होते हैं या केवल कुछ समूह ही लाभ उठा पाते हैं?
2. यह फैसला करने का अधिकार किसे है कि कौन सी स्थिति प्रगतिशील है? यह फैसला किसी विशेष समूह के नज़रिए से होता है या सभी के नज़रिए से?
3. यह निर्णय करने का अधिकार किसे है कि किस मात्रा तक प्रगति के लिये किस हद तक सामाजिक और व्यक्तिगत कीमत चुकाई जा सकती है? जो कीमत चुकाई जाती है, वह सारा समाज चुकाता है या समाज के कुछ वंचित वर्ग?

उत्तर-आधुनिक विचारकों के इन तर्कों ने साबित कर दिया कि प्रगति की अवधारणा शायद खुद भी प्रगतिशील नहीं थी। इसमें बौद्धिकता या तार्किकता को भावनाओं पर, वैज्ञानिक मानसिकता को सहज जीवन पर तथा औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अन्य पारंपरिक अर्थव्यवस्थाओं से अधिक बेहतर माना गया था। सारे पक्षों को मिलाकर देखें तो यह यूरोपीय श्वेत संस्कृति को पूरे विश्व का आदर्श बनाने का प्रयास था। प्रसिद्ध उत्तर-आधुनिक चिंतक जीन फ्राँस्वा ल्योतार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द पोस्ट मॉडर्न कन्डीशन' में सिद्ध किया कि प्रगति एक निश्चित विचारधारा थी जो कुछ सभ्यताओं, व्यक्तियों तथा गुणों को केंद्र में रखकर शेष को अप्रस्तुतियोग्य (Unpresentable) सिद्ध करके हाशिये पर डाल देती थी। अब वह समय है जब हर समूह तथा हर समाज को अपने-अपने नज़रिए से जीने की सुविधा मिलनी चाहिये। एक वाक्य में कहें तो प्रगति की धारणा एक महावृत्तांत (Meta-Narrative) थी और अब चूँकि सारे महावृत्तांत खारिज हो गए हैं, अतः इसका खारिज होना भी स्वाभाविक है।

इसके बावजूद, प्रगति की अवधारणा महत्त्वहीन नहीं है। तार्किकता, ज्ञान तथा औद्योगिक क्षमताओं का विकास एकतरफा तरीके से बेशक औचित्यपूर्ण न हो, किंतु किसी समाज के विकास में इसकी भूमिका पर्याप्त रूप से महत्त्वपूर्ण तो होती ही है।

विकास (Development)

विकास की धारणा निश्चत और सुपरिभाषित नहीं है। अर्थशास्त्र में इसका पारिभाषिक अर्थ मिलता है किंतु सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में इसके अर्थ को लेकर मतभेद है। डेविड ई. आप्टर (David E. Apter) ने अपनी पुस्तक 'रीथिंकिंग डेवलपमेंट' (Rethinking Development) तथा जॉन ब्रोहमैन (John Brohman) ने 'पॉपुलर डेवलपमेंट' (Popular Development) में इस अवधारणा का सूक्ष्म विवेचन किया है।

विकास की धारणा मुख्यतः दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की है। जब पूरे विश्व से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद समाप्त हुआ तो नव-स्वतंत्र देशों के सामने यह चुनौती थी कि वे अपनी स्थितियों को किस प्रकार सुधारें? इस समय तक एक विचारधारा प्रचलित थी- 'आधुनिकीकरण सिद्धांत'। इसी को ध्यान में रख कर सभी देशों ने अपने भविष्य की योजना बनाई और पश्चिमी यूरोप व अमेरिका जैसी स्थितियों को उपलब्ध करना विकास का पैमाना माना गया।

विकास की अवधारणा वृद्धि, उद्विकास तथा प्रगति से भिन्न है। वृद्धि (Growth) में सिर्फ मात्रात्मक अंतर होता है जबकि विकास में गुणात्मक सुधार भी शामिल है। उद्विकास (Evolution) प्राकृतिक तथा अनियोजित होता है जबकि विकास मनुष्य द्वारा योजनाबद्ध तरीके से अर्जित किया जाता है। यह प्रगति (Progress) से भी अलग है। प्रगति में ज्यादा बल 'दृष्टिकोण' पर होता है जबकि विकास में 'स्थितियों' पर। उदाहरण के लिये, यदि समाज के अधिकांश व्यक्ति तार्किकता के उच्च स्तर पर हों तो यह प्रगति का लक्षण है। किंतु, यदि समाज की आर्थिक व सामाजिक दशाएँ काफी बेहतर हों तो यह विकास का लक्षण है। यद्यपि प्रगति में विकास

के तत्त्व शामिल हैं और विकास में प्रगति के; तथापि यह कहने में कोई समस्या नहीं कि प्रगति की पहचान में दृष्टिकोण केंद्रीय तत्त्व है, जबकि विकास की पहचान में आर्थिक-सामाजिक स्थितियाँ।

नवस्वाधीन देशों के सामने अपनी स्थिति बेहतर बनाने की चुनौतियाँ थीं और उन्हें यह चुनना था कि विकास के किस मॉडल का चुनाव करें— पूंजीवादी मॉडल या साम्यवादी मॉडल। ये दोनों बाहरी दृष्टि से भिन्न दिखते थे किंतु आंतरिक दृष्टि से कई बिंदुओं पर समान थे, जैसा आगे चलकर 'कन्वरजेंस थ्योरी' (Convergence Theory) ने सिद्ध किया भी। उदाहरण के लिये, दोनों औद्योगिक व्यवस्था के समर्थक थे, तार्किकता को मानवीय विकास का मूल रास्ता समझते थे, विज्ञान-तकनीक के अधिकाधिक विकास के लिये प्रतिबद्ध थे, प्रकृति को मनुष्य के लिये सिर्फ संसाधन समझते थे और आर्थिक विकास को विकास का केंद्रीय तत्त्व मानते थे। दोनों में अंतर यह था कि जहाँ पूंजीवादी मॉडल मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था और उदार लोकतंत्र का पोषक था, वहीं साम्यवादी मॉडल अर्थव्यवस्था के राजकीय नियंत्रण तथा सर्वहारा की तानाशाही का समर्थक था। इन दोनों मॉडलों ने विश्व का आर्थिक विकास सचमुच किया, विज्ञान-तकनीक के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की, मानवीय विकास के क्षेत्र में कई बुलंदियों को छुआ किंतु, दोनों ही कुछ प्रश्नों का सामना करने में असमर्थ थे। सोवियत संघ में इतनी समृद्धि होते हुए भी स्वतंत्रता का अभाव था तथा अमेरिका में स्वतंत्रता होते हुए भी वंचित वर्गों की स्थिति बदतर थी।

विकास का एक तीसरा मॉडल गांधीवादी था जिसकी वकालत विनोबा भावे, राममनोहर लोहिया व बाद में जयप्रकाश नारायण ने की। सीमित रूप से नॉर्वे के चिंतक आर्ने नेस (Arne Naes) तथा युगोस्लाविया के प्रसिद्ध चिंतक मिलोवन जिलास (Miloven Djilas) ने भी इसका समर्थन किया। गांधीवादी मॉडल के अनुसार विकास का अर्थ प्रकृति के साथ जुड़ कर विकास करना है, न कि उसकी कीमत पर विकास करना। यह मॉडल विज्ञान और तकनीक को बहुत सीमित रूप में स्वीकार करता है, अंध-औद्योगिकीकरण का निषेध करता है तथा मनुष्य की जरूरतें कम करने पर बल देता है। किंतु, जिस दौर में पराधीन देश स्वाधीन हुए, उनमें भौतिक विकास की भूख इतनी अधिक थी कि गांधीवादी मॉडल प्रायः अप्रासंगिक ही माना गया। इसके कुछ एक तत्त्वों को कुछ देशों ने स्वीकार किया है किंतु समग्रता में किसी ने भी नहीं।

अधिकांश नव-स्वाधीन देश या तो अमेरिका के रास्ते पर चले या सोवियत संघ के रास्ते पर। अमेरिका व पश्चिमी यूरोप पूंजीवादी व्यवस्था का गढ़ बना तो पूर्वी यूरोप, चीन, लैटिन अमेरिका में साम्यवादी मॉडल प्रबल रूप में उभरा। भारत जैसे देशों ने मध्यम मार्ग अपनाया जिसे विकास का तीसरा मॉडल कहा गया। इन देशों ने वितरणमूलक न्याय, आर्थिक नियोजन, प्रमुख उत्पादक सम्पत्तियों पर सार्वजनिक नियंत्रण जैसे तत्त्व जहाँ समाजवादी व्यवस्था से लिये; वहीं वयस्क मताधिकार व स्वतंत्रता जैसे विचार पूंजीवादी व्यवस्था से। इसका लक्ष्य था— बिना तानाशाही के औद्योगिक व्यवस्था के द्वारा विकास करना और उसके वितरणमूलक न्याय के पक्ष पर विशेष बल देना।

मानव विकास (Human Development)

विकास के इन तीनों ही रास्तों पर कई देशों के चलने के बावजूद कुछ मूल समस्याएँ बनी रहीं। यह प्रश्न उठने लगा कि मनुष्य और उसके विकास में क्या संबंध है? विकास मनुष्य के लिये है या मनुष्य विकास के लिये? यह प्रश्न इसलिये उठा क्योंकि विकास की अवधारणा ने जो औद्योगिकीकरण, अतिविशेषीकरण और अतिशहरीकरण जैसी प्रवृत्तियाँ पैदा कीं, इन्होंने मनुष्य को उसकी मूल प्रकृति से काटकर अलगाव का शिकार बना दिया। प्रकृति का दोहन, भूमंडलीय तापन जैसी समस्याएँ भी इन्हीं मॉडलों से पैदा हुईं तथा कई जानलेवा रोगों का खतरा पैदा हो गया। हथियार और मादक पदार्थ विश्व के दो सबसे बड़े उद्योग बन गए और तेजी से

उभरते उपभोक्तावाद ने मनुष्य को सांस्कृतिक उत्कर्ष के स्थान पर उसे भोग करने वाली मशीन के रूप में परिवर्तित कर दिया। इन सभी स्थितियों के कारण विकास की धारणा पर पुनः विचार हुआ और मानव को इसके केंद्र में रखने का विचार पनपा। इसका दार्शनिक समर्थन हैबरमास, एरिक फ्रॉम तथा हर्बर्ट मारक्यूज़ जैसे दार्शनिकों के विचारों में मिलता है। हैबरमास ने कहा कि “मनुष्य की बुद्धि साध्य बन गई है और मनुष्य साधन। जरूरी है कि मनुष्य को फिर से साध्य बनाया जाए और बुद्धि को साधन।” एरिक फ्रॉम ने कहा कि “विकास का वास्तविक अर्थ वस्तुओं के संग्रहण (to have) में नहीं है बल्कि अपनी सृजनात्मकता के साथ जीने (to be) में है।” हर्बर्ट मारक्यूज़ ने बताया कि उपभोक्तावाद ने एक स्थूल संस्कृति पैदा कर दी है जिसके कारण व्यक्ति अपने अलगाव को भी भूल गया है और निरर्थक रूप से भोग में उलझकर सीमित हो गया है।

मानव विकास की व्यवस्थित धारणा संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) तथा संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) जैसे मंचों से उभरी। इसमें माना गया कि किसी समाज का विकास केवल आर्थिक पैमानों पर न होकर कई पैमानों पर होता है, जैसे- जीवन निर्वाह का स्तर, जीवन प्रत्याशा, शिक्षा का स्तर, स्वास्थ्य का स्तर, वंचित वर्गों के लिये ऊपर के वर्गों में जाने की संभावनाओं की मौजूदगी तथा सामाजिक दबावों से मुक्त होकर व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं के भोग का अवसर आदि। इन्हीं सब विचारों के आधार पर प्रसिद्ध समाजशास्त्री व अर्थशास्त्री महबूब-उल-हक ने तीन सूचकांकों वाला ‘मानव विकास सूचकांक’ तैयार किया जिसमें जीवन निर्वाह स्तर, जीवन प्रत्याशा और शिक्षा के स्तर को शामिल किया गया। इसके बाद समस्या उठी कि समाज में महिलाओं का क्या स्तर है? क्या उनकी स्थिति विकास का पैमाना नहीं है? इसको देखते हुए संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) ने ‘लिंग संबंधी सूचकांक’ तैयार किया जिसके आधार पर देखा जाता है कि पुरुषों और महिलाओं के औसत जीवन-स्तर में कितना अंतर है? हाल ही में पर्यावरण के संकट को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) ने ‘पर्यावरणीय लेखांकन’ (Environmental Audit) की धारणा को स्वीकार किया है जिसमें यह भी देखा जाता है कि औद्योगिक उत्पादन का प्रकृति पर बहुत अधिक दुष्प्रभाव तो नहीं पड़ रहा?

भारत की स्थिति मानव विकास के संदर्भ में बहुत बेहतर नहीं है। मानव विकास सूचकांक में मुख्यतः तीन स्तर माने गए हैं- उच्च, मध्यम तथा निम्न स्तर। पहले भारत निम्न स्तर के देशों में शामिल था। 2003 से वह मध्यम स्तर की सूची में शामिल तो हो गया है किंतु अभी उसके निचले स्तर पर ही है।

सतत् विकास (Sustainable Development)

इस धारणा का संबंध पारिस्थितिकी दर्शन से है। 1973 ई. में आर्ने नेस के पारिस्थितिकी दर्शन से इसका प्रारंभ हुआ जो आगे चलकर कई धारणाओं में बँट गया। एक बड़ा प्रश्न यह उठा कि मनुष्य व अन्य प्राणियों में क्या संबंध है? कुछ लोगों ने सोचा कि मनुष्य तथा अन्य प्राकृतिक प्राणी नीतिमीमांसीय दृष्टिकोण से पूर्णतः समान हैं। इस धारणा के समर्थक जैवकेंद्रित दार्शनिक (Bio-Centric Eco-Philosopher) कहलाए। इनमें प्रमुख थे ‘कैलीकॉट (Callicott)’ जिनकी दो पुस्तकें ‘एनिमल लिबरेशन’ (Animal Liberation) तथा ‘इन्वायरमेंटल एथिक्स’ (Environmental Ethics) अत्यंत प्रसिद्ध हुईं। एक-दूसरे विचारक टॉम रीगन (Tom Regan) थे। इनकी पुस्तक है- ‘द केस ऑफ एनिमल राइट्स’ (The case of Animal Rights)। इन चिंतकों ने मनुष्य व पशु के अधिकारों को नैतिक रूप से बराबर माना और विकास की सभी धारणाओं को खारिज कर दिया। उनका दावा था कि मनुष्य का कोई भी विकास किसी-न-किसी रूप से अन्य प्राणियों की कीमत पर ही होता है। उदाहरण के लिये, अधिकांश दवाओं का विकास करने के लिये पशु-पक्षियों पर दर्दनाक प्रयोग किये जाते हैं व कई दवाइयाँ व खाद्य वस्तुएँ पशु-पक्षियों को मारकर ही बनाई जाती हैं। इन्होंने सतत् विकास की धारणा का भी खंडन यह कहकर किया कि इसका अर्थ मात्र यह है कि मनुष्य अन्य प्राणियों का शोषण कुछ धीमी गति से करे।

पारिस्थितिकी दर्शन की दूसरी धारा मानवकेंद्रित (Humanistic) दार्शनिकों की है जिन्होंने पारिस्थितिकी दर्शन और मानवकेंद्रित धारणा को मिलाकर अपना विचार दिया। इस धारा के प्रमुख चिंतक पीटर सिंगर (Peter Singer) हैं। 'एनिमल लिबरेशन' (Animal Liberation) इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। दूसरे प्रमुख चिंतक एल्डो लियोपोल्ड (Aldo Leopold) भी इसी धारा के दार्शनिक हैं जिनका प्रसिद्ध लेख है 'द लैण्ड इथिक' (The Land Ethic)। इस वर्ग के चिंतक मानते हैं कि मनुष्य और अन्य प्राणी एकदम बराबर नहीं हैं, उनमें थोड़ा-सा अंतर है। मनुष्य यूँ तो सभी के समान है किंतु इन समान प्राणियों में सबसे ऊपर है क्योंकि उसी ने प्रकृति को समझा है और वही संपूर्ण प्रकृति को किसी भावी संकट से बचा सकता है। इस धारा के चिंतकों ने विकास की पूंजीवादी और साम्यवादी धारणाओं का खंडन किया, किंतु जैव-केंद्रित (Bio-Centric) विचारकों के इस मत को भी नहीं माना कि मनुष्य का कोई भी विकास अनैतिक या शोषणपरक होता है। इन्होंने विकास की नई धारणा दी जिसे सतत् विकास कहा जाता है।

सतत् विकास का अर्थ है- विकास इस गति से करना कि उसका स्तर निरंतर बनाए रखा जा सके। प्रकृति के पास सीमित संसाधन हैं जिनके नवीकरण में समय लगता है। यदि मनुष्य की एक पीढ़ी संसाधनों का प्रयोग तेज गति से करती है तो आने वाली पीढ़ी उतने संसाधनों की विरासत प्राप्त नहीं कर पाएगी जितने उसकी पिछली पीढ़ी को मिले थे। इसलिये संसाधनों के दोहन की गति उतनी ही होनी चाहिये जितनी गति से उनका नवीकरण हो जाए।

यह कैसे होगा? इसके लिये पर्यावरण-मित्र तकनीकों का प्रयोग जरूरी तो है परंतु पर्याप्त नहीं है। जब तक मनुष्य स्वयं को साध्य व प्रकृति को साधन समझता रहेगा, जब तक भौतिक आवश्यकताओं की अधिकता को विकास का सूचक माना जाएगा व मनुष्य की परिभाषा उसके उपभोग स्तर से होगी, तब तक सतत् विकास संभव नहीं है।

सतत् विकास का एक व्यापक अर्थ भी है कि किसी समाज का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास भी ऐसा होना चाहिये जिसे निरंतर बनाए रखा जा सके। यदि एक वर्ग-विशेष अधिकतम संसाधनों पर कब्जा कर लेगा और शेष वर्ग शोषण व घुटन के शिकार होंगे तो यह विकास दीर्घजीवी नहीं होगा।

किंतु, सतत् विकास अभी विचार के स्तर पर ही है। इसकी उपलब्धि की वास्तविक संभावनाएँ काफी कम हैं। पूंजीवादी देशों ने पूंजीवाद के प्रसार के लिये इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के माध्यम से जो उपभोक्ता संस्कृति पैदा की है, उसने मनुष्यों की उपभोग इच्छाओं को अनियंत्रित बना दिया है। गरीब देशों में विकसित देशों जैसा होने की होड़ मची है, क्योंकि अमीर देशों का सांस्कृतिक प्रभाव भी पूरी दुनिया पर है। इस दृष्टि से प्रकृति का विनाश होना निश्चित है। वैश्विक जनसंख्या बढ़ती जा रही है। इस कारण प्रकृति पर दबाव कम होना कठिन है। विश्व में लोकतांत्रिक व्यवस्था अधिकांश देशों में स्थापित हो चुकी है। लोकतंत्र सिद्धांततः चाहे श्रेष्ठ व्यवस्था हो, व्यावहारिक स्तर पर उसमें दूरदृष्टि कम होती है। यदि सरकार 100 वर्ष बाद की समस्या के आधार पर आज उपभोग को कम करना चाहे तो उसका अपना अस्तित्व संकट में पड़ सकता है। इसलिये लोकतांत्रिक प्रणाली पर आधारित सरकारें सतत् विकास के पक्ष में अपने देशों के उपभोग स्तर पर नियंत्रण कर सकेंगी- इसमें संदेह है। सबसे बड़ी चिंता यह है कि अमीर देशों की अपनी विकास दर से पीछे लौटने की इच्छा नहीं है और लौटे बिना सतत् विकास असंभव है।

लिंग भेद (Gender Discrimination)

भारत के कई क्षेत्रों में आज भी जहाँ लड़का पैदा होने पर लोग जश्न मनाते हैं, वहीं दूसरी ओर यदि लड़की का जन्म होता है तो खामोशी की स्थिति विद्यमान हो जाती है। आए दिन महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्र में लिंग भेदभाव की शिकार होती रहती हैं। इसी लैंगिक असमानता के विरुद्ध लैंगिक समानता एक सामाजिक और राजनीतिक आदर्श है। जो मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ विकसित हुई है। लैंगिक समानता की स्थापना हेतु लिंग आधारित भेदों को दूर करना आवश्यक है। यही कारण है कि समकालीन युग में लोकतांत्रिक जीवन मूल्यों की स्वीकृति व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की मान्यता के साथ-साथ लिंग आधारित विभेद को समाप्त करने की बात प्रबलता से की जा रही है। लिंग (Gender) सामाजिक-सांस्कृतिक शब्द है, यह समाज में 'पुरुषों' और 'महिलाओं' के कार्यों एवं व्यवहारों को परिभाषित करता है। जबकि यौन (Sex) शब्द स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचना को व्यक्त करता है। यौन एक जैविक एवं शारीरिक घटना है, जबकि लिंग (Gender) सामाजिक-सांस्कृतिक मनोवृत्ति को व्यक्त करता है। अपने सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं में लिंग (Gender) पुरुष एवं स्त्री के मध्य शक्ति के कार्य के संबंध है जहाँ पुरुष को महिला से श्रेष्ठ माना जाता है। इस प्रकार लिंग (Gender) मानव निर्मित सिद्धांत है, यौन (Sex) मानव की प्राकृतिक या जैविक विशेषता है।

लिंग-भेद के मूल कारण : जैविक या सांस्कृतिक?

(Basic Causes of Gender Discrimination : Biological or Cultural?)

नारीवादियों में इस प्रश्न पर गहरा मतभेद है कि लिंग विषमता के वास्तविक कारण पुरुष व नारी की जैविक संरचना में निहित हैं या सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं में। सामान्यतः लिंग विषमता को उचित मानने वाले रूढ़िवादी (Conservative) विचारक व कुछ अन्य चिंतक जैविक कारकों को मूल मानते हैं जबकि नारीवादी आंदोलन की प्रमुख धाराएँ सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों को लिंग विषमता के लिये उत्तरदायी मानती हैं।

जैविक कारण (Biological Causes)

इस मत के अनुसार लिंग विषमता के मूल कारण पुरुष व नारी की जैविक भिन्नताओं में निहित हैं। इस मत का समर्थन निम्नलिखित प्रकारों से किया गया है—

1. कुछ मानवशास्त्रियों का दावा है कि पुरुष की मानसिक क्षमता जैविक तौर पर ही नारी से अधिक है। उदाहरण के लिये, ए.ए. रोबैक ने अपनी पुस्तक 'द साइकोलोजी ऑफ कैरेक्टर' में लिखा है कि पुरुषों में तार्किक चिंतन करने की क्षमता जन्मजात रूप से विद्यमान होती है जबकि महिलाओं में सामान्यतः इसका अभाव पाया जाता है। इसका प्रमाण कुछ लोग यह भी देते हैं कि पुरुषों में औसत रूप से महिलाओं से बेहतर 'आई.क्यू' (I.Q.) पाया जाता है। कुछ मानवशास्त्रियों ने इसके लिये मस्तिष्क के आकार को प्रमाण बनाया है। सिफेलिक इंडेक्स (Cephalic Index) के आधार पर वे सिद्ध करते हैं कि पुरुषों का मस्तिष्क आकार में महिलाओं के मस्तिष्क से बड़ा होता है।
2. कुछ विचारकों, यथा-रॉबिन फॉक्स तथा जॉर्ज पीटर मरडॉक का दावा है कि महिलाओं का जैव व्याकरण (Bio-Grammer) पुरुषों से भिन्न होता है। जैव व्याकरण जैविक संरचना के उन नियमों को कहते हैं

जिनके आधार पर किसी प्राणी की शारीरिक स्थितियाँ, क्रियाएँ तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ निर्धारित होती हैं। इन विचारकों का दावा है कि नारी के जैव व्याकरण में ही ऐसे तत्त्व निहित हैं जो मातृत्व की क्षमता के अनुकूल गुण जैसे- प्रेम, ममता आदि भाव पैदा करते हैं। इसके विपरीत, पुरुष की जैविक संरचना में ही आक्रामकता, दमन तथा उत्तेजना जैसी प्रवृत्तियाँ निहित हैं।

3. कुछ विचारकों ने पुरुष व नारी के जैविक व्यवहार के अंतर को उनमें पाए जाने वाले हॉर्मोनों के आधार पर व्याख्यायित किया है। इस विचारधारा के समर्थक मनोवैज्ञानिक संप्रदाय (Psychological School) में शामिल हैं, क्योंकि ये मनोविज्ञान की व्याख्या को केंद्र में रखकर हॉर्मोनों को इसका कारण बताते हैं। इनके अनुसार, चूँकि पुरुष में 'टेस्टोस्टेरोन हॉर्मोन' की अधिकता होती है व यह हॉर्मोन पुरुषों के कुछ शारीरिक लक्षणों यथा- मूँछ-दाढ़ी के साथ-साथ शारीरिक उत्तेजना, उग्रता तथा आक्रामकता के लिये भी जिम्मेदार होता है, इसलिये पुरुषों का सामान्य स्वभाव आक्रामक हो जाता है। दूसरी ओर, महिलाओं में 'एस्ट्रोजन' जैसे हॉर्मोन अधिक मात्रा में हैं जो प्रेम तथा ममता जैसे गुण उत्पन्न करते हैं। हॉर्मोनों के इस विभेद का स्वाभाविक परिणाम है कि पुरुष नारी पर हावी हो जाता है व यही वर्चस्व सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में परिलक्षित होता है।
4. शूलास्मिथ फायरस्टोन (Shulasmith Firestone) ने मार्क्सवाद से संबद्ध होने के बावजूद लिंग-विषमता के मूल कारण जैविक संरचना में ही खोजे हैं। उनका दावा है कि पुरुष व नारी के अंतर उस समय विकसित हो गए थे जब सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं का विकास नहीं हुआ था। जिस समय विवाह, परिवार, नैतिकता, धर्म व राज्य जैसी व्यवस्थाएँ नहीं थीं, तब हर जगह शक्ति का ही शासन था। पुरुष में शारीरिक बल महिला से अधिक है, इसलिये सीधी लड़ाई में पुरुष नारी पर भारी पड़ता था। पुरुष में यौन आक्रामकता भी कहीं ज्यादा थी, अतः वह शारीरिक बल के आधार पर किसी भी नारी का बलात्कार करने में सक्षम था। जब नारी गर्भवती हो जाती थी, तब वह अपनी ही शारीरिक-मानसिक विशेषताओं के कारण संतान से गहरा प्रेम महसूस करती थी तथा उसकी व अपनी सुरक्षा खोजती थी। पुरुष में संतान के प्रति वैसा मोह नहीं होता- इसका मूल कारण भी जैविक संरचना में निहित है। प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में नारी को सुरक्षा कौन दे सकता था? सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ तो थी नहीं, अन्य नारियाँ भी सुरक्षा नहीं दे सकती थीं क्योंकि वे स्वयं असुरक्षित थीं। यह सुरक्षा मात्र पुरुष ही दे सकता था। नारी ने पुरुष से सुरक्षा की मांग की किंतु इस सुरक्षा के बदले उसे अपनी स्वतंत्रता छोड़नी पड़ी। इस दृष्टि से देखें तो लिंग विषमता का मूल कारण पुरुष व नारी की जैविक संरचना में ही निहित है।
5. सिगमंड फ्रॉयड ने भी लिंग विषमता की व्याख्या में शारीरिक भिन्नताओं पर अत्यधिक बल दिया है। उसने इस संबंध में 'अभाव ग्रंथि' या 'कास्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स' (Castration Complex) की चर्चा की है। उसके अनुसार, पुरुष व नारी की लैंगिक संरचना की भिन्नता में ही लिंग विषमता का मनोविज्ञान निहित है। पुरुष की लैंगिक संरचना बहिर्मुखी (Extrovertive) होने के कारण छोटी उम्र से ही लड़कियों को अभाव की अनुभूति होती है। यही अभाव की अनुभूति हीनता-ग्रंथि व भय पैदा करती है और मुख्यतः इसी मनःस्थिति के कारण महिलाएँ पुरुषों से पिछड़ जाती हैं।

सांस्कृतिक कारण (Cultural Causes)

जो विचारक लिंग विषमता के मूल में सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों की भूमिका को ज्यादा महत्व देते हैं, उन्होंने न सिर्फ उपरोक्त तर्कों का खंडन किया है बल्कि विरोधी तर्क भी दिये हैं। प्रमुख आलोचनाएँ व तर्क इस प्रकार हैं-

1. जहाँ तक मस्तिष्क के आकार का प्रश्न है, यह आधार ही भ्रामक है। यदि आकार की दृष्टि से देखें तो हाथी जैसे कई पशुओं का मस्तिष्क मनुष्य के मस्तिष्क से बड़ा होता है किंतु बौद्धिक क्षमताएँ इस अनुपात

में नहीं दिखतीं। दूसरी ओर, यह भी साबित हुआ है कि पुरुष का मस्तिष्क अपने शरीर के अनुपात में जितना बड़ा है, उससे ज़्यादा बड़ा नारी का मस्तिष्क नारी के शरीर के अनुपात में है। पुनः मनुष्य अपनी संपूर्ण बौद्धिक क्षमता का 2-3% ही प्रयोग कर पाता है। इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि यदि पुरुष के पास बौद्धिक क्षमता ज़्यादा हो भी तो उसके द्वारा प्रयुक्त क्षमता तुलनात्मक रूप से कम ही हो। फिर, आज के समय बौद्धिक क्षमता (I.Q.) का उतना प्रभाव रहा भी नहीं है जितना औद्योगिक युग तक था। आज के उत्तर औद्योगिक युग (Post Industrial Age) में विनिर्माण से अधिक महत्त्व विक्रय व विपणन (Marketing) क्षेत्रों का है व इन क्षेत्रों के लिये भावनात्मक योग्यता (इमोशनल इंटेलीजेंस) ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'डेनियल गोलमैन' ने अपनी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'द इमोशनल इंटेलीजेंस' में साबित किया है कि महिलाओं में भावनात्मक योग्यता पुरुषों से कहीं अधिक है व इसी के बल पर उत्तर-औद्योगिक अर्थव्यवस्था में महिलाएँ समाज के अधिकांश ऊँचे पदों पर जाने की क्षमता रखती हैं।

2. जहाँ तक जैव व्याकरण (Bio-grammer) या हॉर्मोनों की भिन्नता का प्रश्न है, नारीवादियों का स्पष्ट मत है कि जैव व्याकरण से सामाजिक अंतर नहीं बल्कि सामाजिक अंतरों से जैव व्याकरण बना है। चूँकि पुरुष व नारी दोनों ने हज़ारों-लाखों वर्षों तक प्राकृतिक दशाओं में ऐसा जीवन जिया है जिसमें पुरुष दमनकारी व्यवहार करता रहा है, इसी के परिणामतः अब यही व्यवहार जैविक विशेषताओं में शामिल हो गया है।
3. जहाँ तक शूलास्मिथ फायरस्टोन के मत का प्रश्न है, यह मत उचित तो प्रतीत होता है किंतु वर्तमान समय में उसके आधार पर लिंग विषमता की व्याख्या नहीं हो सकती। उन्होंने स्वयं कहा है कि अब नागरिक समाज तथा राज्य जैसी संस्थाओं के कारण नारी के जीवन में उतनी असुरक्षा नहीं है। इसके अतिरिक्त, गर्भनिरोधक तकनीकों के विकास के कारण नारी संतान उत्पन्न करने या न करने का फैसला लेने में सक्षम है। किंतु, इसके बाद भी लिंग विषमता समाप्त नहीं हो पाई है, इससे साबित होता है कि आज के समय में यह मूलतः जैविक कारणों पर निर्भर नहीं है।
4. जहाँ तक सिग्मंड फ्रॉयड के मत का प्रश्न है, अधिकांश नारीवादी चिंतकों, जैसे- सिमोन द बोउआ, बैट्टी फ्रॉयडन तथा क्रेट मिलेट ने आक्रामक रूप से उसके मत को खारिज किया है। फ्रॉयड का सबसे व्यवस्थित खंडन उसी की एक शिष्या नैन्सी कोडोरो ने किया। कोडोरो के अनुसार अभाव की समस्या नारी की नहीं, पुरुष की है। जब कोई बच्चा जन्म लेता है तो वह चाहे लड़का हो या लड़की, उसका पहला संसार उसकी माँ ही होती है क्योंकि माँ से ही उसे शारीरिक तथा भावनात्मक सुरक्षा मिलती है। जब लड़का 5-6 वर्ष का हो जाता है तो माँ उसे धीरे-धीरे अपने से कुछ दूर करने लगती है लेकिन लड़की के विषय में ऐसा करने की आवश्यकता नहीं होती। लड़का इस भावनात्मक संकट को झेल नहीं पाता व भीतर-ही-भीतर विद्रोह भाव से भर उठता है। वह सिद्ध कर देना चाहता है कि उसे घर के भीतर की दुनिया की जरूरत नहीं है। वह बाहर के जगत- सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जगत में सफलता को अपना उद्देश्य बना लेता है। किंतु, भावनात्मक संकट के कारण उसमें भावनात्मक सहजता समाप्त हो जाती है व किसी भी भावनात्मक स्थिति में वह स्वयं को सहजतापूर्वक अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं पाता है। इसलिये अभाव लड़की में नहीं है। वह तो जीवन भर अपनी भावनाओं के साथ सहज रूप से रहती है। अभाव तो लड़के में है जो मुख्यतः उसके भावनात्मक जीवन में परिलक्षित होता है।
5. कुछ अन्य आधारों पर भी जैविक निर्धारण की व्याख्या को चुनौती दी गई है। प्रथमतः, यह वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित हो चुका है कि नारियों में प्रतिरोधक क्षमता (Resistance Power) पुरुषों की तुलना में अधिक होती है। इसलिये स्वाभाविक परिस्थितियों में उनकी जीवन प्रत्याशा पुरुषों से अधिक होती है। यदि जैविक कारक ही निर्धारक होते तो विश्व के सभी देशों में लिंगानुपात महिलाओं के पक्ष में (या

पुरुषों के बराबर) होना चाहिये था, किंतु अधिकांश विकासशील देशों में लिंगानुपात पुरुषों के पक्ष में बुरी तरह झुका हुआ है। इससे प्रमाणित होता है कि लिंग विभेद जैविक कारणों से नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से निर्मित हुआ है व उन्हीं के कारण बहुत सी लड़कियों को भ्रूण हत्या, बालिका हत्या, कुपोषण मृत्यु या दहेज मृत्यु जैसी अस्वाभाविक मौतों का शिकार होना पड़ता है व इसी से लिंगानुपात बिगड़ जाता है।

6. कई विचारकों ने लिंग विषमता के मूल में जैविक कारणों से भिन्न कारणों के होने का दावा किया है। उदाहरण के तौर पर मार्क्सवादियों का दावा है कि लिंग-विषमता मूलतः निजी संपत्ति की संस्था का उप-उत्पाद (By-product) है। मनोविश्लेषणवादियों (फ्रॉयड के अतिरिक्त) का दावा है कि लिंग विषमता लड़के व लड़की के आरंभिक समाजीकरण के दौरान अचेतन मन पर पड़ने वाले प्रभावों से पैदा होती है। इनके अतिरिक्त, कई समाजशास्त्रियों का दावा है कि लिंग विभेद का मूल कारण न जैविक है, न निजी संपत्ति और न ही मनोवैज्ञानिक। वास्तविक कारण है- सामाजिक व्यवस्था, जो जन्म के समय समान रहे लड़के व लड़की को विभिन्न तरीकों से औरत व पुरुष के विभेदकारी मूल्यों से भर देती है।

‘सेक्स’ बनाम ‘जेंडर’ / ‘जैविक लिंग’ बनाम ‘सामाजिक लिंग’ (Sex Vs. Gender)

लिंग विषमता की समस्या के संबंध में महत्वपूर्ण विवाद यह है कि ‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ समानार्थक शब्द हैं या इनमें कोई अर्थभेद है?

रूढ़िवादी (Conservative) विचारकों का दावा है कि ‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ तर्कतः संबंधित शब्द हैं। ‘सेक्स’ से पुरुष व नारी की शारीरिक भिन्नताओं का भेद होता है जबकि ‘जेंडर’ से उनकी सामाजिक व सांस्कृतिक स्थितियों का। रूढ़िवादी विचारकों के अनुसार पुरुषों व नारियों की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति उनकी शारीरिक स्थिति से ही निर्धारित होती है, अतः ‘जेंडर’ संबंधी अंतर ‘सेक्स’ संबंधी अंतरों की ही स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं। यदि महिलाएँ सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं तो इसका मूल कारण पुरुष नहीं हैं बल्कि उनकी शारीरिक संरचना में निहित दोष ही हैं; जैसे उन्हें गर्भधारण करना पड़ता है, बच्चे को पालना होता है आदि। पुनः, वे अत्यधिक भावुक होने के कारण जटिल स्थितियों में सुलझे हुए निर्णय नहीं ले पाती हैं। इन्हीं सब कारणों से वे घरेलू कार्यों के लिये उपर्युक्त व सामाजिक-राजनीतिक जीवन की बड़ी चुनौतियाँ झेलने के लिये अनुपयुक्त हो जाती हैं। प्रसिद्ध रूढ़िवादी विचारक रॉबर्ट राइट (Robert Wright) ने अपनी पुस्तक 'The moral animal: Why we are the way we are' में स्पष्टतः लिखा है कि नारीवादियों ने यद्यपि अपने पक्ष में बहुत सारे कानून बनवा लिये हैं व आरक्षण जैसी सुविधाओं को भी हासिल कर लिया है किंतु वे कभी भी पुरुषों की तरह शक्तिशाली नहीं हो पाएंगी क्योंकि उनमें वो ‘जीन’ नहीं हैं जो व्यक्ति को प्रतिस्पर्द्धा झेलने तथा खतरा उठाने के लिये तैयार करते हैं।

नारीवादियों ने रूढ़िवादी विचारधारा के इस मत का खंडन किया है। वे भी मानती हैं कि ‘सेक्स’ का संबंध शारीरिक अंतर से है जबकि जेंडर का संबंध सामाजिक-सांस्कृतिक अंतरों से है। उनका मतभेद ‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ के संबंधों को लेकर है। उनका दावा है कि ‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ में उतना सीधा व तार्किक संबंध नहीं है जितना रूढ़िवादियों ने बताया है। वस्तुतः जेंडर से संबंधित अधिकांश अंतर समाज व संस्कृति द्वारा उत्पन्न किये गए हैं, वे शारीरिक अंतरों से निर्मित नहीं हुए हैं। इसलिये, नर (Male) तथा मादा (Female) के अंतर जहाँ सिर्फ शारीरिक हैं, वहीं पुरुषत्व (Masculinity) तथा स्त्रीत्व (Femininity) के अंतर शारीरिक नहीं, सांस्कृतिक हैं।

नारीवादियों की ओर से सेक्स व जेंडर का अंतर स्पष्ट करने की पहली कोशिश ‘सिमोन द बोउवा’ (Simone De Beauvoir) ने 1949 ई. में लिखित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Second Sex' में की। उन्होंने

‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ शब्दों का विशिष्ट प्रयोग तो नहीं किया किंतु इन धारणाओं का विश्लेषण किया। उनका प्रसिद्ध कथन है कि ‘औरत पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।’ उनका दावा है कि समस्या पुरुष व स्त्री के जैविक अंतरों में नहीं, ‘शाश्वत नारीत्व’ (Eternal Feminine) की उस धारणा में है जो कि एक सामाजिक निर्मिति (Social Construct) है। जब तक महिलाएँ इस धारणा से मुक्त नहीं होंगी, तब तक उनकी मुक्ति संभव नहीं है।

‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ में सबसे स्पष्ट अंतर प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका ‘ऐन ओकले’ (Ann Oakley) ने 1972 ई. में लिखित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Sex, Gender and Society' में किया है। उन्होंने साफ तौर पर लिखा कि पुरुष व नारी में ‘सेक्स’ संबंधी अंतर बहुत थोड़े से हैं जिनका संबंध प्रजनन तथा पोषण से संबंधित अंगों तक सीमित है। पुरुष व नारी के बाकी सारे अंतर संस्कृति द्वारा निर्मित हैं क्योंकि संस्कृति ही ‘पुरुषोचित व स्त्रियोचित’ ('Manly' and 'Womanly') कार्यों का भेद करती है। उन्होंने कई जनजातीय समाजों का अध्ययन करके साबित किया कि जो कार्य सामान्यतः पुरुषोचित माने जाते हैं, वे कई जनजातियों में केवल महिलाएँ करती हैं, जैसे कृषि, शारीरिक श्रम से संबंधित कार्य आदि। इसी प्रकार, बच्चों के पालन-पोषण जैसे कार्य जो सामान्यतः स्त्रियोचित माने जाते हैं, कई जनजातियों में पुरुषों द्वारा किये जाते हैं। इसका अर्थ है कि ‘पुरुषत्व’ व ‘स्त्रीत्व’ जैसी धारणाएँ संस्कृति के अनुसार निर्धारित होती हैं, न कि शारीरिक भिन्नताओं के आधार पर।

‘ऐन ओकले’ ने अपनी धारणा को प्रमाणित करने के लिये मनोविज्ञान से संबंधित कुछ प्रमाण भी दिये हैं। उदाहरण के लिये, उन्होंने सिद्ध किया है कि 1930 ई. के आस-पास मनोविज्ञान में ‘जेंडर’ शब्द का प्रयोग विभिन्न व्यक्तियों के मनोवैज्ञानिक अंतरों को बताने के लिये किया जाता था व इसके अंतर्गत शारीरिक लिंग की कोई भूमिका नहीं होती थी। इसी प्रकार 1968 ई. में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रॉबर्ट स्टॉलर (Robert Stoller) ने अपनी पुस्तक 'Sex and Gender' में स्पष्ट तौर पर माना था कि एक ही ‘सेक्स’ के लोगों में अलग-अलग ‘जेंडर’ की विशेषताएँ व अलग-अलग ‘सेक्स’ के लोगों में एक ही ‘जेंडर’ की विशेषताएँ हो सकती हैं।

समकालीन नारीवाद में ‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ का विवाद एक नए रूप में उभरने लगा है। यद्यपि अधिकांश नारीवादी इन दोनों के अंतर पर अभी भी बल देते हैं किंतु नारीवाद की दो शाखाओं ने इस विभेदीकरण का विरोध किया है। पहली शाखा वह है जिसे आजकल ‘विभेदकारी नारीवाद’ (Difference Feminism) कहते हैं। इसके प्रमुख समर्थक हैं, ग्रिफिन (Griffin) तथा लूस इरीगरे (Luce Irigaray)। इनका दावा है कि यदि बहुत गहराई में जाएँ तो हम पाते हैं कि नारी व पुरुष के मूल अंतर जैविक कारणों में ही छिपे होते हैं, इसलिये नारी व पुरुष मूलतः समान नहीं विभिन्न हैं। दूसरी शाखा उत्तर-आधुनिक नारीवाद (Post-Modern Feminism) की है जिसकी सबसे प्रमुख समर्थक जूलिया क्रिस्टीवा (Julia Kristeva) हैं। इनका दावा है कि दुनिया भर के पुरुषों या औरतों को न तो एक ‘सेक्स’ माना जा सकता है और न ही एक ‘जेंडर’। इन्होंने इस विवाद को नया मोड़ इस रूप में दिया कि इन्होंने सारी महिलाओं को एक सेक्स समूह मानने से भी इनकार कर दिया। इनका तर्क है कि हम सेक्स समूह की चाहे कोई भी परिभाषा निर्मित कर लें, उस परिभाषा में सभी औरतें शामिल नहीं हो पाएंगी।

स्पष्ट है कि नारीवाद के अधिकांश समर्थक यही दावा करते हैं कि ‘सेक्स’ व ‘जेंडर’ समानार्थक शब्द नहीं हैं। इसलिये वे ‘सेक्स’ आधारित अंतरों का नहीं बल्कि जेंडर आधारित अंतरों का विरोध करते हैं जो समाज द्वारा ही निर्मित हैं।

पितृसत्ता (Patriarchy)

उग्र नारीवाद (Radical Feminism) के समर्थकों ने विशेष तौर पर इस विषय को उठाया है। बाकी विचारधाराएँ, जैसे- मार्क्सवाद, उदारवाद, समाजवाद लिंग विभेद (Gender Discrimination) को समाज की

मूलभूत समस्या न मानकर एक उप-उत्पाद (By-product) के रूप में देखती हैं। उदाहरण के लिये, मार्क्सवाद के अनुसार मूल समस्या वर्ग-विभेद (Class Discrimination) की है; लिंग-विभेद वर्ग-विभेद की ही एक अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार, उदारवादियों के अनुसार मूल समस्या व्यक्ति के अधिकारों से संबंधित है। नारियों की समस्या इसी का एक उपवर्ग है। इन तर्कों के विपरीत, उग्र नारीवादियों (Radical Feminists) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि लिंग विभेद की समस्या किसी अन्य समस्या की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि समाज की सबसे मूल समस्या है। जिस तरह नस्लवाद (Racism) और जातिवाद (Castism) मूलभूत समस्याएँ हैं, वैसे ही लिंगवाद (Sexism) भी। लिंगवादी शोषण संरचना की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है— वह है पितृसत्ता (Patriarchy)।

पितृसत्ता (Patriarchy) का पारंपरिक अर्थ है— ऐसा समाज जहाँ घर में पिता की शक्ति सर्वोच्च हो। नारीवादियों ने इसे व्यापक अर्थ में लिया है। उनके दृष्टिकोण से इसका अर्थ है— जीवन के सभी पक्षों में पुरुषों का वर्चस्व या प्रभुत्व (Dominance)। केट मिलेट (Kate Millet) ने पितृसत्ता को परिभाषित करते हुए कहा है कि किसी भी संस्था में पुरुषों द्वारा नारियों पर प्रभुत्व ही पितृसत्ता है। उसके अनुसार पितृसत्ता के दो लक्षण हैं—

(क) पुरुष का नारी पर नियंत्रण होता है।

(ख) अधिक आयु के पुरुष का कम आयु के पुरुषों पर नियंत्रण होता है।

इस अर्थ में पितृसत्ता लैंगिक शोषण के साथ-साथ पीढ़ीगत शोषण (Generational Exploitation) को भी पैदा करती है।

नारीवाद की विभिन्न शाखाओं ने पितृसत्ता की धारणा का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया है। उदार नारीवादी (Liberal Feminists) इसका प्रयोग सिर्फ इस अर्थ में करते हैं कि समाज के संसाधनों पर पुरुषों का कब्जा ज्यादा है। मार्क्सवादी और समाजवादी नारीवादी पितृसत्ता के आर्थिक पक्ष की व्याख्या करते हैं। वे बताते हैं कि संपत्ति जैसी संस्थाएँ तथा पूंजीवाद जैसी व्यवस्थाएँ सीधे तौर पर पितृसत्ता से ही संचालित होती हैं। उग्र नारीवादियों ने इस धारणा का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है। उनके अनुसार पितृसत्ता की सीधी अभिव्यक्ति घर के भीतर की व्यवस्थाओं में ही दिखने लगती है, चाहे वह लैंगिक श्रम-विभाजन हो या फिर नारी-पुरुष के लिये अलग-अलग आचार संहिताएँ।

सार्वजनिक-व्यक्तिगत विवाद (Public-Private Debate)

समकालीन नारीवाद में 'सार्वजनिक' (Public) एवं 'व्यक्तिगत' (Private) का विवाद काफी महत्वपूर्ण है। रूढ़िवादी (Conservative) विचारकों का मानना है कि परिवार एक व्यक्तिगत संरचना है, इसलिये सार्वजनिक जीवन के प्रसंगों से इसे अलग रखा जाना चाहिये। उनका दावा है कि राजनीति एक 'सार्वजनिक' विषय है जो 'व्यक्तिगत' के क्षेत्र से परे है। इस आधार पर यह माना जाता रहा है कि परिवार के भीतर की दुनिया राजनीति से पृथक् तथा असंबद्ध है।

उग्र नारीवादियों ने व्यक्तिगत-सार्वजनिक के इस अंतर को खारिज किया है। प्रसिद्ध नारीवादी केट मिलेट (Kate Millet) ने राजनीति की परिभाषा यह कहकर दी कि "जहाँ शक्ति-संरचना पर आधारित संबंध (Power-structured relationships) होते हैं, वहीं राजनीति होती है" अर्थात् जहाँ शक्ति-संरचना के आधार पर एक व्यक्ति या वर्ग अन्य व्यक्तियों या समूह पर शासन करना है, वहीं राजनीति होती है। इस परिभाषा के आधार पर परिवार के संबंध भी राजनीतिक सिद्ध होते हैं क्योंकि परिवार के भीतर पुरुष शासक वर्ग है जबकि नारी शासित। इसलिये उग्र नारीवादियों का नारा है— 'व्यक्तिगत ही राजनीतिक है' (Personal is political)।

नारीवादियों के अनुसार परिवार की आंतरिक संरचना में कई जगह यह राजनीति दिखती है। इसे उन्होंने 'रोजमर्रा की राजनीति' (Politics of everyday life) कहा है। उदाहरण के लिये, घर के भीतर श्रम विभाजन

की प्रणाली शक्ति से तय होती है और उसी के अनुसार नारियों का सामाजिक अनुकूलन (Social Conditioning) किया जाता है। इसी प्रकार, पारिवारिक संपत्ति के विभाजन में भी राजनीति दिखती है। पुरुष व नारी से संबंधित नैतिक विषयों में भी यह राजनीति झलकती है।

नारीवादियों द्वारा व्यक्तिगत को राजनीतिक कहने का लाभ यह हुआ कि उन्होंने राज्य को परिवार के स्तर पर न्याय-व्यवस्था लागू करने के लिये मजबूर किया। पहले राज्य परिवार के मामले में दखल देने से डरता था क्योंकि परिवार व्यक्तिगत क्षेत्र (Personal sphere) था और राज्य की शक्ति वहाँ खत्म हो जाती थी। किंतु, यदि परिवार के भीतर के संबंध राजनीतिक हैं तो राज्य के हस्तक्षेप की गुंजाइश बनती है। इसी को आधार बनाकर भारत व कई अन्य देशों में ऐसे कानून बनाए गए हैं जो परिवार के भीतर नारी पर होने वाले अत्याचार के खिलाफ हैं। उदाहरण के लिये दहेज हिंसा तथा घरेलू हिंसा से संबंधित कानून ऐसे ही हैं।

उदार नारीवादी इन बात के समर्थक नहीं है कि राज्य परिवार के भीतर हस्तक्षेप करे। उनका मानना है कि ऐसा होने पर व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन राज्य के अधीन हो जाएगा जो अंततः व्यक्ति की स्वतंत्रता के खिलाफ है। रूढ़िवादियों (Conservatives) ने भी उग्र नारीवादियों के इस विचार का विरोध किया है। उनका दावा है कि राज्य के पास इतनी शक्ति नहीं होनी चाहिये कि वह समाज के मूल ढाँचे में परिवर्तन की कोशिश करे।

समान या विभिन्न (Similar or Different)

नारीवाद में सबसे प्रमुख विवाद यही है कि नारी और पुरुष परस्पर समान हैं या विभिन्न? नारीवाद के पहले चरण में, जो कि 1790 ई. से लगभग 1930 ई. तक चला, यह प्रश्न नहीं उठा क्योंकि उस समय नारीवादी यही मानकर चलते रहे कि नारियों को पुरुषों जैसे अधिकार मिलने चाहिये। इस मान्यता में निहित ही था कि चूँकि पुरुष एवं नारियाँ मूलतः समान होते हैं, इसलिये उन्हें समान अधिकार मिलने चाहिये। किंतु 1960 के आसपास नारीवाद के दूसरे चरण के आरंभ से ही यह मूलभूत प्रश्न उठना शुरू हुआ कि क्या सचमुच पुरुष और नारी समान होते हैं या नहीं? नारीवाद की अलग-अलग शाखाओं ने अपने-अपने तरीके से इसका उत्तर दिया।

अधिकांश नारीवादी आज भी मानते हैं कि नारी और पुरुष मूल रूप से समान हैं। उनके जैविक और मनोवैज्ञानिक अंतर बहुत थोड़े हैं और ये अंतर भी कई हजार वर्षों के सामाजिक अनुकूलन (Social Conditioning) से पैदा हुए हैं। यह मत मेरी वॉल्टनक्राफ्ट (Mary Wollstonecraft) और जे.एस. मिल के समय से ही प्रचलित है जिसे सिमोन द बोउवा (Simone De Beauvoir) ने पहली बार व्यापक रूप से समर्थन दिया। सिमोन का दावा है कि “औरत पैदा नहीं होती, बनाई जाती है (Women is not born, she is made so)।” उनका यह भी कहना है कि पुरुष भी पैदा नहीं होता, बनाया जाता है। जन्म के समय लड़के और लड़की में बहुत थोड़े अंतर होते हैं किंतु लिंग-भेद आधारित समाजीकरण की प्रक्रिया उन्हें औरत और पुरुष के सामाजिक प्रारूपों (Social types) में रूपांतरित कर देती है। चूँकि मूलतः नारी एवं पुरुष समान हैं, अतः उनमें दिखाई देने वाले अंतर समाज द्वारा थोपे गए हैं। इसलिये लिंग समानता का मतलब यही होगा कि नारियाँ भी वैसे ही अधिकारपूर्ण जीवन जीने के योग्य बनें जो पुरुषों को प्राप्त होता है।

उदारवादियों, मार्क्सवादियों और अधिकांश उग्र नारीवादियों ने भी इसी मत का समर्थन किया है। मार्क्सवादियों का दावा है कि पुरुषों और नारियों का अंतर वस्तुतः निजी संपत्ति से उत्पन्न वर्ग-विभेद की संरचना में निहित है। यदि निजी संपत्ति की संस्था खत्म हो जाए तो नारी और पुरुष वर्गहीन समाज में परस्पर समान होकर रह सकते हैं। उदार नारीवादी (Liberal Feminist) भी समानता की बात करते हैं पर वे सिर्फ राजनीतिक एवं कानूनी समानता पर बल देते हैं। उनका विश्वास है कि राजनीतिक और कानूनी अधिकार समान हों तो पुरुषों

और नारियों दोनों को 'व्यक्ति' (Individual) के रूप में जीने का अधिकार मिलेगा। कई उग्र नारीवादियों ने भी 'समानता' के दृष्टिकोण का समर्थन किया है। उदाहरण के लिये, फायरस्टोन (Firestone) का मानना है कि यद्यपि नारी की जैविक संरचना उसके शोषण का मूल कारण है, किंतु विज्ञान-तकनीक की मदद से समान स्थिति पैदा की जा सकती है। कट मिलेट (Kate Millet), ऐन ओकले (Ann Oakley) आदि कई अन्य नारीवादियों ने भी इसी दृष्टिकोण पर बल दिया है।

इसके विपरीत, कुछ नारीवादियों का मानना है कि नारी और पुरुष मूलतः भिन्न हैं और उन्हें समान बनाने की कोई भी कोशिश मिथ्या तथा भ्रामक है। यह समझना जरूरी है कि नारी व पुरुष जैविक रूप से अलग हैं और किसी भी तरह से जैविक अंतर को समान नहीं किया जा सकता। प्रश्न है कि यदि नारियाँ पुरुषों से भिन्न हैं तो उन्हें पुरुषों जैसा क्यों होना चाहिये? स्वतंत्रता का असली अर्थ दूसरों जैसा होना नहीं, स्वयं अपने जैसा होना है। इसलिये महिलाओं को अपनी विशिष्ट संस्कृति पर बल देना चाहिये, उन्हें पुरुषों से तुलना करके अपना मूल्यांकन नहीं करना चाहिये। उन्हें नारियों को प्राप्त होने वाले विशिष्ट अनुभवों का आनंद उठाना चाहिये, चाहे वह संतान को जन्म देना हो या उसके साथ भावनात्मक लगाव हो।

नारियों और पुरुषों को भिन्न मानने का समर्थन जिन नारीवादियों ने किया है, उनमें सबसे महत्वपूर्ण लूस इरीगरे (Luce Irigaray) तथा शेरी बी. ऑर्टनर (Sherry B. Ortner) हैं। इनके अतिरिक्त, सांस्कृतिक नारीवाद (Cultural Feminism), पारिस्थितिक नारीवाद (Eco-feminism) तथा लेस्बियन नारीवाद (Lesbian Feminism) जैसी विचारधाराओं ने भी इसका समर्थन किया। पारिस्थितिक नारीवाद (Eco-feminism) के समर्थकों जैसे प्लमवुड (Plumwood) और ओरंस्टीन (Oranstein) का मानना है कि महिलाएँ अपनी सृजनशक्ति के कारण पुरुषों से श्रेष्ठ हैं। इसलिये पुरुषों जैसा होने की उनकी कोशिश खुद को नीचे गिराने के समान है। सांस्कृतिक नारीवाद (Cultural Feminism) के समर्थक मानते हैं कि महिलाओं को अपने विशिष्ट अनुभवों, त्यौहारों आदि का आनंद उठाना चाहिये और अपनी विशिष्ट संस्कृति का विकास करना चाहिये।

नारी और पुरुष को भिन्न मानने वाले कुछ नारीवादी इस हद तक गए हैं कि उन्होंने नारियों को पुरुषों से पूर्णतः पृथक् करने का प्रयास किया है। लेस्बियन नारीवाद (Lesbian Feminism) ऐसा ही अति उग्र विचार है। इसके समर्थकों का दावा है कि स्त्री को अपनी यौनिकता (Sexuality) पुरुष के लिये नहीं रखनी चाहिये बल्कि महिलाओं को आपस में ही प्रेम की दुनिया बनानी चाहिये। इन्होंने यहाँ तक कहा कि जो महिलाएँ पुरुषों से प्रेम करती हैं, वे पुरुषों के लिये साधन बन जाती हैं। किंतु, बाकी नारीवादियों ने इस विचार को खारिज करते हुए कहा कि यौन जीवन व्यक्ति का व्यक्तिगत क्षेत्र है जिसके फैसले उसे अपनी रुचि के अनुसार लेने चाहिये।

नारियाँ या पुरुष समान हैं या भिन्न— यह आज तक स्पष्ट नहीं हो सका है। जैविक अंतरों पर बल देने वाले उन्हें भिन्न मानते हैं और सामाजिक, सांस्कृतिक अंतरों पर बल देने वाले दावा करते हैं कि वे मूलतः समान हैं। इस बीच जूलिया क्रिस्टीवा (Julia Kristeva) जैसे उत्तर-आधुनिक नारीवादियों (Post-Modern Feminists) ने इस विवाद में यह कहकर नया विवाद जोड़ दिया है कि दुनिया भर की नारियाँ भी 'एक वर्ग' नहीं हैं क्योंकि उनमें भी आपसी अंतर इतने ज़्यादा हैं कि किसी भी एक आधार पर उन सभी को एक वर्ग में शामिल नहीं किया जा सकता।

स्त्री भ्रूण हत्या (Female Foeticide)

बालिका भ्रूण हत्या चयनात्मक लिंग नियंत्रण की एक व्यवस्था है। यूँ तो दुनिया के कई देशों में लैंगिक चयन की संस्कृति दिखाई पड़ती है, किंतु बालिकाओं के पक्ष में ऐसी संस्कृति कहीं मौजूद नहीं है। पुरुषों के पक्ष में लिंग चयन की मानसिकता जिन देशों में दिखाई पड़ती है उनमें प्रमुख हैं— भारत, पाकिस्तान, चीन,

कोरिया, ताईवान, मलेशिया, सिंगापुर इत्यादि। बालिका भ्रूण हत्या लिंग चयन का वह रूप है जो आधुनिक तकनीकों के कारण अस्तित्व में आया।

यह समस्या मूलतः इसलिये है कि समाज में महिलाओं को बोझ माना जाता है। जब समाज इस बोझ को हटाने की मानसिकता बना लेता है तो बालिका हत्या जैसी परंपराएँ शुरू होती हैं। कई धर्मों जैसे हिंदू तथा कंफ्यूशियन धर्म में कई धार्मिक दायित्व निभाने का अधिकार सिर्फ पुरुष के पास है। इसके अतिरिक्त, महिला की सुरक्षा और दहेज जैसी समस्याएँ उसके माता-पिता पर अत्यधिक दबाव बनाती हैं। फिर, वृद्धावस्था में पुरुष संतान ही माता-पिता को सहारा दे पाती है- यह सामाजिक सुरक्षा का भाव भी पुरुष संतान के पक्ष में है। दुनिया के अधिकांश समाजों में वंश परंपरा पुत्र के नाम से चलती है, इसलिये भी बेटे का महत्त्व बेटे से ज्यादा है। कुछ धर्म भ्रूण हत्या का कठोर विरोध करते हैं, जैसे- इस्लाम व कैथोलिक ईसाई। इसके अतिरिक्त सिख जैसे धर्मों में बालिकाओं को बालकों के समान मानने का मजबूत सिद्धांत दिखता है। किंतु, सैद्धांतिक विश्वासों के विपरीत इन धर्मों में भी व्यावहारिक रूप में पुरुष संतान को ही वरीयता मिलती है।

बालिकाओं की हत्या की परंपरा नई नहीं है। ऐसा माना जाता है कि प्राचीन व मध्यकालीन समाज में, जहाँ असुरक्षा का माहौल ज्यादा होता था और युद्ध बार-बार होते थे, वहाँ इसका प्रयोग किया जाता था। विशेष रूप से बालिकाओं की तो नहीं, किंतु अपंग और कुरूप बच्चों की हत्या का सुझाव प्लेटो ने भी दिया है। भारत जैसे देशों में पिछले कई वर्षों से चयनात्मक शिशु हत्याएँ होती रही हैं और इसकी शिकार बालिकाएँ ही बनी हैं। 1970 ई. से पूर्व बालिका हत्या एक बड़ी समस्या बन गई थी जो राजस्थान और तमिलनाडु जैसे क्षेत्रों में आज भी प्रचलित है।

1970 ई. के आस-पास कुछ ऐसी तकनीकों का विकास हुआ जिन्होंने जन्म से पूर्व ही बालिका की हत्या करना संभव बना दिया। ऐसी दो तकनीकें बहुत प्रसिद्ध हुईं। इनमें से एक 'एम्नियोसिंटेसिस' है तथा दूसरी 'अल्ट्रासोनोग्राफी'। एम्नियोसिंटेसिस में भ्रूण के आस-पास लिपटे हुए द्रव्य पदार्थ (Amniotic Fluid) का परीक्षण किया जाता है ताकि बच्चे में उपस्थित किसी आनुवंशिक विकार का पता लगाया जा सके। इसमें लिंग का पता भी चल जाता है। दूसरी तकनीक अल्ट्रासोनोग्राफी में ध्वनि की आवृत्ति से अधिक आवृत्ति की तरंगों का प्रयोग करके गर्भस्थ भ्रूण के स्वास्थ्य की जाँच की जाती है। किंतु, इससे भी भ्रूण का लिंग पता लग जाता है। भारत सरकार ने 1975 ई. में एम्नियोसिंटेसिस तकनीक को मान्यता प्रदान की। इससे पूर्व 1971 ई. में वह मानवीय उद्देश्यों के लिये गर्भपात (MTP) को अनुमति दे चुकी थी। इन दोनों के समन्वय का परिणाम बेहद खतरनाक सिद्ध हुआ।

पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा चंडीगढ़ जैसे क्षेत्रों में जहाँ आर्थिक समृद्धि अन्य क्षेत्रों से ज्यादा थी और तकनीक का खर्च वहन करने की लोगों में क्षमता थी, वहाँ इन तकनीकों का भयानक परिणाम हुआ। बहुत बड़ी संख्या में लोग भ्रूण का परीक्षण कराके बालिका भ्रूण की हत्या करवाने लगे। देखते-ही-देखते इन क्षेत्रों का लिंगानुपात भयानक रूप से बिगड़ने लगा। बालिका भ्रूण हत्या की दृष्टि से इस क्षेत्र को 'बारमूडा त्रिकोण' की संज्ञा दी जाने लगी जिसका अर्थ था कि इस इलाके में बालिका भ्रूण बच नहीं पाता है।

भारत सरकार व कई राज्य सरकारों ने इसके विरुद्ध कदम उठाए। 1976 ई. में भारत सरकार ने सभी सरकारी अस्पतालों में लिंग परीक्षण की सुविधा समाप्त कर दी हालाँकि निजी अस्पतालों में नहीं की। 1988 ई. में महाराष्ट्र सरकार ने ऐसी तकनीकों पर प्रभावी नियंत्रण के लिये कानून बनाया। देखते-ही-देखते हरियाणा, पंजाब और गुजरात विधानसभाओं ने भी ऐसे ही कानून पारित कर दिये। इसके बाद 1994 ई. में भारत सरकार ने 'जन्म पूर्व लिंग परीक्षण अधिनियम' (P.N.D.T. Act) बनाया जो 1996 ई. में लागू हुआ। इसमें सभी सरकारी व निजी अस्पतालों को जन्म पूर्व लिंग परीक्षण से रोका गया। इसे दंडनीय अपराध घोषित किया गया तथा हर अस्पताल को इस आशय की सूचना लगाने को कहा गया। इस कानून से स्थिति बहुत थोड़ी सी ही सुधरी। कुछ बड़े अस्पतालों, जिन्हें अपनी प्रतिष्ठा की काफी फिक्र थी, उन्होंने इस तकनीक का प्रयोग रोक दिया।

लेकिन, छोटे अस्पतालों में यह कानून कारगर सिद्ध नहीं हुआ। अल्ट्रासाउण्ड की इतनी छोटी मशीनें बनने लगीं कि उन्हें उठाकर छोटे गाँवों तक ले जाना भी संभव हो गया। इससे स्थिति और बिगड़ने लगी।

इसी बीच कुछ और तकनीकी विकास हुए जिनसे समस्या और गहरी हो गई। कानून में प्रावधान यह था कि भ्रूण बनने के बाद तथा जन्म से पूर्व लिंग परीक्षण नहीं होना चाहिये। अब ऐसी तकनीकें आ गई हैं जो भ्रूण के निर्माण से पहले ही लिंग निर्धारण करने में सक्षम हैं। इन तकनीकों को सामान्यतः 'गर्भ पूर्व लिंग चयन' (PGS-Pre Conception Gender Selection) कहा जाता है। इनमें सबसे प्रसिद्ध दो तकनीकें हैं- 1. 'शुक्राणु विलगन तकनीक' जिसे एरिक्सन तकनीक भी कहा जाता है। तथा 2. 'इन विट्रो फर्टिलाइजेशन' (In-Vitro Fertilization) जिसका एक प्रसिद्ध रूप परखनली तकनीक भी है। ये तकनीकें पंजाब, हरियाणा, चंडीगढ़ में फिर तेजी से फैल गईं। लगभग 20 वर्षों की इस प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि 'बाल लिंग अनुपात' (0-6 वर्ष के बीच) पंजाब में सिर्फ 793 बचा है, हरियाणा में 820, चंडीगढ़ में 845 और हिमाचल प्रदेश में 897। इससे इन समाजों में कई विसंगतियाँ पैदा होने लगीं, जैसे- महिलाओं की जनसंख्या कम होना, महिलाओं के विरुद्ध अपराध बढ़ना, महिलाओं की संख्या कम होने के कारण कम आयु में उन पर विवाह के लिये दबाव बनना, पं. बंगाल व नेपाल जैसी जगहों से महिलाओं को खरीद कर विवाह का व्यापार होना तथा वेश्यावृत्ति जैसे अपराधों का बढ़ना।

भारत सरकार ने हाल ही में इसके विरुद्ध कानून बनाया है जिसे 'भ्रूण पूर्व तथा जन्म पूर्व लिंग निर्धारण अधिनियम' (PCPNDT Act-2003) कहा जाता है। यह कानून 2003 में लागू हुआ। इसके अंतर्गत एरिक्सन तकनीक व आई.वी.एफ. तकनीक का प्रयोग भी लिंग चयन के लिये करना अपराध घोषित किया गया है।

बालिका भ्रूण हत्या की समस्या भारत के लिये एक बड़ी समस्या है। 1961 से 'सामान्य लिंग अनुपात' के साथ-साथ 'बाल लिंग अनुपात' का अध्ययन शुरू हुआ। सामान्य लिंग अनुपात तो 1981 और 2001 की जनगणनाओं में पिछली जनगणना की अपेक्षा कुछ सुधरा, किंतु बाल लिंग अनुपात लगातार कम हुआ है। यह 1961 में 976 था, 1971 में 964 हुआ, 1981 में 962, 1991 में 945 तथा 2001 में 927 हो गया है। 2001 में सामान्य लिंग अनुपात तो 929 से 933 हुआ किंतु बाल लिंग अनुपात पहली बार सामान्य लिंग अनुपात से भी नीचे चला गया जो इस बात का संकेत है कि लगभग 15 वर्षों के बाद भारत की सामान्य जनसंख्या में लिंगानुपात की स्थिति और ज़्यादा बिगड़ सकती है।

भूमि एवं संपत्ति अधिकार (Land and Property Rights)

महिलाओं की सामाजिक विषमता का एक बड़ा कारण उनका आर्थिक स्थिति कमज़ोर होना है जिसमें बहुत बड़ी भूमिका भूमि व संपत्ति अधिकारों के अभाव भी है। यह समस्या पूरे विश्व में तथा हर काल में रही है। यूरोप व अमेरिका में 19वीं शताब्दी में इसके विरुद्ध लंबा संघर्ष हुआ, लेकिन विवाहित महिलाओं को संपत्ति में बराबरी का अधिकार व्यावहारिक रूप से अभी तक नहीं मिल पाया है। यही समस्या भारत जैसे देशों में भी है।

भारत में संपत्ति से संबंधित मामले सिविल प्रक्रिया में सम्मिलित हैं। हिंदू समाज पर लागू होने वाले सिविल कानून मुख्यतः संसद द्वारा पारित हैं। अल्पसंख्यक समाजों पर मुख्यतः 1925 ई. का 'भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम' लागू होता है। इसके अतिरिक्त, उन पर मुख्य रूप से अल्पसंख्यकों के पर्सनल कानून लागू होते हैं।

जहाँ तक हिंदू समुदाय का पक्ष है, उसमें संपत्ति उत्तराधिकार के मुख्यतः दो नियम परंपरा में प्रचलित रहे हैं- मिताक्षर तथा दायभाग। मिताक्षर नियमों की रचना विज्ञानेश्वर ने की थी, जबकि दायभाग की ज़िम्मेदारता ने। ये दोनों नियम पैतृक संपत्ति का अधिकार पुरुषों को ही देते हैं। अंतर यह है कि मिताक्षर के अनुसार पुरुष

संतान को जन्म लेते ही संपत्ति में हिस्से का अधिकार मिल जाता है, जबकि दायभाग में पिता की मृत्यु के उपरान्त ही यह अधिकार मिलता है।

जवाहरलाल नेहरू तथा अंबेडकर के सक्रिय प्रयासों के कारण 1955 ई. में 'हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम' लागू हुआ जिसमें सैद्धांतिक रूप से महिलाओं को पैतृक संपत्ति हिस्सा दे दिया गया। जहाँ तक निवास संबंधी अधिकार की बात थी, यह विवाहित पुत्री को नहीं मिला किंतु अविवाहित पुत्री, विधवा पुत्री तथा पति द्वारा परित्यक्त पुत्री को यह अधिकार भी मिला। इस कानून में भी अंततः अचल संपत्ति पुरुष के पक्ष में रही, विवाहित महिला को पति के परिवार की संपत्ति में पर्याप्त हिस्सा नहीं मिला। व्यावहारिक रूप से सामाजिक परंपराओं का हवाला देकर महिलाओं को संपत्ति से वंचित रखा गया। सामान्यतः महिलाओं से इस आशय का शपथ पत्र लिखवा लिया जाता है कि वे पैतृक संपत्ति में हिस्सा नहीं चाहतीं। इस प्रकार संपत्ति सिर्फ भाइयों तक सीमित रहती है।

एक समस्या यह भी है कि जिन हिंदू परिवारों में संपत्ति किसी व्यक्ति के नाम न होकर हिंदू अविभाजित परिवार (HUF) के नाम होती है, वहाँ प्रायः मिताक्षर नियम ही लागू होता है जो महिलाओं को संपत्ति से वंचित कर देता है। केरल वह पहला राज्य है जिसने इस नियम का उन्मूलन कर दिया है। इसके बाद आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र ने भी अपने कानूनों में सुधार किया है जिससे हिंदू महिलाओं की संपत्ति संबंधी स्थिति सुधरी है।

मुस्लिम महिलाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। मुस्लिम पर्सनल लॉ में पुत्र को 2/3 हिस्सा मिलता है जबकि पुत्री को 1/3 हिस्सा। यदि पुत्र न हो तो भी पुत्री को सिर्फ आधी संपत्ति मिलती है और आधी शेष रिश्तेदारों को। यदि संतान न हो और यदि किसी औरत के पति की मृत्यु हो जाए तो उसे 1/4 संपत्ति मिलती है। यदि उसकी संतान हो तो महिला का हिस्सा घट कर 1/8 रह जाता है। यदि महिला को तलाक दे दिया जाए तो उसे मेहर की मामूली राशि मिलती है, न कि गुजारा भत्ता या संपत्ति। ध्यातव्य है कि कुछ न्यायालयों ने आपराधिक प्रक्रिया संहिता (CRPC) की धारा-125 के अंतर्गत मुस्लिम महिलाओं को गुजारा भत्ता दिया है किंतु शाहबानो प्रकरण बाद सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा कोई प्रगतिशील निर्णय नहीं दिया। सैद्धांतिक रूप में मुस्लिम महिलाओं को अपने भाई व बेटे की संपत्ति में हिस्सा मिलता है, जो व्यवहारतः नहीं मिल पाता है।

ईसाई महिलाओं की स्थिति भी ऐसी ही है। 'भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम' 1872 में लागू हुआ था जो आज तक वैसा ही चल रहा है। इसके अंतर्गत यदि पति बिना वसीयत किये मर जाए तो पत्नी को 1/3 हिस्सा मिलता है, जबकि शेष संपत्ति अन्य रिश्तेदारों विशेषतः संतानों को मिलती है। यदि संतान न हो तो भी महिला को सिर्फ आधी संपत्ति मिलती है, शेष अन्य रिश्तेदारों को। 1986 ई. में सुप्रीम कोर्ट ने 'त्रावणकोर ईसाई उत्तराधिकार नियम' को खारिज करते हुए 'सीरियन ईसाई उत्तराधिकार नियम' को मान्यता दी जो पुत्र-पुत्री को समान अधिकार देता है।

ऐसी ही स्थिति पारसी महिलाओं की भी है। 1865 ई. में 'पारसी विवाह तथा तलाक अधिनियम' लागू हुआ था जो 1936 ई. में संशोधित हुआ। इसके अनुसार पुत्र को 2/3 व पुत्री को 1/3 हिस्सा मिलता है। यदि संपत्ति माँ की हो तो पुत्र तथा पुत्री को बराबर हिस्सा मिलता है।

कुल मिलाकर, भारत में महिलाओं की कमजोर स्थिति का एक बड़ा कारण उन्हें भूमि व संपत्ति अधिकार न मिल पाना है। राज्य ने इस संबंध में कई प्रयास किये हैं। उदाहरण के लिये, संपत्ति के पंजीकरण में लगभग सभी राज्य महिलाओं से कम स्टांप शुल्क लेते हैं जबकि पुरुषों से अधिक। कई ऐसे कानून भी बनाए गए हैं जिनमें आवास व संपत्ति की सरकारी व्यवस्थाओं में महिलाओं को विशेष वरीयता मिलती है। किंतु, समग्रतः अभी भी स्थिति बेहतर नहीं है। यह समझना बेहद जरूरी है कि महिलाओं के वास्तविक सशक्तीकरण तथा दहेज जैसी समस्याओं का वास्तविक समाधान यही है कि महिलाओं को संपत्ति में बराबरी का अधिकार मिले।

नारीवाद (Feminism)

नारीवाद वह विचारधारा या आंदोलन है जो पुरुष व नारी के विभेद को समाप्त करने के लिये नारियों को शक्तिसंपन्न बनाने का प्रयास करता है। नारियों का पिछड़ापन प्राचीन काल से ही भारतीय व पश्चिमी सभी सभ्यताओं में दिखता है। चिंतन के क्षेत्र में देखें तो भारत में मनुस्मृति और उत्तर वैदिक काल के बाद के बहुत से ग्रंथों में ऐसा भेद दिख जाता है। यहाँ तक कि कबीर जैसे क्रांतिकारी चिंतक व महात्मा गांधी जैसे महान नेता के विचारों में भी स्त्री की उपेक्षा किसी न किसी मात्रा में झलकती है। पश्चिमी चिंतन में प्लेटो व अरस्तू ने स्पष्टतः पुरुषों को महिलाओं से श्रेष्ठ बताया है। रूसो ने महिलाओं का कुछ पक्ष लिया किंतु अंततः उसके विचार भी महिलाओं के विरुद्ध ही सिद्ध हुए। कांट ने भी कहा कि महिलाएँ भावनाओं के अधीन होती हैं, वे उसूलों पर चलने में सक्षम नहीं होतीं। ऐसी ही स्थिति लगभग सभी धर्मों में भी रही। हिंदू धर्म में पिंडदान, दहेज-प्रथा व सती-प्रथा जैसी व्यवस्थाओं में पुरुष वर्चस्व दिखता है। बुद्ध ने बौद्ध संघ में स्वयं महिलाओं का शामिल होना अच्छा नहीं माना। जैन धर्म में दिगंबर संप्रदाय के समर्थक महिलाओं को मोक्ष का अधिकारी नहीं मानते। यहूदी, ईसाई व इस्लाम धर्म के अनुसार औरत पुरुष की अतिरिक्त पसली से बनाई गई है व उसी ने आदम को वह आदिम पाप (Original Sin) करने के लिये प्रेरित किया जिसके दंड के तौर पर आदम व ईव दोनों को स्वर्ग से निकाल दिया गया। अतः आज तक मानव जाति पहली औरत के ही पाप का फल भुगत रही है। इस्लाम के प्रसिद्ध ग्रंथ 'हदीस' में तो यहाँ तक कहा गया है कि सभी औरतें हौवा की बेटियाँ हैं जिन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

मध्यकाल तक चूँकि यही धार्मिक-दार्शनिक विचार समाज में प्रचलित रहे, इसलिये नारियों की स्थिति हीन बनी रही। नारी मुक्ति का विचार 18वीं शताब्दी में उभरना शुरू हुआ, जब अमेरिका व फ्राँस की क्रांतियों के दौरान उदारवादियों ने समानता, स्वतंत्रता, न्याय व बंधुत्व की आवाज़ उठाई।

ऐतिहासिक विकास (Historical Development)

नारीवाद का पहला चरण 1790 ई. के आसपास शुरू होकर लगभग 1930 ई. तक दिखाई पड़ता है। यह दौर पूरी तरह उदार नारीवाद (Liberal Feminism) का दौर रहा। इसकी शुरुआत फ्राँस व अमेरिका से हुई। 1790 ई. के दशक में फ्राँस की रिपब्लिकन क्रांति के बाद महिलाओं के कई समूह बने जिन्होंने महिलाओं को समानता व स्वतंत्रता देने की मांग की। ऐसे ही एक समूह की अध्यक्ष थी- 'मेरी गूज़' (Marie Gouze)। इन्होंने 'महिला अधिकार घोषणा पत्र' प्रकाशित किया। किंतु, फ्राँस की क्रांतिकारी सरकार भी नारी-मुक्ति की इस मांग को स्वीकार नहीं कर सकी। 1793 ई. में मेरी गूज़ को 'नारी के आदर्श गुण भूल जाने' के अपराध में मृत्युदंड दिया गया। इसी वर्ष एक अन्य लेखिका 'मेरी वॉलस्टनक्राफ्ट' (Mary Wollstonecraft) ने नारी अधिकारों का घोषणा पत्र अपनी पुस्तक 'विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वीमेन' के नाम से प्रकाशित किया जो नारीवादी चिंतन की आधारभूत पुस्तक मानी गई क्योंकि इसमें नारियों व पुरुषों के भिन्न गुणों की व्याख्या को खारिज किया गया है।

19वीं शताब्दी में नारीवादी आंदोलन अमेरिका में केंद्रित हो गया व दास-प्रथा विरोधी आंदोलन से जुड़ गया। किंतु, 1866 ई. में जब अमेरिका में दासों को मुक्ति मिली तो सिर्फ पुरुष दासों को मताधिकार दिया गया, स्त्रियों को नहीं। यहाँ आकर स्पष्ट हो गया कि नारी आंदोलन किसी अन्य आंदोलन से जुड़कर नहीं बल्कि एक स्वतंत्र आंदोलन के रूप में ही चल सकता है। 1860 ई. के बाद इंग्लैंड में महिलाओं का एक समूह तेज़ी से उभरा जिन्हें 'मताधिकारवादी' या 'सफरैजिस्ट' (Suffragist) कहा गया। इनकी मांग थी कि पुरुषों के समान उन्हें भी मताधिकार दिया जाए। मोटे तौर पर 19वीं सदी में इसी मांग को उठाया गया। 20वीं सदी की शुरुआत में अमेरिका व यूरोप में यह आंदोलन चरम स्तर पर था। 1910 से 1930 के बीच में

अधिकांश देशों में महिलाओं की यह मांग मान ली गई और नारीवाद का पहला चरण यहीं समाप्त हो गया। भारत तथा अन्य ऐसे देशों में जहाँ साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चल रहा था, इस समय तक नारीवादी आंदोलन स्वाधीनता आंदोलन के एक अंग के रूप में ही चलता रहा।

1920 ई. के आसपास महिलाओं को मताधिकार तो मिल गया किंतु धीरे-धीरे उन्हें समझ आया कि यह तो मात्र औपचारिक (Formal) समानता है, तात्त्विक (Substantive) नहीं। यदि 4-5 वर्षों में एक बार मिलने वाले मताधिकार को छोड़ दें तो उनके वास्तविक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया था। 1960 ई. के दशक में मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में जब अमेरिका में अश्वेतों की मुक्ति के लिये नागरिक अधिकार आंदोलन (Civil Rights Movement) की शुरुआत हुई तो वहाँ की महिलाओं ने भी तात्त्विक स्वतंत्रता की मांग उठाई व यहीं से नारीवाद का दूसरा चरण आरंभ हुआ। इस चरण की खास बात यह थी कि इससे पूर्व सिमोन द बोउआ 'द सेकंड सेक्स' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिख चुकी थीं जिसमें वास्तविक समानता की धारणा पर विस्तृत चिंतन किया गया था।

नारीवाद की शाखाएँ (Branches of Feminism)

यदि नारीवाद की विभिन्न धाराओं पर दृष्टिपात करें तो तीन प्रमुख व कुछ गौण धाराएँ देखी जा सकती हैं। तीन प्रमुख धाराएँ हैं- उदार नारीवाद, समाजवादी नारीवाद तथा उग्र नारीवाद।

उदार नारीवाद (Liberal Feminism)

उदार नारीवाद का संबंध उदारवाद (Liberalism) की विचारधारा से है जो व्यक्तिवाद (Individualism) में विश्वास रखती है। इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलनी चाहिये ताकि वह अपनी इच्छा के अनुसार अपनी क्षमताओं का प्रयोग कर सके तथा अपने जीवन से संबंधित निर्णय स्वयं ले सके। यह विचारधारा उदारवादी इसलिये भी कहलाती है क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तन के लिये वैधानिक तथा शांतिपूर्ण उपायों पर ही बल देती है, किसी हिंसक क्रांति या सामाजिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन को स्वीकार नहीं करती। विश्व के लगभग सभी देशों में उदार नारीवाद अपने-अपने तरीके से विद्यमान है।

उदार नारीवाद, नारीवाद के पहले व दूसरे-दोनों चरणों में दिखता है। पहले चरण में इसे 'मेरी वॉल्ट्स्टनक्राफ्ट' की प्रसिद्ध पुस्तक 'विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वीमेन' से वैचारिक आधार मिला। इसमें उसने दावा किया था कि स्त्रियों को मानव होने के नाते वे सभी मानवाधिकार मिलने चाहिये जो पुरुषों को मिलते हैं। उसका दावा था कि यदि महिलाओं को उचित शिक्षा मिल जाए व उसे भी तार्किक (Rational) प्राणी मान लिया जाए तो लैंगिक अंतर स्वतः समाप्त हो जाएंगे।

प्रसिद्ध उदारवादी चिंतक जे.एस. मिल ने 1868 ई में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Subjection of Women' लिखी जो कि किसी पुरुष विचारक द्वारा महिलाओं के पक्ष में लिखी गई पहली महत्वपूर्ण पुस्तक है। मिल ने कहा कि समाज में किसी भी वर्ग की उपलब्धियाँ जन्म के संयोग से नहीं बल्कि व्यक्तिगत क्षमताओं व गुणों से तय होनी चाहिये। उसने स्त्रियों के लिये शिक्षा, रोजगार व मतदान जैसे अधिकारों की वकालत की।

दूसरे चरण के नारीवाद में भी कुछ उदारवादी चिंतक प्रमुख तौर पर दिखाई पड़ते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं- बैट्टी फ्रॉयडन, जिन्होंने दो प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं- 'The Feminine Mystique' व 'The Second Stage'। फ्रॉयडन के अनुसार महिलाओं की मूल समस्या 'स्त्रीत्व' (Feminine) की वह धारणा है जिसके कारण यह माना जाता है कि महिला को सुरक्षा व आनंद घर के भीतर ही मिलता है जबकि सच यह है कि कोई भी स्त्री लगातार घर में बंद रहकर निराशा व कुंठा ही महसूस करती है। उसने स्पष्ट कहा कि महिलाओं को व्यक्ति (Person) मानना चाहिये। जैसे पुरुषों को व्यक्तिगत जीवन में अधिकार मिलते हैं, वैसे ही उन्हें भी मिलने चाहिये।

उदार नारीवाद की समस्या है कि यह व्यक्तित्व पर इतना अधिक बल देता है कि नारी आंदोलन में कोई सहमति नहीं बन पाती। इसका कारण है कि यदि हर नारी का व्यक्तित्व भिन्न व अनूठा है तो उनके बीच समान मुद्दे अनुपस्थित हो जाते हैं। दूसरी समस्या यह है कि यह आंदोलन सिर्फ मध्यवर्ग, अभिजात वर्ग तथा श्वेत वर्ग तक सीमित होकर रह गया। इसकी प्रमुख मांगें शिक्षा व मताधिकार थीं जो उन्हीं महिलाओं की हो सकती हैं जिनकी मूलभूत जरूरतें पूरी हो गई हों व जिन्हें रंगभेद जैसी अमानवीय विषमताएँ न झेलनी पड़ती हों।

समाजवादी/मार्क्सवादी नारीवाद (Socialist/ Marxist Feminism)

यूँ तो समाजवाद के विभिन्न प्रकार हैं किंतु लिंग-भेद की समस्या पर व्यवस्थित चिंतन मार्क्सवाद के अंतर्गत किया गया है। मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिक एंजल्स ने लिंग विषमता की समस्या पर अपनी पुस्तक "The Origins of the Family, Private Property and the State" में विचार किया है। इसमें की गई व्याख्या को नारीवाद की प्रारंभिक मार्क्सवादी व्याख्या माना जाता है।

एंजल्स के अनुसार लिंग विषमता की समस्या मुख्यतः पूंजीवाद के जन्म के बाद की है। पूंजीवाद से पहले ग्रामीण अर्थव्यवस्था में संपत्ति का स्थानांतरण परिवार के स्तर पर होता था जिसमें स्त्रियों को भी पर्याप्त महत्व मिल जाता था। पूंजीवाद ने पुरुषों द्वारा निजी संपत्ति पर अधिकार करने की स्थिति पैदा की जो उसके शब्दों में 'दुनियाभर की महिलाओं की ऐतिहासिक पराजय' है।

एंजल्स के अनुसार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि एक-विवाह (Monogamy) की प्रणाली मानवीय संबंधों को व्यवस्थित करने के लिये नहीं बल्कि पूंजीवाद को सफल बनाए रखने के लिये पैदा की गई है। उसने इस धारणा के पक्ष में कई प्रमाण दिये हैं जो इस प्रकार हैं—

1. निजी संपत्ति की धारणा संपत्ति के हस्तांतरण के विचार से जुड़ी है। हर पुरुष चाहता है कि उसकी संपत्ति उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र को मिले। इसके लिये जरूरी है कि वह पूरी निश्चयात्मकता के साथ जानता हो कि उसका पुत्र कौन है? उस समय वैज्ञानिक-तकनीकी उपायों से यह निश्चयात्मकता उपलब्ध नहीं हो सकती थी। इसे निर्धारित करने का एक ही तरीका था कि पुरुष का एक नारी की यौन गतिविधियों पर पूरा नियंत्रण हो ताकि उससे उत्पन्न संतान अनिवार्यतः व निर्विवादतः उसी की हो। एक-विवाह की प्रणाली निजी संपत्ति के स्थानांतरण की इसी मांग का परिणाम है जो पूंजीवाद के तहत विकसित होती है। एक वाक्य में कहें तो पूंजीवाद में निर्विवाद पितृत्व (Undisputed Paternity) की व्यवस्था जरूरी है व यह एक-विवाह प्रणाली से ही संभव है। एंजल्स के अनुसार इस व्यवस्था में औरत की स्थिति सिर्फ संपत्ति के उत्तराधिकारी को पैदा करने की होती है। उसका अपने शरीर तथा यौन गतिविधियों पर भी नियंत्रण नहीं रहता। स्पष्ट तौर पर विवाह व परिवार शोषण की व्यवस्थाएँ हैं जिनमें पुरुष शोषक वर्ग है व स्त्री शोषित वर्ग।
2. एकविवाही पारिवारिक संरचना के कारण मजदूरों की पत्नियाँ घरों में रहती हैं व घरेलू कार्यों की देखरेख करती हैं। यदि वे ऐसा न करें तो मजदूरों को अपने घरेलू कार्य स्वयं करने पड़ेंगे जिससे उनके बहुत से समय व ऊर्जा का हास होगा। चूँकि परिवार के कारण यह समय व ऊर्जा मजदूर को उपलब्ध है अतः वह कारखाने में अधिक उत्पादन कर पाता है जो पूंजीवाद के ही पक्ष में है।
3. पूंजीवाद की निरंतरता के लिये जरूरी है कि मजदूरों की भावी पीढ़ी का निर्माण होता रहे। उनके बच्चे न केवल जन्म लें बल्कि उनकी परवरिश भी होती रहे— ये दोनों कार्य विवाह व्यवस्था से ही हो पाते हैं।
4. पूंजीवाद अधिकतम लाभ के सिद्धांत पर आधारित है व यह तभी संभव है जब मजदूर को न्यूनतम मजदूरी दी जाए। मांग व पूर्ति के अंध नियम के कारण मजदूरों की आय वैसे ही कम होती है किंतु सभी मजदूरों की पत्नियों की उपस्थिति इस बात का खतरा होती है कि यदि कोई मजदूर दबाव बनाना चाहे तो किसी अन्य की पत्नी उसका विकल्प बन सकती है। इस दबाव के कारण मजदूरों का वेतन निर्वाह-स्तर (Subsistence Level) पर ही टिका रहता है।

5. पूंजीवाद को कभी-कभी मांग में आने वाली तीव्र वृद्धि के कारण अतिरिक्त श्रम की ज़रूरत होती है किंतु ऐसे श्रमिकों को वह स्थायी रोज़गार नहीं दे सकता। इस आवश्यकता की पूर्ति भी विवाह व्यवस्था से होती है। आवश्यकता पड़ने पर मज़दूरों की पत्नियों को अतिरिक्त धन का लालच देकर अल्पकालिक श्रम के लिये बुला लिया जाता है व काम हो जाने के बाद वापस भेज दिया जाता है। यह 'संरक्षित श्रम शक्ति' (Reserved Labour Force) पूंजीवाद के विकास के लिये बेहद महत्वपूर्ण है।
6. मज़दूरों की एक बड़ी समस्या है अलगाव या आत्मनिर्वासन (Self-Alienation) की समस्या। मज़दूर दिन-रात एक ही तरह का ऊबाऊ काम करते-करते और भयानक कार्य स्थितियों में बने रहने के कारण अलगाव के शिकार हो जाते हैं। परिवार इस अलगाव को भी कम करता है क्योंकि पारिवारिक सदस्य मज़दूर को भावनात्मक सुरक्षा व सहजता प्रदान करते हैं। यदि अलगाव का यह समाधान न हो तो मज़दूर की उत्पादक क्षमताएँ काफी कम हो सकती हैं।

एंगेल्स ने लिंग विषमता की समस्या का समाधान साम्यवाद (Communism) में खोजा है। सर्वहारा की तानाशाही के संक्रमणकाल के बाद मानवीय इतिहास की सर्वोच्च अवस्था आएगी जिसे साम्यवाद कहते हैं। साम्यवाद में निजी संपत्ति की धारणा नहीं रहेगी इसलिये विवाह व परिवार जैसे उसके उपोत्पाद (By-products) भी नहीं रहेंगे। घरेलू कार्यों का समाजीकरण हो जाएगा अर्थात् भोजन-निर्माण, बच्चों का पालन-पोषण जैसे कार्य कम्यून (समुदाय) के स्तर पर होंगे, न कि परिवार के स्तर पर। इससे महिलाओं की श्रम शक्ति समाज के लिये उपयोगी हो सकेगी। वे भी अपनी सृजनात्मक क्षमताओं के अनुसार अपना विकास कर सकेंगी।

नव-मार्क्सवादियों ने पारंपरिक मार्क्सवाद में कुछ संशोधन किया है। एरिक फ्रॉम, एंटोनियो ग्राम्शी व हरबर्ट मार्क्यूज़ जैसे दार्शनिकों ने पारंपरिक मार्क्सवाद की इस मान्यता को खारिज कर दिया है कि सिर्फ आर्थिक कारणों से ही सामाजिक-राजनीतिक व सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ निर्धारित होती हैं। उनका दावा है कि इन सभी तत्वों की पारस्परिक अंतर्क्रिया से ही सामाजिक व्यवस्थाएँ बनती हैं। इनमें आर्थिक तत्व केंद्र में तो होता है किंतु वह एकमात्र नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन्होंने वर्ग-संघर्ष व तानाशाही जैसी धारणाओं को भी अस्वीकार कर दिया। जब इस दृष्टिकोण से लिंग-विषमता पर विचार हुआ तो उसमें सामाजिक-सांस्कृतिक व राजनीतिक वंचन को भी महत्व दिया गया। इसके अतिरिक्त, वर्तमान पूंजीवाद नारियों की स्वतंत्रता के नाम पर किस प्रकार उनका वस्तुकरण (Objectification) कर रहा है, यह विचार यहाँ केंद्र में आ गया है।

जो नारीवादी चिंतक मार्क्सवाद से संबंधित हैं, उनमें से कुछ ने दावा किया है कि लिंग विषमता की समस्या का समाधान मार्क्सवाद के वर्गगत ढाँचे में नहीं हो सकता। यह धारणा सबसे पहले गैर-मार्क्सवादी विचारक सिमोन द बोउआ (Simon De Beauvoir) ने दी थी। वह मार्क्सवादी नहीं थीं। उन्होंने मार्क्सवाद का विरोध करते हुए स्पष्ट तौर पर कहा था कि नारियाँ कोई ऐतिहासिक वर्ग (Historical Class) नहीं हैं जो उत्पादन प्रणाली बदलने से वर्ग बनी हैं, वे तो इतिहास के हर दौर में शोषित रही हैं। इसलिये वर्ग-संरचना के आधार पर लिंगगत विषमता को समझना असंभव है।

शूलास्मिथ फायरस्टोन ने मार्क्सवादी होते हुए भी अपनी पुस्तक "Dialectic of Sex" में लिंग विषमता को समझाने के लिये जैविक अंतरों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताया। इसी प्रकार एक अन्य मार्क्सवादी नारीवादी विचारक जूलियट मिशेल ने दावा किया कि सिर्फ वर्गीय ढाँचे में नारी समस्या को नहीं समझा जा सकता। उसके अनुसार नारियों के जीवन में मुख्यतः चार स्थितियाँ हैं— (क) वे श्रमिक वर्ग में शामिल हैं व उत्पादन प्रणाली में हिस्सा लेती हैं। (ख) वे संतान को जन्म देती हैं व मानव जाति को आगे बढ़ाती हैं। (ग) वे बच्चों का आरंभिक समाजीकरण करती हैं। (घ) वे पुरुषों के लिये यौन संबंध का आधार बनती हैं। मिशेल के अनुसार लिंग समानता तभी आ सकती है जब नारी की इन चारों ही स्थितियों में संशोधन के गंभीर प्रयास किये जाएँ।

उग्र नारीवाद (Radical Feminism)

उग्र नारीवाद 1960 और 1970 के बीच शुरू हुई विचारधारा है जिसने नारियों के शोषण के विरुद्ध अत्यंत आक्रामक शैली में अपनी प्रतिक्रिया दर्ज कराई। इस विचारधारा के बीज सीमोन द बोउवा (Simone De Beauvoir) के विचारों में ही दिख जाते हैं। आगे चलकर ईवा फिगस (Eva Figs), जर्मन ग्रियर (Germaine Greer), शूलास्मिथ फायरस्टोन (Shulasmith Firestone), केट मिलेट (Kate Millet) और सुजान ब्राउनमिलर (Susan Brownmiller) आदि के विचार इसमें शामिल किये गए।

उग्र नारीवाद (Radical Feminism) की मूल मान्यता है कि किसी समाज में शोषण की जितनी भी संरचनाएँ होती हैं, उनमें सबसे ज्यादा व्यापक और महत्वपूर्ण लैंगिक शोषण या अन्याय है। वर्गीय भेदभाव, रंगभेद, नस्ल भेद और जाति भेद जैसी संरचनाएँ लिंग भेद के सामने गौण हैं। इनका दावा है कि जिस प्रकार समाजवादी किसी भी विषमतामूलक समाज को पूंजीवादी कहकर उसमें निहित अन्याय का बोध कराते हैं, हमें विश्व के हर समाज को पितृसत्तात्मक (Patriarchal) कहकर उसमें निहित लैंगिक भेदभाव (Gender Discrimination) को रेखांकित करना चाहिये। इस पितृसत्तात्मकता (Patriarchy) की व्याख्या इन विचारकों ने अपने-अपने तरीके से की।

सबसे पहले ईवा फिगस (Eva Figs) ने अपनी पुस्तक 'पैट्रिआर्कल ऐटिट्यूड्स' (Patriarchal Attitudes) में पितृसत्ता (Patriarchy) का विरोध किया। उसने कहा कि हमारी संस्कृति, दर्शन, नैतिकता और धर्म सभी संरचनाएँ विभेदकारी हैं क्योंकि ये सब पितृसत्ता के मूल्यों को बढ़ावा देती हैं। जर्मन ग्रियर (Germaine Greer) ने नारी की 'यौनिकता' (Sexuality) पर बल देते हुए अपनी पुस्तक 'द फीमेल यूनक' (The Female Eunuch) में कहा कि पुरुषों द्वारा निर्मित सामाजिक संरचना स्त्रियों की यौनिकता का दमन करती है, उसे निष्क्रिय बनाती है जिसके कारण स्त्रियों के व्यक्तित्व का वह हिस्सा दब जाता है, जो ज्यादा सक्रियता और जोखिम उठाना पसंद करता है।

कैट मिलेट (Kate Millet) उग्र नारीवाद में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Sexual Politics' में दावा किया है कि मनुष्य के इतिहास में चाहे जितनी सामाजिक संरचनाएँ बनीं और खत्म हुई हों किंतु एक व्यवस्था हमेशा स्थिर (Social Constant) रही है, और वह है पितृसत्ता (Patriarchy)। बच्चों को बचपन से ही विशेष प्रकार के मूल्य सिखाकर इस पितृसत्ता के अनुकूल ढाल दिया जाता है। इसका समाधान सिर्फ यही है कि दुनिया भर की स्त्रियों में अपने अधिकारों और व्यक्तित्व की चेतना पैदा की जाए ताकि वे पितृसत्ता के ढाँचे से लड़ सकें।

शूलास्मिथ फायरस्टोन (Shulasmith Firestone) ने अपनी पुस्तक 'The Dialectic of Sex' में मार्क्सवादी विचारधारा को छोड़ते हुए लिंग विभेद पर विचार किया। उसने सिमोन द बोउवा (Simone De Beauvoir) तथा अन्य नारीवादियों के इस विचार को खारिज किया कि लिंगगत विषमताएँ सिर्फ सामाजिक अनुकूलन (Social Conditioning) से पैदा होती हैं। उसने दावा किया कि लिंगगत विभेद का मूल कारण यह जैविक यथार्थ है कि संतान की उत्पत्ति नारी को करनी होती है और उस प्रक्रिया में उसे पुरुष पर निर्भर होना पड़ता है। फायरस्टोन के अनुसार स्त्रियों की वास्तविक मुक्ति विज्ञान और तकनीक के हाथों संभव है। जब विज्ञान स्त्री को यह क्षमता देगा कि वह बच्चे को जन्म देने और पालने की अनिवार्यता से मुक्त हो जाए, तभी नारियों को वास्तविक स्वतंत्रता मिल सकेगी।

उदारवाद (Liberalism)

उदारवाद राजनीतिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण संप्रदाय है जिसका आरंभ 17वीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ और जो कई परिवर्तनों के साथ आज तक एक प्रमुख राजनीतिक विचारधारा बना हुआ है। उदारवाद 'लिबरलिज़्म' (Liberalism) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। इसे उदारवाद (Liberalism) इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह व्यक्ति के लिये अधिकतम स्वतंत्रता (Liberty) की मांग करता है।

उदारवाद का उद्भव 17वीं शताब्दी में हुआ। उस समय बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने इस विचारधारा के विकास में योगदान दिया। पुनर्जागरण आंदोलन ने न सिर्फ 'मानव' (Human being) के महत्व में वृद्धि की थी बल्कि 'व्यक्ति' (Individual) की प्रतिष्ठा भी बढ़ायी थी। इसके बाद धर्म सुधार आंदोलन ने भी धर्म के भीतर तार्किकीकरण को बढ़ावा दिया जिससे धर्म की नई व्याख्याएँ हुईं और मनुष्य को महत्व मिलना शुरू हुआ। इसी समय वैज्ञानिक क्रांति ने वैज्ञानिक मनोवृत्ति को बढ़ावा दिया। औद्योगिक क्रांति होने के साथ ही पूंजीवाद का विकास शुरू हुआ। पूंजीवादी प्रणाली में जिस बुर्जुवा वर्ग ने सामंत वर्ग के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की, उसी बुर्जुवा वर्ग के पक्ष में उदारवादी विचारधारा की स्थापना हुई। बुर्जुवा वर्ग ने सामंतों को मिलने वाले विशेषाधिकारों को चुनौती दी, स्वतंत्रता और समानता जैसे राजनीतिक आदर्शों की मांग उठाई तथा अनुबंध की स्वतंत्रता जैसे आर्थिक विचारों को स्थापित किया। ये सभी विचार वस्तुतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लिये आवश्यक स्थितियाँ निर्मित करने वाले विचार थे। इसलिये राजनीति दर्शन में प्रायः माना जाता है कि उदारवाद पूंजीवाद का वैचारिक तर्क है।

उदारवाद की विकास प्रक्रिया (Evolution of Liberalism)

उदारवाद का विकास कई चरणों में हुआ है। इसके विकास के प्रमुख चरणों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

(i) 'पारंपरिक' या 'नकारात्मक' उदारवाद ('Classical' or 'Negative' Liberalism)

यह उदारवाद का आरम्भिक चरण है जो 17वीं शताब्दी के अंत से शुरू होकर लगभग 1850 ई. तक चलता रहा। इस वर्ग के प्रमुख विचारक हैं- जॉन लॉक, एडम स्मिथ, जेरेमी बेंथम तथा हर्बर्ट स्पेंसर। जॉन लॉक को उदारवाद का जनक भी कहा जाता है। इन विचारकों को 'पारंपरिक उदारवादी' इसलिये कहते हैं क्योंकि उदारवाद के विचारों की आरम्भिक धारणा इन्होंने प्रस्तुत की थी। इन्हें 'नकारात्मक उदारवादी' इसलिये कहते हैं क्योंकि इन्होंने स्वतंत्रता और समानता जैसे राजनीतिक आदर्शों की परिभाषा नकारात्मक पद्धति से की। नकारात्मक उदारवाद के प्रमुख विचार इस प्रकार हैं-

1. मनुष्य एक तार्किक प्राणी है तथा अपने जीवन के संबंध में सर्वश्रेष्ठ निर्णय वह स्वयं ही ले सकता है।
2. व्यक्ति के वैयक्तिक तथा सामाजिक हितों में कोई अंतर्विरोध नहीं है। व्यक्तिगत हित की साधना से ही व्यक्ति सामाजिक हित में सहायक होता है।
3. प्रत्येक व्यक्ति को कुछ मूल अधिकार प्राकृतिक रूप से ही प्राप्त हैं जिनमें स्वतंत्रता का अधिकार, जीवन का अधिकार तथा व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार प्रमुख हैं।

4. सभी व्यक्तियों के आपसी संबंध एक दौड़ के समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं के साथ इस दौड़ में भाग लेता है। राज्य का काम सिर्फ यह देखना है कि कोई भी व्यक्ति दौड़ के नियमों का उल्लंघन न करे। अंतिम रूप से किसकी हार होती है तथा किसकी जीत-यह तय करना राज्य का काम नहीं है। दौड़ में होने वाली हार और जीत न्यायोचित है, न कि अनैतिक।
5. राज्य प्राकृतिक (Natural) या दैवीय (Divine) संस्था नहीं है बल्कि व्यक्तियों द्वारा अपने हित में बनाया गया एक कृत्रिम यंत्र है। राज्य का निर्माण सिर्फ इसलिये किया गया है कि सभी व्यक्ति शांति के साथ रह सकें। उसका कार्य सिर्फ यह देखना है कि कोई व्यक्ति कानूनों का उल्लंघन न करे। राज्य की इस धारणा को रात्रिरक्षक राज्य (Night-Watchman State) या प्रहरी राज्य कहा जाता है। ध्यातव्य है कि उदारवाद ऐसे राज्य का विरोध करता है जो सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) या पूर्णसत्तावादी (Authoritarian) प्रकृति का हो।
6. अर्थव्यवस्था के संबंध में यह विचारधारा 'अहस्तक्षेप के सिद्धांत' (Laissez Faire) की समर्थक है। इसके अनुसार अर्थव्यवस्था मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार स्वतः चलने वाली व्यवस्था है जिसमें राज्य की ओर से कोई भी हस्तक्षेप अवांछनीय है।
7. 'स्वतन्त्रमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) इस विचारधारा का प्रमुख सिद्धांत है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में निहित शारीरिक और बौद्धिक क्षमताओं का स्वामी है। चूँकि वह इन क्षमताओं का स्वामी है, इसलिये इन क्षमताओं से अर्जित होने वाले सभी लाभों पर उसका नैतिक अधिकार है जिसे उससे छीना नहीं जा सकता।
8. 'अनुबंध की स्वतंत्रता' (Freedom of Contract) इनके आर्थिक विचारों का एक और महत्वपूर्ण अंग है। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति से जबरन कोई कार्य नहीं कराया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति कोई भी कार्य करने या न करने हेतु स्वतंत्र है। यदि रोजगार देने वाले तथा उसे स्वीकार करने वाले व्यक्तियों के मध्य सहमति बनती है तो उनकी सहमति की शर्तें अनुबंध के रूप में होंगी। अनुबंध करने तक व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है किंतु अनुबंध स्वीकार करने के पश्चात् वह उसकी शर्तों से बंध जाता है।
9. संपत्ति का अधिकार इनकी आर्थिक मान्यताओं में प्रमुख है। लॉक का मानना था कि संपत्ति का अधिकार मानव के अधिकारों का सारतत्व है।
10. जहाँ तक समाज का प्रश्न है, ये चिंतक आधुनिक दृष्टिकोण के समर्थक हैं। इनका स्पष्ट मानना है कि व्यक्ति को सभी प्रकार की स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। यह तभी संभव होगा जब उसे धार्मिक संस्थाओं, सामाजिक रूढ़ियों इत्यादि से भी पर्याप्त स्वतंत्रता मिले।

(ii) आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद (Modern Or Positive Liberalism)

उदारवाद का दूसरा चरण आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद है जिसे मोटे तौर पर 1850 ई. से 1950 ई. के मध्य माना जाता है। इस विचारधारा के उदय के पीछे कुछ ठोस परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं। नकारात्मक उदारवाद में अहस्तक्षेप तथा अनुबंध की स्वतंत्रता पर आधारित जिस मुक्त बाजार प्रणाली का समर्थन किया गया था, उसमें मजदूरों को औपचारिक रूप से चाहे समानता व स्वतंत्रता मिली हों किंतु वास्तविक रूप से पूंजीपति उनका शोषण करने में समर्थ थे। मजदूरों की दयनीय स्थिति का परिणाम यह हुआ कि बहुत सारे विचारक समानता व स्वतंत्रता के सकारात्मक विचार प्रस्तुत करने लगे जिसका तात्पर्य था कि समानता और स्वतंत्रता के वास्तविक वितरण के लिये राज्य को पर्याप्त स्थितियाँ जुटानी चाहियें ताकि साधारण व्यक्ति भी इन आदर्शों का लाभ सचमुच उठा सके। इस समय समाजवाद के आरम्भिक विचारक सेंट साइमन, चार्ल्स

फ्यूरिए तथा रॉबर्ट ओवन भी अपने विचार व्यक्त कर रहे थे। इन्होंने मजदूरों की दुर्दशा दूर करने के लिये पूंजीपतियों की अंतरात्मा से अपील की। ये तीनों विचारक 'स्वप्नदर्शी समाजवादी' (Utopian Socialists) कहलाते हैं। इनके तुरंत बाद समाजवाद का आक्रामक रूप सामने आया जिसे मार्क्सवाद कहते हैं। मार्क्सवाद ने मजदूरों को पूंजीपतियों के विरुद्ध हिंसक क्रांति करने के लिये प्रेरित किया। इन स्थितियों में उदारवादी चिंतकों को महसूस हुआ कि मुक्त बाजार प्रणाली पर आधारित उनकी विचारधारा अब नहीं चल सकती है। इसलिए उदारवाद में कुछ नए विचारकों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुछ सीमित करते हुए नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। यही व्याख्याएँ सम्मिलित रूप में आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद कहलाती हैं। इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक थे- जे.एस. मिल (अंतिम दौर में), टी.एच. ग्रीन, एल.टी. हॉबहाउस, आर.एम. मैकाइवर तथा लास्की।

सकारात्मक उदारवाद की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

1. ये चिंतक भी व्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक हैं, किंतु ये व्यक्ति को निरपेक्ष स्वतंत्रता नहीं देते हैं। जे.एस. मिल ने स्पष्ट किया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता उसके स्व-विषयक (Self-regarding) कार्यों तक ही सीमित है। उसके जो कार्य अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं, उनमें वह पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है।
2. स्वतंत्रता और समानता सिर्फ औपचारिक रूप से दिये जाने वाले सिद्धांत नहीं हैं। इनका वास्तविक महत्त्व तभी है जब इनके लिये अनुकूल परिस्थितियाँ भी विद्यमान हों।
3. समाज के वंचित वर्ग 'तात्त्विक' (Substantive) रूप से समानता और स्वतंत्रता को उपलब्ध कर सकें, इसके लिये आवश्यक है कि उनके लिये संरक्षणात्मक भेदभाव (Protective Discrimination) की नीति अपनाई जाए। इस नीति को 'सकारात्मक कार्यवाही' (Affirmative Action) भी कहा जाता है और इसी से सामाजिक न्याय की स्थिति उत्पन्न होती है।
4. स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद का सिद्धांत इन्हें पूर्णतः स्वीकार्य नहीं है। इसका मानना है कि व्यक्ति अपनी सभी क्षमताओं को स्वयं अर्जित नहीं करता, इसलिये वह अपनी क्षमताओं से उत्पन्न होने वाले संपूर्ण लाभ का अकेला स्वामी नहीं हो सकता।
5. अर्थव्यवस्था के संबंध में इन्होंने 'अहस्तक्षेप सिद्धांत' का विरोध किया और 'न्यूनतम हस्तक्षेप' का सिद्धांत प्रस्तुत किया। बाजार अर्थव्यवस्था को 'नियमित' करने हेतु स्वतंत्र है, किंतु वह उसे 'नियंत्रित' नहीं करेगा। राज्य इतना हस्तक्षेप अवश्य करेगा कि मुक्त बाजार के नियम वंचित वर्ग की मानवीय गरिमा का उल्लंघन न कर सकें।
6. संपत्ति के अधिकार को इन्होंने भी महत्त्व दिया किंतु उतना नहीं जितना नकारात्मक उदारवादियों ने। जे. एस. मिल ने कहा कि संपत्ति का अधिकार सीमित होना चाहिये; विशेष रूप से भू-संपत्ति के स्वामित्व पर सीमा आरोपित की जानी चाहिये। मिल और लास्की दोनों ने संपत्ति के हस्तांतरण पर भारी कर लगाने की वकालत की।
7. जहाँ तक राज्य का प्रश्न है, इन विचारकों ने 'रात्रिरक्षक राज्य' के स्थान पर 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की धारणा प्रस्तुत की। इससे राज्य की शक्तियाँ बढ़ गईं। इनके अनुसार, राज्य का कार्य सिर्फ कानून व्यवस्था बनाए रखना नहीं है बल्कि विभिन्न वर्गों के मध्य अंतराल कम करना, वंचित वर्गों को बुनियादी जरूरतें मुहैया कराना इत्यादि भी है। यहाँ राज्य की सकारात्मक भूमिका है।

(iii) स्वच्छातंत्रवाद (Libertarianism)

1950 ई. के बाद विश्व की स्थितियाँ बदलने के कारण पुनः उदारवाद के स्वरूप में संशोधन हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व बैंक और आई.एम.एफ. जैसी संस्थाएँ निर्मित हुईं और धीरे-धीरे अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में निजीकरण, उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण की शुरुआत हुई। इस समय नकारात्मक उदारवाद की विचारधारा

एक बार पुनः नए रूप में उभरी, जिसे स्वच्छातंत्रवाद (Libertarianism) कहा गया। इस सिद्धांत के समर्थकों में चार दार्शनिक प्रमुख हैं- आइज़िया बर्लिन, एफ.ए. हेयक, मिल्टन फ्रायडमैन तथा रॉबर्ट नॉजिक। इनके सामान्य विचार इस प्रकार हैं-

1. व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये- धर्म से, समाज से, परंपरा से और परिवार से; ताकि वह अपनी नियति स्वयं निर्धारित कर सके।
2. मुक्त बाज़ार न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने के लिये सर्वश्रेष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ व्यवस्था है। व्यक्ति समाज के लिये कितना योगदान करता है, इसका वस्तुनिष्ठ व सटीक मूल्यांकन करके बाज़ार उसे उतना ही लाभ प्रदान करता है। अतः वितरणमूलक न्याय प्रदान करने हेतु एकमात्र निष्पक्ष प्रणाली बाज़ार व्यवस्था है।
3. ये चिंतक सामाजिक न्याय के विरोधी हैं। इनका स्पष्ट कहना है कि जब भी राज्य सामाजिक न्याय का प्रयास करता है, तब राज्य की शक्तियाँ बढ़ने से व्यक्ति की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है। फिर, जिन व्यक्तियों से कुछ छीनकर अन्य वर्गों को वितरित किया जाता है, उनकी 'अधिकारिता' (Entitlement) का भी उल्लंघन होता है।
4. जहाँ तक राज्य का प्रश्न है, ये राज्य को अधिक शक्तियाँ देने के विरोधी हैं। कहीं-कहीं राज्य को शक्ति देने का विरोध इतना तीव्र है कि ये अराजकतावाद (Anarchism) के निकट पहुँचने लगते हैं। इनके अनुसार राज्य के मुख्य कार्य हैं-
 - (i) कानून व्यवस्था बनाए रखना।
 - (ii) वे नियम बनाना जो अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में माने जाएंगे तथा यह देखना कि उन नियमों का पालन होता रहे।
 - (iii) जो व्यक्ति मुक्त बाज़ार प्रतिस्पर्द्धा में चलने के काबिल न हों, उनके लिये कल्याणकारी उपाय करना।
 - (iv) वे सभी कार्य करना जिन्हें बाज़ार प्रणाली करने में असमर्थ है।

(iv) समतावाद (Egalitarianism/Equalitarianism)

समकालीन उदारवाद की दूसरी शाखा 'समतावाद' कहलाती है। यह शाखा सकारात्मक उदारवाद का विकसित रूप है, जिसने 1950 ई. के बाद स्वच्छातंत्रवाद के विरुद्ध अपने कई तर्क प्रस्तुत किये। इस वर्ग में मुख्यतः दो विचारक शामिल हैं- सी.बी. मैक्फर्सन तथा जॉन रॉल्स। इन दोनों की मूल मान्यता यह है कि राज्य को कल्याणकारी कार्य तब तक करते रहना चाहिये जब तक निम्न वर्ग भी वैसी स्थितियाँ प्राप्त नहीं कर पाता जैसी उच्च वर्ग की हैं। जॉन रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धांत में एक काल्पनिक युक्ति का प्रयोग करते हुए साबित किया कि वर्तमान समय में उच्च और निम्न वर्ग के जितने अंतराल हैं, वे इतिहास की अतार्किक स्थितियों से पैदा हुए हैं और उन्हें न्यायोचित मानकर नहीं चलाया जा सकता। मैक्फर्सन ने स्वच्छातंत्रवादियों के इस तर्क का विरोध किया कि मुक्त बाज़ार प्रणाली सरल विनिमय अर्थव्यवस्था (Simple Exchange Economy) है। उसने साबित किया कि पूंजीविहीन श्रमिकों के लिये यह व्यवस्था अत्यंत विषमतामूलक है।

साम्यवाद की स्वतंत्रता से संगति नहीं है- टिप्पणी

साम्यवाद पर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि उसकी स्वतंत्रता की धारणा से संगति नहीं है। यह विचार सीमित रूप से ठीक होते हुए भी साम्यवादी विचारधारा का न्यायोचित मूल्यांकन नहीं कर पाता।

साम्यवाद की धारणा है कि मनुष्य को स्वतंत्रता तभी मिलती है जब समाज में वर्ग विभाजन न हो और मनुष्य प्रकृति से भी स्वतंत्र हो चुका हो। पूंजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा क्रांति के पश्चात् सर्वहारा की तानाशाही

स्थापित होती है जिसमें किसी भी व्यक्ति को वैयक्तिक स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। इस समय साम्यवादी दल सर्वाधिकारवादी शासन-तंत्र के रूप में कार्य करता है और अभिव्यक्ति, धार्मिक और व्यवसाय तथा विचरण आदि की स्वतंत्रताएँ भी अनुपलब्ध हो जाती हैं। महात्मा गांधी, एम.एन. रॉय और लास्की जैसे दार्शनिकों ने इसी संदर्भ में साम्यवाद को वैयक्तिक स्वतंत्रता से असंगत बताया है।

किंतु, साम्यवादी सिद्धांत का सूक्ष्म विश्लेषण बताता है कि यह मूल्यांकन पर्याप्त नहीं है। इस दर्शन के अनुसार समाजवाद या सर्वहारा की तानाशाही सिर्फ संक्रमणशील अवस्था है जिसके बाद साम्यवाद का आना तय है। साम्यवाद में न राज्य होगा, न वर्ग विभाजन और न ही शोषण पैदा करने वाली कोई भी विचारधारा या संस्था। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि व क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और उसे उसकी जरूरतों के अनुसार उपलब्धियाँ प्राप्त होंगी। मनुष्यों की रचनात्मक क्षमता की सर्वोच्च उपलब्धि इसी व्यवस्था में दिखाई देगी।

स्पष्ट है कि साम्यवाद सैद्धांतिक रूप से व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अपना उद्देश्य मानता है किंतु इस व्यावहारिक सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि जो समाजवाद मानव समाज ने देखा है, वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता से असंगत है।

नकारात्मक एवं सकारात्मक स्वतंत्रता— टिप्पणी

राजनीति दर्शन में स्वतंत्रता की धारणा को प्रायः दो वर्गों नकारात्मक तथा सकारात्मक में विभाजित किया जाता है। नकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ है—बंधनों की अनुपस्थिति, जबकि सकारात्मक स्वतंत्रता की व्याख्या विकास हेतु पर्याप्त स्थितियों की उपलब्धता के रूप में की जाती है। हर्बर्ट स्पेंसर, लॉक, जे.एस.मिल नॉजिक और हेयक नकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधर हैं तो लास्की, ग्रीन और मैक्फर्सन जैसे चिंतक सकारात्मक स्वतंत्रता के।

ऊपरी तौर पर देखने से प्रतीत होता है कि स्वतंत्रता की ये दोनों व्याख्याएँ परस्पर विरोधी हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि इनमें पूरकता का संबंध है। बाह्य बंधनों का अभाव स्वतंत्रता की मूलभूत शर्त है तो विकास के लिये उपयुक्त परिस्थितियों की उपलब्धता व्यक्ति के वास्तविक विकास के लिये उतनी ही बड़ी जरूरत। यदि राज्य व्यवस्था का अंतिम उद्देश्य व्यक्ति की क्षमताओं और संभावनाओं का पूर्ण विकास है तो दोनों स्वतंत्रताएँ परस्पर पूरक ही हो सकती हैं। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति जंजीरों में न बंधा हो अर्थात् उसे घूमने-फिरने की स्वतंत्रता हो किंतु न उसके पास खाने को भोजन हो, और न ही शिक्षा एवं स्वास्थ्य की सुविधाएँ तो यह स्वतंत्रता छद्म स्वतंत्रता ही होगी।

अतः स्पष्ट है कि नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता अंतर्विरोधी धारणाएँ नहीं बल्कि परस्पर सुसंगत विचार हैं। मैक्फर्सन ने स्पष्टतः कहा भी है कि नकारात्मक स्वतंत्रता सकारात्मक स्वतंत्रता की पहली सीढ़ी है और इन दोनों की युगपत् उपस्थिति ही समाज को न्यायपूर्ण बताती है।

अराजकतावाद (Anarchism)

अराजकतावादी (Anarchist) सिद्धांत: “व्यक्ति के विकास के लिये राज्य का अंत ज़रूरी है”

अराजकतावाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार राज्य की सत्ता, चाहे वह किसी भी रूप में हो, अनावश्यक और अवांछित है। प्राचीन काल से ही इस सिद्धांत के सूत्र दिखाई पड़ते हैं। ग्रीक युग में स्टोइकों ने और आगे चलकर ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य को गलत ठहराया। वर्तमान समय में तीन प्रकार के अराजकतावादी सिद्धांत प्रचलित हैं- (i) दार्शनिक-नैतिक अराजकतावाद, जैसे टॉलस्टाय और महात्मा गांधी के सिद्धांत, (ii) मार्क्सवादी अराजकतावाद, (iii) धर्मविरोधी अराजकतावाद, जैसे प्रूथों, बाकुनिन एवं क्रोपाटकिन के सिद्धांत। ‘विलियम गॉडविन’ ने अराजकतावादी सिद्धांत का सूत्रपात किया था। इनके अतिरिक्त जॉर्ज सोरेल तथा रॉबर्ट नोजिक को भी विशेष दृष्टि से अराजकतावादी चिंतन की धारा में स्वीकार किया जाता है।

वस्तुतः अराजकतावाद व्यक्तिवाद का ही विकसित रूप है, जो मानता है कि व्यक्ति के विकास की परंपरा में एक स्थिति ऐसी आती है जब वह अपने महत्त्व तथा नैतिक जगत के नियमों को समझकर राज्य की निरंकुश सत्ता के समक्ष झुकने से मना कर देता है। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे समाज राज्य के स्थान पर समूहों के माध्यम से सामाजिक ज़रूरतों को पूर्ण करने लगता है।

गांधीजी नैतिक व्यक्तिवाद (Moral Individualism) के समर्थक हैं। वे स्पष्टतः व्यक्ति को राज्य से श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि व्यक्ति आत्मा से संपन्न है जबकि राज्य ‘आत्माहीन यंत्र’ (Soulless Machine) है। अहिंसात्मक समाज में राज्य का स्थान नहीं होना चाहिये क्योंकि राज्य अपनी शक्ति से व्यक्ति पर अपनी इच्छा थोपने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को एक ही साँचे में ढालकर वैयक्तिकता का दमन तथा समरूपता की स्थापना करने का प्रयास करता है। गांधीजी मानते हैं कि सामाजिक पुनर्निर्माण के लिये व्यक्ति का चारित्रिक पुनर्निर्माण ज़रूरी है। राज्य की ज़रूरत इसलिये पड़ती है कि वह व्यक्ति की गलत प्रवृत्तियों पर नियंत्रण कर सके, पर यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं-विनियमित (Self-regulated) हो जाए तो राज्य की कोई भी आवश्यकता नहीं बचेगी। यह स्थिति प्रबुद्ध अराजकता (Enlightened Anarchy) की स्थिति होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं होगा। गांधी जी प्रत्ययवादी विचारक हैं और ईश्वर को मानने के कारण ईश्वरवादी भी हैं। उनके सिद्धांत को दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism) या प्रशांत अराजकतावाद (Pacific Anarchism) कहा जाता है।

काउंट लियो टॉलस्टॉय भी गांधी जी की तरह दार्शनिक अराजकतावादी हैं। टॉलस्टाय पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव है, जैसा कि गांधी जी पर हिंदू धर्म का है। टॉलस्टाय ने भौतिक सुखों को निरर्थक बताकर संसार को आध्यात्मिक सुखों की ओर प्रेरित किया था; निजी संपत्ति तथा राज्य की धारणाओं का भी खंडन किया था। गांधी जी पर टॉलस्टाय के विचारों का प्रभाव था, यह संकेत गांधी जी ने कई संदर्भों में दिया है।

प्रूथों ने अपनी कृति "What is property" में संपत्ति को चोरी के समान बताया। उसने कहा कि साम्यवाद भी ठीक विकल्प नहीं है। उसकी धारणा में “मानव के द्वारा मानव के शोषण का अंत और राज्य का अंत एक ही बात है।” अराजकतावादी स्थिति की प्राप्ति के लिये उसने क्रांति का समर्थन नहीं किया है।

बाकुनिन ने धर्म और राज्य दोनों के निषेध की बात की है। क्रांति के माध्यम से ही अराजकतावाद की स्थिति लाने की धारणा उसने प्रस्तुत की।

पीटर क्रोपाटकिन ने डार्विन के सिद्धांतों की आलोचना करते हुए बताया है कि मानव समाज में सहयोग की प्रवृत्ति संघर्ष की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। यदि राज्य और कानून समाज के सहज विकास को अवरुद्ध न करते तो धीरे-धीरे ऐसी स्थिति स्वतः पैदा हो जाती कि राज्य की जरूरत न पड़ती। मानव एक अहिंसाप्रिय प्राणी है। उसकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति को बढ़ाकर अहिंसात्मक क्रांति लाई जा सकती है जिससे अराजकतावादी समाज पैदा होगा।

अराजकतावाद के व्यक्ति-राज्य संबंधी विचार प्रमुखतः इस प्रकार हैं-

1. व्यक्ति साध्य है, विवेकशील है, निर्णय सामर्थ्य से युक्त है।
2. वह अनुकूल स्थितियों में बिना बाहरी नियंत्रण (राज्य) के भी जीवन का संचालन कर सकता है।
3. इसके लिये आर्थिक स्थितियों का विकास होना वांछनीय है।
4. राज्य, ज़्यादा से ज़्यादा एक काल तक साधन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जब तक वह है, उसे न्यूनतम होना चाहिये।

आलोचना

1. अराजकतावादियों ने व्यक्ति के केवल अच्छे पक्षों पर ध्यान केंद्रित किया है, उसकी स्वार्थ-वृत्ति तथा अविवेकी प्रवृत्तियों को नज़रअंदाज कर दिया है।
2. बिना राज्य के व्यवस्था कैसे चलेगी-इसकी कोई ठोस व्याख्या कोई भी अराजकतावादी नहीं कर सका है।
3. मानवशास्त्रियों ने आज तक जितने जनजातीय समाजों का अध्ययन किया है, उनमें से एक भी ऐसा नहीं मिला है जहाँ राज्य किसी न किसी रूप में अस्तित्व में न हो। यह भी अराजकतावाद की अव्यावहारिकता का एक संकेत है।

आरंभिक उदारवादी (Liberal) सिद्धांत : “राज्य आवश्यक बुराई है”

उदारवाद वह राजनीतिक दर्शन है जिसका उद्भव बुर्जुआ क्रांति, लोकतंत्र, पूंजीवाद आदि की उत्पत्ति के साथ हुआ। यह सामंतवाद के पतन के साथ विकसित हुआ तथा इसने राजनीति एवं जीवन को मुक्त अर्थव्यवस्था तथा स्वतंत्रता की धारणाओं से जोड़ने का प्रयास किया। उदारवाद के दो संप्रदाय हैं- नकारात्मक उदारवाद तथा सकारात्मक उदारवाद। नकारात्मक (Negative) या पारंपरिक उदारवाद (Classical Liberalism) में जॉन लॉक, एडम स्मिथ, जरमी बेंथम तथा हर्बर्ट स्पेंसर जैसे दार्शनिक शामिल हैं। इसके विपरीत, सकारात्मक (Positive) या आधुनिक उदारवाद (Modern Liberalism) में जे.एस. मिल, टी.एच. ग्रीन, एल.टी. हॉबहाउस, एच.जे. लास्की तथा आर.एम. मैकाइवर जैसे दार्शनिक सम्मिलित हैं। वर्तमान समय में, यही दोनों संप्रदाय विकसित होकर स्वच्छातंत्रवाद (Libertarianism) तथा समतावाद (Egalitarianism) के रूप में सामने आए हैं। स्वच्छातंत्रवाद नकारात्मक उदारवाद का ही समकालीन रूप है जो वर्तमान पूंजीवादी मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था को वितरणमूलक न्याय का प्रतिमान मानता है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि हैं- मिल्टन फ्रीडमैन, रॉबर्ट नोजिक तथा आइज़िया बर्लिन। इसके विपरीत, समतावाद सकारात्मक उदारवाद का ही समकालीन विकास है जो पूंजीवाद, लोकतंत्र के अंतर्गत यथासंभव समता लाने की वकालत करता है। इसके प्रमुख विचारक हैं- जॉन रॉल्स तथा सी.बी. मैक्फर्सन।

पारंपरिक उदारवादी तथा स्वेच्छातंत्रवादी व्यक्ति के संबंध में जिस धारणा को स्वीकार करते हैं, उसे व्यक्तिवाद (Individualism) कहा जाता है। इसके अनुसार व्यक्ति को यथासंभव अधिकतम स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये। इस धारणा की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

1. व्यक्ति एक विवेकशील प्राणी है।
2. व्यक्ति के स्वार्थ और सामान्य हित में कोई अंतर्विरोध नहीं है। सामान्य हित व्यक्तियों के स्वार्थों के सामंजस्य की स्थिति का ही नाम है।
3. मानव होने के नाते व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं जिन्हें कोई भी सत्ता छीन नहीं सकती।
4. नागरिक समाज एवं राज्य (Civil Society and State) कृत्रिम उपकरण (Artificial Instruments) हैं जिनका ध्येय मानव का हित साधन करना है।
5. व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई भी प्रतिबंध केवल इसी आधार पर लगाया जा सकता है कि वह दूसरों को भी वैसी ही स्वतंत्रता देने के लिये ज़रूरी है।
6. मानव के क्या उद्देश्य हैं, उसे क्या करना चाहिये- ये सभी बातें व्यक्ति स्वयं तय कर सकता है। यह निश्चित करने के लिये राज्य या समाज को अवांछित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

परंपरागत उदारवादी तथा स्वेच्छातंत्रवादी चिंतन व्यक्ति-राज्य संबंधों में व्यक्ति को केंद्र में रखता है और निम्नलिखित धारणाओं को स्वीकार करता है-

1. राज्य एक यंत्र है जिसका निर्माण एवं विकास मानव ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया है। इस प्रकार उदारवाद व्यक्ति-राज्य संबंध में यंत्रिय सिद्धांत (Mechanical Theory) को आधार बनाता है। वस्तुतः 17वीं सदी में जब विज्ञान के आधार पर यंत्रों का विकास होना आरंभ हुआ तो मानव ने अपनी सहायक चीजों का यंत्रों के रूप में देखना आरंभ किया। लॉक ने स्पष्टतः कहा है कि राज्य एक मशीन है जिसका निर्माण एवं संचालन हम अपने कल्याण के लिये करते हैं। नोजिक ने भी कहा है कि सभी व्यक्ति मूलतः राज्य के सेवार्थी (Clients) हैं।
2. राज्य एक 'आवश्यक बुराई' (Necessary Evil) है। यह बुराई इसलिये है कि यह व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करता है; किंतु आवश्यक इसलिये है कि व्यक्ति स्वभावतः कभी-कभी अवांछनीय कार्य करने लगता है जिसका नियंत्रण ज़रूरी है। उदारवादी मानते हैं कि राज्य को व्यक्ति को किसी कार्य के लिये रोकने का अधिकार वहीं तक है जहाँ तक वह समाज के खिलाफ हो। मिल ने साफ कहा कि व्यक्ति को ऐसे कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये जिनका संबंध उसके व्यक्तिगत जीवन से है।
3. राज्य संपूर्ण समाज का द्योतक नहीं है, वह संपूर्ण सामाजिक संरचना के मात्र एक हिस्से को व्यक्त करता है। समाज एक प्राकृतिक संरचना है, किंतु राज्य कृत्रिम या मानव निर्मित संरचना है।
4. राज्य का कार्य मूलतः नकारात्मक है, सकारात्मक नहीं। व्यक्ति अपने-अपने तरीके से जीवन जीना चाहते हैं पर सुंदर जीवन के लिये उनमें सामाजिक व्यवस्था का होना अनिवार्य है। राज्य का कार्य मात्र यह देखना है कि कोई भी व्यक्ति अपने हित में सामाजिक नियमों का उल्लंघन न करे। राज्य की इस नकारात्मक धारणा को ही हर्बर्ट स्पेंसर ने 'पुलिस राज्य' (Police State) तथा नोजिक ने 'न्यूनतम राज्य' (Minimal State) कहकर पुकारा है।

आलोचना

उदारवादी सिद्धांत ने व्यक्ति-राज्य संबंधों की जो तस्वीर प्रस्तुत की, उसकी कुछ आलोचनाएँ इस प्रकार हैं-

1. इसमें व्यक्तियों की स्वतंत्रता को ही महत्त्व दिया गया है, समानता को नहीं।
2. यह सिद्धांत पारंपरिक विषमताओं को दूर करने का कोई सकारात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं करता।
3. यह मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था पर बल देकर मानव की मूल प्रवृत्तियों को उभारने का प्रयास करता है; सामाजिक दायित्वशीलता पर कोई बल नहीं देता।

4. यह सिद्धांत मानव को मूलतः स्वार्थी मानता है। इसमें विवेकशीलता स्वार्थ-साधन के उपकरण के रूप में ही प्रतिष्ठित है।

मार्क्सवादी सिद्धांत (Marxist View): “राज्य शोषण का उपकरण है”

मार्क्सवादी दर्शन आदर्शवादी एवं उदारवादी-दोनों सिद्धांतों का खंडन करता है। आदर्शवादियों के विपरीत, यह राज्य को न नैतिक संस्था मानता है, न अनिवार्य और न ही प्राकृतिक। यह स्पष्ट करता है कि राज्य मानव द्वारा ही निर्मित है, पर यह अनिवार्य नहीं है, और नैतिक भी नहीं है। फिर, यह सिद्धांत राज्य को कृत्रिम उपकरण मानते हुए भी इसके उद्देश्य के स्तर पर उदारवाद से सहमत नहीं है क्योंकि न तो यह राज्य को ग्रीन की भांति ‘जनसाधारण की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति’ मानता है, और न ही हॉब्स या लॉक की तरह ‘परस्पर-विरोधी वैयक्तिक हितों के सामंजस्य का साधन’।

मार्क्सवाद मानता है कि राज्य एक कृत्रिम निर्मिति तो है, किंतु ‘व्यक्ति’ की नहीं, क्योंकि ‘व्यक्ति’ कोई एक इकाई न होकर दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित हैं जिनके हित परस्पर विरोधी हैं। अतः यद्यपि राज्य को व्यक्तियों ने ही बनाया है किंतु राज्य की दृष्टि में सभी व्यक्ति ‘व्यक्ति’ के रूप में नहीं, बल्कि वर्गों के सदस्यों के रूप में होते हैं। अतः, जैसा कि कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो (Communist Manifesto) में मार्क्स कहता है- “सही-सही कहा जाए तो राजनीतिक शक्ति एक वर्ग का उत्पीड़न करने के लिये दूसरे वर्ग की संगठित शक्ति मात्र है।”

मार्क्सवाद के अनुसार, समाज प्राकृतिक एवं स्वाभाविक है किंतु राज्य नहीं। राज्य तब अस्तित्व में आता है जब निजी संपत्ति के आधार पर समाज दो वर्गों-शोषक (Haves) एवं शोषित (Have nots) में विभक्त हो जाता है। जो वर्ग उत्पादन के प्रमुख साधनों का मालिक होता है-वह अपनी अनैतिक किंतु बेहतर आर्थिक स्थिति को सुरक्षित बनाए रखने के लिये राजनीतिक शक्ति का ढाँचा खड़ा करता है। यही ढाँचा राज्य है। शासितों की सहमति प्राप्त करने के लिये या सहमति की भ्रांति बनाए रखने के लिये राज्य विचारधारात्मक शक्ति (Ideology) का प्रयोग करता है जिससे वह अपने अस्तित्व को नैतिक रूप दे सके।

नवमार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी ने इसी विचार को आगे बढ़ाया है। उसके अनुसार, बुर्जुआ समाज अपने ‘प्रभुत्व’ (Hegemony) को बनाए रखने के लिये दो संरचनाओं का प्रयोग करता है-नागरिक समाज (Civil Society) तथा राजनीतिक समाज (Political Society)। नागरिक समाज की संरचनाएँ-परिवार, धार्मिक संस्थाएँ इत्यादि हैं जो नागरिकों को विचारधारात्मक भ्रांति का शिकार बनाकर राज्य आदि व्यवस्थाओं की नैतिकता का विश्वास पैदा करती हैं। ग्राम्शी ने इन संरचनाओं को वैधता स्थापक संरचनाएँ (Structures of Legitimation) कहा है। जब कभी नागरिक समाज की संरचनाएँ असहमति रोकने में विफल हो जाती हैं, तब राजनीतिक समाज (Political Society) बल-प्रयोग की संरचनाओं (Structures of coercion) का प्रयोग करता है।

मार्क्सवाद के अनुसार, व्यक्ति को ‘मानव’ बनने के लिये बाहरी और भीतरी बंधनों से मुक्त होना ज़रूरी है। मानव होने के लिये ज़रूरी है कि व्यक्ति सभी बंधनों से मुक्त होकर अपने सृजनशील व्यक्तित्व को उपलब्ध कर सके। इसके लिये ज़रूरी है कि राज्य को समाप्त किया जाए क्योंकि राज्य भी मानव को मानवत्व से वंचित करने वाली संरचनाओं में से एक है। अतः व्यक्ति के लिये, सही अर्थों में व्यक्ति होने के लिये राज्य का निषेध ज़रूरी है।

राज्य के निषेध की प्रक्रिया के दो चरण हैं। सर्वहारा क्रांति के बाद पहले चरण के रूप में समाजवादी राज्य का विकास होता है जो सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के रूप में कार्य करता है। इस चरण में राज्य तो रहता है, पर राज्य की वर्गीय-स्थिति का लोप हो जाता है। अतः मानव पर बंधनकारी होने के बावजूद राज्य का शोषणकारी स्वरूप समाप्त हो जाता है। दूसरा चरण साम्यवाद का है जो समाजवाद रूपी संक्रमण काल

की समाप्ति पर स्वतः विकसित होता है। इस चरण में राज्य का लोप हो जाता है तथा समाज के ही विभिन्न समूह पारस्परिकता की भावना से ओतप्रोत होकर वे कार्य अपने हाथों में ले लेते हैं जो सामूहिक जीवन के लिये ज़रूरी होते हैं। राज्य के अभाव तथा अन्य शोषणकारी संरचनाओं के अभाव के कारण यहाँ आकर व्यक्ति अपने वास्तविक व्यक्तित्व को उपलब्ध कर पाता है। यहाँ 'अलगाव' (Alienation) तथा 'वस्तुओं की जड़-पूजा' (Fetischism of Commodities) जैसी स्थितियाँ भी समाप्त हो जाती हैं।

कुल मिलाकर, मार्क्सवाद व्यक्ति एवं राज्य के संबंधों को बुराई के रूप में देखता है क्योंकि राज्य का अस्तित्व अपने आप में अनैतिक ही है। ध्यातव्य है कि मार्क्स के बाद बर्नस्टीन आदि ने समाजवाद में संशोधन करके राज्य संबंधी मान्यताओं में परिवर्तन किया है और राज्य के वर्ग-न्याय एवं समाज-कल्याण में सहायक होने की संभावनाओं को भी स्वीकार किया है। यूरो-साम्यवाद (फ्रांस, स्पेन, इटली आदि के साम्यवादी दलों की विचारधारा) ने भी 1976 में यह मान लिया कि राज्य को विलुप्त करने की अब कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि राज्य सर्वहारा के हित का भी साधन हो सकता है और हुआ है। लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास ने भी इस धारणा पर कई प्रश्नचिह्न खड़े कर दिये हैं।

आलोचना

1. आर्थिक तत्त्वों को ही राजनीतिक संरचनाओं का निर्धारक तत्त्व मानना मार्क्सवाद की बुनियादी भूल है।
2. यह विचारधारा राज्य के मात्र नकारात्मक पक्षों पर ही बल देती है; सुरक्षा जैसे तत्त्वों को कोई महत्त्व नहीं देती जो राज्य ने व्यक्ति को दिये हैं।
3. समाजवाद की स्थापना से भी व्यक्ति को मुक्ति नहीं मिली है। मिलोवन जिलास ने बताया है कि समाजवादी देशों में कठोर श्रेणीतंत्र (Rigid Hierarchy) के रूप में राज्य का विकास हुआ जो आकार में स्तूप जैसा था और प्रकृति में सर्वाधिकारवादी (Totalitarian)।

आदर्शवादी (Idealistic) सिद्धांत: "राज्य व्यक्ति से पहले है"

तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से, आदर्शवाद या प्रत्ययवाद वह सिद्धांत है जो अंतिम सत्ता के तौर पर जड़ जगत से परे किसी चेतन सत्ता को स्वीकार करता है। इसके अनुसार, मानव स्वभावतः आत्मपूर्णता का लक्ष्य धारण करता है और यह आत्मपूर्णता उसी चेतन सत्ता से जुड़ने पर प्राप्त होती है। राजनीति दर्शन में आदर्शवादी सिद्धांत वह है जो इस तत्त्वमीमांसीय विचारधारा पर आधारित है। इस सिद्धांत की एक लंबी ऐतिहासिक परंपरा है। प्राचीन काल में प्लेटो व अरस्तू ने, मध्यकाल में सेंट ऑगस्टाइन और सेंट टॉमस ऐक्वाइनस ने तथा आधुनिक काल में रूसो, कांट, हीगेल, ग्रीन, बोसांके तथा ब्रैडले आदि दार्शनिकों ने इसका प्रतिपादन किया है। यह सिद्धांत काल-परिवर्तन के साथ अपने स्वरूप में भी कुछ-कुछ परिवर्तित होता रहा है।

आदर्शवादी सिद्धांत का आरंभ यूनान से हुआ। प्लेटो और अरस्तू इसके आरंभिक समर्थक हैं। यह स्वाभाविक ही है कि आरंभिक समाज में मानव की पशुता के बार-बार जागने का खतरा अधिक रहा होगा क्योंकि आत्म-अनुशासन, आत्म-नियंत्रण की प्रक्रियाएँ तब आरंभिक स्तर पर थीं। मानव के नैतिकीकरण की यह प्रक्रिया राज्य के दबाव के माध्यम से ही संभव हुई होगी। आत्म-नियमन व आत्मपरिष्कार उस समय की एक सामाजिक अनिवार्यता भी रही होगी और चूँकि यह मानव की विवेकशील प्रकृति का ही परिणाम था, अतः यह प्रक्रिया स्वाभाविक भी रही होगी। इन कारणों से आदर्शवादी धारणा की निम्नलिखित मान्यताएँ निर्मित हुईं— (i) राज्य अनिवार्यतः नैतिक संस्था है। (ii) राज्य मानव की विवेकशील प्रकृति का ही सहज रूप है, अतः यह एक प्राकृतिक संस्था है। (iii) राज्य एवं समाज में कोई अंतर नहीं है। (iv) राज्य मानव जीवन में निहित पूर्णता की प्राप्ति के लिये अनिवार्य संस्था है। (v) राज्य तार्किक रूप से व्यक्ति से पहले है क्योंकि व्यक्ति को व्यक्ति बनाने वाला राज्य ही है। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति और पशु में कोई अंतर नहीं रह जाता।

आदर्शवादी सिद्धांत का विकास तीन चरणों में देखा जा सकता है-

1. ग्रीक चिंतन में प्लेटो, अरस्तू के यहाँ राज्य को 'नैतिक संस्था' के रूप में देखा गया। प्लेटो, अरस्तू के अनुसार मानव जीवन में निहित पूर्णता की प्राप्ति के लिये राज्य अनिवार्य है। मानव मूलतः एक राजनीतिक प्राणी ही है। नैतिक संस्था होने के नाते राज्य व्यक्ति की आंतरिक इच्छाओं का दमन करके उसके नैतिक जीवन को प्रगतिशील बनाता है। अरस्तू ने इसीलिये राज्य को सभ्य जीवन की पहली शर्त माना है।
2. मध्यकाल में, आदर्शवादी परंपरा ने माना कि राज्य एक 'दैवी संस्था' (Divine Institution) है। सेंट ऑगस्टाइन और सेंट टॉमस ऐक्वाइनस ने यह धारणा दी। यहाँ मानव का उद्देश्य मुक्ति (Salvation) बन गया। माना गया कि मानव का अंतिम लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है और मुक्ति परलोक में ही मिलती है। राज्य मानव की इस पारलौकिक साधना के लिये सुविधाएँ एकत्रित करता है। राज्य/राजा की शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है, ईश्वर के समान है तथा ईश्वर की देन है। इस अवस्था में आकर राज्य का सिद्धांत नगर-राज्य का सिद्धांत न रहकर ईसाई साम्राज्य का सिद्धांत बन गया। यहाँ माना गया कि राज्य दैवीय है। चाहे वह जैसा भी हो, वह ईश्वरीय देन है।
3. आधुनिक युग में, राज्य की धारणा पुनः नैतिक संस्था के रूप में उभरी तथा राज्य एवं व्यक्ति के संबंधों के लिये आदर्शवाद ने आंगिक या सावयवी एकता के सिद्धांत को स्वीकार किया जिसमें राज्य को सावयव (Organism) के रूप में देखा गया। इस युग के आदर्शवादी चिंतकों में हीगेल, ग्रीन और बोसांके के नाम प्रमुख हैं। हीगेल ने राज्य को आदर्शवाद के विकास की चरम अवस्था के रूप में व्यक्त किया। राज्य परमविवेक (Superior Reason) या परम चैतन्य (Absolute Consciousness) का मूर्त रूप है। वह धरती पर ईश्वर की यात्रा (March of God on Earth) है। राज्य साध्य है, व्यक्ति मात्र साधन है। ग्रीन (T.H. Green) जैसे दार्शनिकों ने आदर्शवाद के साथ व्यक्तिवाद का मिश्रण करने का प्रयास किया है। ग्रीन ने कहा कि राज्य 'शुभ जीवन में आने वाली बाधाओं की बाधा' (Hindrances against good life) है। वह कहता है कि "चूँकि अधिकार राज्य से ही प्राप्त होता है जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित एवं सुरक्षित होती है, अतः राज्य में ही व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।" इसके बावजूद ग्रीन ने राज्य को नैतिकता के ऊपर नहीं माना है। राज्य वहीं तक व्यक्ति से ऊपर है जहाँ तक वह नैतिक है।

बोसांके और ब्रैडले जैसे दार्शनिकों ने भी हीगेल जैसे विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने राज्य की निरपेक्ष नैतिकता का समर्थन किया है, जैसे हीगेल ने।

आलोचना

1. यह सिद्धांत राज्य को आदर्श मानता है, पर यह नहीं सोचता कि व्यवहार में राज्य का संचालन कुछ व्यक्तियों की सरकार ही करती है। लास्की ने इसी आधार पर ऐसे सभी सिद्धांतों की आलोचना की है।
2. यह मानव को अत्यंत गौण मानता है। मार्क्स जैसे आधुनिक मानववादी पारलौकिक सिद्धांतों के आधार पर मानव समाज को नियमित करने का घोर विरोध करते हैं।
3. यह सिद्धांत विषमतामूलक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संरचनाओं को उचित ठहराता है। सावयवी एकता के सिद्धांत को मानने के कारण भी विषमता का समर्थन इसके लिये सरल हो गया। ग्रीक नगर राज्यों में दास प्रथा का समर्थन स्वयं अरस्तू ने किया और कहा-"कुछ मानव अपने जन्म के समय से ही दास बनने के लिये नियत होते हैं और कुछ लोग स्वामी बनने के लिये।"
4. आदर्शवादी धारणा का ही विकृत रूप फासीवाद जैसे सिद्धांतों के रूप में सामने आता है।

सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) सिद्धांत: "राज्य का व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार है"

व्यक्ति-राज्य संबंधों के संदर्भ में दो परिप्रेक्ष्यों -पूर्णसत्तावाद (Absolutism) तथा सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) का महत्वपूर्ण स्थान है। पूर्णसत्तावादी राज्य वह है जो समाज में राज्य की सर्वोच्च, सर्वोपरि

तथा असीम सत्ता को उचित ठहराता है। इसके अगले चरण के रूप में सर्वाधिकारवादी राज्य का स्थान है जिसके अंतर्गत समाज तथा व्यक्ति के जीवन के संपूर्ण पक्षों पर राज्य का निरंकुश अधिकार हो जाता है।

इन सिद्धांतों के समर्थन की एक लंबी परंपरा रही है। प्लेटो और अरस्तू ने यह मानते हुए कि राज्य ही व्यक्ति को व्यक्ति बनाता है, व्यक्ति को राज्य के प्रति पूर्ण समर्पण की सलाह दी है। इसीलिये कार्ल पॉपर जैसे चिंतकों ने प्लेटो को पहला फासीवादी एवं सर्वाधिकारवादी चिंतक भी कहा है। हीगेल ने राज्य को 'ईश्वर की धरती पर शोभा यात्रा' तथा 'परम विवेक की अभिव्यक्ति' आदि कहते हुए उसे अपने आप में साध्य (End-in-itself) का दर्जा दिया है तथा यहाँ तक कहा है कि व्यक्ति राज्य के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करके ही सच्चे अर्थों में अपने विवेक का अनुसरण करता है। जर्मन दार्शनिक फ्रैंड्रिक नीत्शे ने राज्य को शक्ति का प्रतिरूप माना है। उसके अनुसार राज्य किन्हीं ऐसे नियमों से नहीं बंधा है जो उसके शक्ति विस्तार को नियंत्रित कर सकें। राज्य की शक्ति का विस्तार युद्ध पर आश्रित होता है, अतः युद्ध भी वांछनीय है। राज्य के कार्य क्षेत्र की भी कोई सीमा नहीं है। ध्यातव्य है कि हीगेल तक राज्य की पूर्णसत्तावादी धारणा दिखाई देती है जबकि नीत्शे से सर्वाधिकारवादी धारणा दिखाई देने लगती है।

आगे चलकर मुसोलिनी एवं हिटलर के फासीवादी सिद्धांतों ने भी सर्वाधिकारवादी रुख अखिरकार किया। इन दोनों का सिद्धांत आदर्शवाद (Idealism) की विकृत अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। मुसोलिनी ने कहा है कि "राज्य एक आध्यात्मिक इकाई है तथा वह एक ऐसा संगठन है जिसका उद्भव व विकास परमात्मा की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्ति राज्य के अधीन तथा राज्य के लिये है, राज्य के बाहर या विरुद्ध कोई नहीं हो सकता।" यही धारणा हिटलर की है जिसने जर्मनों की राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिये राज्य को अतिमानवीय सत्ता (Super Human Entity) का रूप दिया। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि 'एक व्यक्ति के हितों की अपेक्षा समाज के हित' (The interests of all before the interest of one) अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसकी व्याख्या उसने यहाँ तक की कि 'किसी एक व्यक्ति का जीवन स्वयं उसके लिये नहीं है, क्योंकि वह कुछ नहीं है, समाज ही सब कुछ है।'

सर्वाधिकारवाद का समर्थन एक अन्य प्रकार से मार्क्सवाद ने भी किया है। मार्क्सवाद ऐतिहासिक भौतिकवाद के अंतर्गत समाजवादी युग में, जहाँ सर्वहारा की तानाशाही होती है, सर्वहारा के सर्वाधिकारवाद का समर्थक हो जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति के उत्पादक कार्य से लेकर धर्म और पारिवारिक जीवन तक के सभी पक्षों का नियंत्रण एवं निर्धारण राज्य की ओर से ही होने लगता है।

कुल मिलाकर, सर्वाधिकारवाद राज्य को एक 'संपूर्णता' के रूप में देखता है जबकि व्यक्ति को इसका एक निर्जीव पुर्जा मात्र बना देता है। आंगिक एकता या सावयवी एकता में विश्वास रखते हुए यह उस हद तक पहुँच जाता है जहाँ अंग या व्यक्ति का सचमुच कोई अस्तित्व ही नहीं बचता। मानवीय अनुभूति, मानवीय तर्कबुद्धि आदि का इस धारणा में कोई महत्त्व नहीं रह जाता। यही कारण है कि लास्की जैसे सकारात्मक उदारवादियों ने, गांधी जैसे दार्शनिक अराजकतावादियों ने तथा एम.एन. राय जैसे नवमानववादियों ने सर्वाधिकारवाद की कटु आलोचना की है। मानव स्वतंत्रता के अभाव में कोई भी व्यवस्था आधुनिक युग में प्रतिष्ठा योग्य नहीं मानी जा सकती है।

आलोचना

1. उदारवादियों तथा अराजकतावादियों के अनुसार, सर्वाधिकारवादी सिद्धांत व्यक्ति की गरिमा के प्रतिकूल है क्योंकि इसमें व्यक्ति 'साधन' बन जाता है, 'साध्य' नहीं रह पाता।
2. सर्वाधिकारवाद के परिणाम हमेशा घातक सिद्ध हुए हैं। इसलिये इसे स्वीकार करना मानव सभ्यता के विरुद्ध है।
3. बहुलवादियों ने सामाजिक संघवाद के आधार पर इसका खंडन किया है क्योंकि यदि सामाजिक जीवन के संचालन के लिये राज्य सहित बहुत सी संस्थाएँ कार्य करती हैं, तो शक्ति केवल राज्य को कैसे दी जा सकती है?

समाजवाद (Socialism)

पृष्ठभूमि

समाजवाद मार्क्सवाद के दर्शन का लचीला रूप है। यह एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग अनेक विद्वानों ने अलग-अलग संदर्भों में किया है। इन संदर्भों को तीन प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। पहले संदर्भ में मार्क्सवाद के उद्भव से पहले के उन विचारों को समाजवाद कहा जाता है जिनमें मजदूरों की दशा सुधारने के लिये सेंट साइमन (Saint Simon) जैसे विचारकों ने पूंजीपतियों से आत्म विवेक के आधार पर अपील की। दूसरे संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) की पाँचवी अवस्था के उस भाग को व्यक्त करने में होता है जिसमें राज्य का अस्तित्व बना रहता है तथा जिसे सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of proletariat) के नाम से भी जाना जाता है। तीसरा संदर्भ 1870 के पश्चात् के विचारकों जैसे बर्नस्टीन (Bernstein) का है जिन्होंने मार्क्सवाद या साम्यवाद की अतिवादी धारणाओं को हटाकर उदारतावादी रवैया अपनाया। वर्तमान संदर्भ में समाजवाद से प्रायः यही अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजवाद एक सुविचारित अवधारणा नहीं है। सुप्रसिद्ध विचारक जोड के अनुसार “समाजवाद उस टोपी की भाँति है जिसका अपना निश्चित आकार नष्ट हो गया है, क्योंकि इसे प्रत्येक व्यक्ति धारण करता है।”

समाजवाद का दर्शन

सामान्य तौर पर समाजवाद को हम उसी अर्थ में ग्रहण करते हैं जिस अर्थ में वह मार्क्सवाद का उदार संस्करण है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

1. यह आवश्यक नहीं है कि पूंजीवाद को हिंसा के रास्ते से ही विनष्ट किया जा सकता है। पूंजीवाद की प्रकृति बिना हिंसक क्रांति के बदली जा सकती है। ऐसा कल्याणकारी राज्य (welfare state) की स्थापना के माध्यम से किया जा सकता है तथा किसी कल्याणकारी राज्य की स्थापना प्रजातांत्रिक (Democratic) माध्यम से की जा सकती है। इस प्रकार, अहिंसक राजनीतिक परिवर्तनों के माध्यम से भी वंचितों तथा शोषितों की दशा सुधारी जा सकती है।
2. समाजवाद के अनुसार, उत्पादन के प्रमुख साधनों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) कर देना चाहिये किंतु उत्पादन के लघु तथा सीमित साधनों को व्यक्तिगत प्रयासों (Private initiative) के लिये छोड़ देना चाहिये। इसका अर्थ है कि ऐसे उत्पादक-साधन जो राज्य को प्रभावित कर सकते हैं या राज्य की अर्थव्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, उन साधनों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिये तथा ऐसे उत्पादक-साधन जो कि सहयोगी साधन हैं, उन पर राज्य का नियंत्रण नहीं होना चाहिये। ऐसे संसाधनों को व्यक्ति विशेष के माध्यम से विकसित किया जाना चाहिये।
3. समाजवाद यह मानता है कि वस्तुओं के वितरण के स्तर पर राज्य को मिश्रित व्यवस्था अपनानी चाहिये। ऐसी वस्तुएँ जो कि मानव की मूलभूत आवश्यकताओं के अंतर्गत आती हैं, उनका वितरण राज्य को करना चाहिये या उनका वितरण राज्य के नियंत्रण में होना चाहिये तथा ऐसी वस्तुएँ जो कि मानव की मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं की सहयोगी भूमिका में होती हैं, उनका वितरण व्यक्तिगत स्तर पर होना चाहिये।
4. समाजवाद राज्य के अस्तित्व का पक्षधर है क्योंकि इसकी मान्यता है कि राज्य केवल शोषण का माध्यम नहीं है, राज्य के माध्यम से ही लोककल्याण का संधान किया जा सकता है तथा राज्य के माध्यम से

ही लोकोपकारी कार्यों को नियोजित करना संभव है। इसी प्रकार समाजवाद अंतर्राष्ट्रीयता को महत्त्व देने के बावजूद राष्ट्रीयता (Nationality) को गैर-उपयोगी नहीं मानता क्योंकि व्यावहारिकता इसी विकल्प में अधिक है।

5. समाजवाद की मान्यता है कि उत्पादन प्रणाली (Mode of production) किसी भी समाज की अन्य संरचनाओं को प्रभावित तो करती है लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि समाज के सारे पक्ष पूरी तरह से उत्पादन प्रणाली से ही निर्धारित हों। दूसरे शब्दों में, समाजवाद की अवधारणा के अनुसार यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत नहीं है कि राजनीति, धर्म, कला या संस्कृति इस उत्पादन प्रणाली के उपउत्पाद (By Product) ही होते हैं।
6. समाजवाद की मान्यता है कि यद्यपि धर्म वैज्ञानिक दृष्टि का अंग नहीं है किंतु व्यक्तिगत जीवन में यदि कोई धर्म विशेष को अपनाता है तो उसे राज्य द्वारा अनुमति मिलनी चाहिये। इसका अर्थ है कि राज्य किसी के धार्मिक विश्वास या विश्वासों या किसी समूह की धार्मिक मान्यताओं में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस प्रकार से समाजवाद धर्म तथा धार्मिक मान्यताओं के प्रति लचीला रवैया अपनाता है।
7. समाजवाद की मान्यता है कि चेतना के विकास की एक निश्चित मात्रा के पश्चात् वर्ग सहयोग (Class Harmony) संभव हो सकता है। यदि राज्य के माध्यम से मजदूरों व पूंजीपतियों के मध्य चेतना का एक निश्चित स्तर विकसित किया जा सके तो उनके मध्य वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सहयोग स्थापित हो सकता है।
8. समाजवाद की मान्यता है कि गुणवत्ता की दृष्टि से एक निश्चित सीमा तक ही प्रतियोगिता होनी चाहिये। इसका कारण यह है कि एक सीमा के बाद होने वाली प्रतियोगिता समाज के हित में न होकर बाजार के हित में हो जाती है।

समाजवाद और मार्क्सवाद में तुलना

	मार्क्सवाद	समाजवाद
1. आर्थिक पक्ष	निर्धारणवादी मान्यता, क्योंकि उत्पादन प्रणाली (आर्थिक पक्ष) से ही शेष सभी संरचनाएँ निर्धारित होती हैं।	आर्थिक पक्ष का सर्वाधिक प्रभाव होता है; किंतु शेष संरचनाओं का पूर्ण निर्धारण उसी से नहीं होता।
2. राज्य	(क) अनिवार्यतः शोषण का उपकरण है। (ख) साम्यवाद में समाप्त हो जाएगा। (ग) समाजवाद में 'सर्वहारा की तानाशाही' के रूप में राज्य होगा।	(क) कल्याणकारी भी हो सकता है। (ख) राज्य का अस्तित्व रहना चाहिये। (ग) तानाशाही अस्वीकार्य है, चाहे वह सर्वहारा की हो।
3. क्रांति	अनिवार्य है; क्रांति का स्वरूप अनिवार्यतः हिंसात्मक होगा।	न अनिवार्य है, न ही अधिक संभाव्य है।
4. वर्ग की धारणा	(क) हर समाज में हर काल में दो विरोधी वर्ग होते हैं, (ख) मध्य वर्ग संक्रमणशील और अस्थायी है। (ग) वर्गों के परस्पर विरोधी हित होते हैं, अतः संघर्ष ही एकमात्र संबंध है।	(क) दो से अधिक वर्ग हो सकते हैं; (ख) मध्य वर्ग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। (ग) वर्ग-सहयोग की भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

5. धर्म	(क) मिथ्या चेतना है; अफीम के समान है।	(क) धर्म अवांछित है किंतु इसका दमन नहीं होना चाहिये।
	(ख) समाजवाद में धर्म प्रतिबंधित रहेगा और साम्यवाद में लुप्त हो जाएगा।	(ख) व्यक्तिगत जीवन में इसकी अनुमति होनी चाहिये।
	(ग) राजनीति से धर्म पूर्णतः अलग होना चाहिये।	
6. राष्ट्र	(क) राष्ट्र एक मिथ्या चेतना (False Consciousness), है।	राष्ट्रवाद और समाजवाद में कोई अनिवार्य अंतर्विरोध नहीं है।
	(ख) मार्क्सवाद एक वैश्विक व्यवस्था है, न कि राष्ट्रीय व्यवस्था।	
	(ग) आगे चलकर लेनिन और माओ ने राष्ट्रवाद को अपनी स्थितियों के अनुसार स्वीकार किया।	
7. सम्पत्ति	निजी संपत्ति का पूर्ण निषेध, व्यक्तित्व भी समाज से निर्मित है अतः उस पर उसका अधिकार नहीं है।	(क) उत्पादन के वृहद् साधन सार्वजनिक होंगे लेकिन उत्पादन की लघु तथा गैर-सामरिक इकाइयाँ व्यक्तिगत हो सकती हैं।
		(ख) सीमित व्यक्तिगत संपत्ति को स्वीकृति। सीमित व्यक्तिगत संपत्ति दो प्रकार की-अर्जित संपत्ति को स्वीकार करते हैं और माता-पिता से प्राप्त संपत्ति के लिये उच्च कराधान की बात करते हैं।
8. लोकतंत्र	(क) उदारवादी लोकतंत्र का खंडन क्योंकि उदारवादी लोकतंत्र धनतंत्र (Plutocracy) है।	(क) उदार लोकतंत्र को वितरणमूलक न्याय के साधन के रूप में स्वीकारता है।
	(ख) 'ठोस लोकतंत्र' अथवा 'सर्वहारा की तानाशाही' का समर्थन क्योंकि इसी में आम जनता सचमुच शासन करती है।	(ख) तानाशाही को स्वीकार नहीं करता।
9. स्वतंत्रता	(क) वैयक्तिक स्वतंत्रता के विचार का विरोध क्योंकि स्वतंत्रता पूरे समाज की होती है।	(क) वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक स्वतंत्रता में कोई अंतर्विरोध नहीं। दोनों साथ-साथ हो सकती हैं।
	(ख) सर्वहारा की तानाशाही के संक्रमण काल में वैयक्तिक स्वतंत्रता का पूर्ण निषेध।	(ख) किसी भी प्रकार की तानाशाही और स्वतंत्रता के दमन को स्वीकृति नहीं।

	<p>(ग) साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण रचनात्मक स्वतंत्रता (राज्य से, धर्म से, परिवार से, विवाह से, अलगाव से, अभाव से)।</p>
--	--

भारतीय समाजवाद (Indian Socialism)

आचार्य नरेंद्र देव

1. नरेंद्र देव पहले विचारक हैं जिन्होंने भारतीय शैली में समाजवाद को विकसित किया।
2. इन्होंने मार्क्सवाद और गांधीवाद का मिश्रण किया। इनके अनुसार मार्क्स ने चेतना को कम महत्त्व दिया है, जबकि गांधी ने भौतिकता को जबकि इनका समाजवाद दोनों पक्षों का संतुलन करता है।
3. समाजवाद भारत के लिये नया विचार नहीं है। भारतीय संस्कृति में 'आध्यात्मिक समाजवाद' (Spiritual Socialism) को हमेशा माना गया है। आज जरूरत इस बात की है कि हम आध्यात्मिक समाजवाद की उपलब्धि के लिये भौतिक साधनों के विकास पर बल दें।
4. साम्राज्यवाद और पूंजीवाद दोनों का विरोध करना आवश्यक है क्योंकि दोनों ही मानवीय गरिमा के विरुद्ध हैं। साम्राज्यवाद एक देश का दूसरे देश द्वारा शोषण है जबकि पूंजीवाद एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा।
5. वर्गों में सहयोग का नहीं, संघर्ष का ही संबंध वास्तविक है; किंतु वर्ग-संघर्ष के लिये हिंसा का सहारा नहीं लिया जा सकता।
6. समाजवाद का विकास करने के लिये सिर्फ सर्वहारा वर्ग पर्याप्त नहीं है, बल्कि मजदूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों तीनों वर्गों को साथ आना होगा।
7. इन्होंने अपने आंदोलन को 'नवजीवन आंदोलन' का नाम दिया। इसके अंतर्गत मजदूरों से हड़ताल करने को कहा गया, किसानों से किसान सभाएँ आयोजित करने को और बुद्धिजीवियों से वैचारिक समर्थन देने के लिये कहा गया।

जय प्रकाश नारायण

1. जय प्रकाश नारायण के अनुसार भारतीय संस्कृति में निहित मूल्य समाजवाद को धारण करते हैं। 'अस्तेय' और 'अपरिग्रह' जैसे मूल्य समाजवाद के ही मूल्य हैं। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति की भौतिक उपलब्धियों को कभी भी अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया गया। यह भी समाजवाद से सुसंगत है।
2. मनुष्य मात्र में समानता हो-यह सबसे आधारभूत नैतिक मूल्य है। भारतीय समाज में आध्यात्मिक समानता का मूल्य तो विकसित हुआ है, किंतु आर्थिक समानता का नहीं। जब तक आर्थिक समानता स्थापित न हो, तब तक आध्यात्मिक या सृजनात्मक समानता का कोई महत्त्व नहीं है।
3. इन्होंने हिंसक क्रांति के सिद्धांत का विरोध किया और वर्ग सहयोग की धारणा पर बल दिया।
4. सोवियत संघ और चीन की राजनीतिक प्रणाली में निहित तानाशाही के तत्त्व को इन्होंने हमेशा खारिज किया और स्वस्थ लोकतांत्रिक प्रक्रिया से ही समाजवाद तक पहुँचने की बात कही।
5. इन्होंने राष्ट्रवाद से अधिक बल अंतर्राष्ट्रवाद पर दिया क्योंकि जब तक विश्व समुदाय का गठन न हो जाए, तब तक एशिया और अफ्रीका के अल्प-विकसित राष्ट्रों को साम्राज्यवादी शोषण से बचाना संभव नहीं है।

6. इनके आर्थिक विचार नेहरू के विचारों से मिलते-जुलते थे जिनमें भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, उत्पादन के साधनों का समाजीकरण तथा व्यापक स्तर पर आर्थिक आयोजन जैसे तत्त्व महत्वपूर्ण थे। आगे चलकर इन्होंने गांधी के सर्वोदय सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जिसमें ज्यादा बल ग्रामीण सुधार, कृषि पुनर्निर्माण, भूमि कानूनों में परिवर्तन, सहकारी खेती और स्वावलंबी ग्रामीण अर्थव्यवस्था जैसे तत्त्वों पर दिया।

राम मनोहर लोहिया

1. लोहिया के अनुसार पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही विचार भारत के लिये अपर्याप्त हैं क्योंकि ये दोनों व्यवस्थाएँ औद्योगिक अर्थव्यवस्था और केंद्रीकरण की व्यवस्था पर टिकी हैं। भारतीय समाज के लिये ऐसा समाजवाद चाहिये जिसमें औद्योगीकरण न हो और सत्ता का विकेंद्रीकरण ज्यादा से ज्यादा हो।
2. इनके अनुसार इतिहास की प्रक्रिया में वर्ग और जाति व्यवस्थाओं का संघर्ष होता है। वर्ग व्यवस्था खुली व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने प्रयास से ऊपर-नीचे आ जा सकता है। इसके विपरीत, जाति व्यवस्था एक बंद तथा रूढ़ व्यवस्था है जिसमें गतिशीलता की संभावना नहीं है। भारतीय समाज की मूल समस्या यह है कि यह लंबे समय तक जाति व्यवस्था से बंधा रहने के कारण स्वतंत्रता जैसे मूल्यों से वंचित हो गया है। इसलिये सच्चे समाजवाद का बुनियादी संघर्ष जाति व्यवस्था से होना चाहिये, न कि पूंजीपतियों से।
3. राजनीतिक संरचना के स्तर पर अधिकाधिक विकेंद्रीकरण होना चाहिये। जिलाधीश के पद को समाप्त कर देना चाहिये क्योंकि यह जिले के स्तर पर सारी प्रशासनिक शक्तियों के केंद्रीकरण का प्रतीक है।
4. राज्य की संरचना चार इकाइयों के स्तर पर होनी चाहिये-गाँव, जिला, प्रांत, राष्ट्र। इस व्यवस्था को लोहिया ने 'चौखंभा राज्य' (Four Pillar State) कहा।
5. राजनीतिक व्यवस्था संघवाद के नियम पर आधारित होनी चाहिये जिसे लोहिया ने 'कार्यात्मक संघवाद' (Functional Federalism) कहा। इसका अर्थ है कि शक्ति निचली इकाई से ऊपर की ओर जाएगी और उतनी ही जाएगी जितनी अनिवार्य हो। यही व्यवस्था विश्व सरकार तक आगे बढ़ती जाएगी।

नेहरू का समाजवाद

1. नेहरू लोकतांत्रिक समाजवादी विचारक थे। वे मार्क्सवाद के कुछ विचारों से प्रभावित थे, जैसे-
 - (i) उनका पारंपरिक धर्मों के प्रति वही नज़रिया था जो मार्क्स का था। उन्होंने 'मेरी कहानी' में लिखा भी है कि पारंपरिक धर्मों ने मानव को नुकसान ज्यादा तथा लाभ कम पहुँचाया है।
 - (ii) मार्क्स ने अलौकिक सत्ताओं का खंडन अपनी भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा के आधार पर किया। नेहरू भी भौतिकवादी हैं, अतः ईश्वर या आत्मा जैसी अलौकिक सत्ताओं पर विश्वास नहीं करते हैं।
 - (iii) मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का भी नेहरू ने काफी समर्थन किया है। नेहरू मानते थे कि इतिहास को समझने के लिये अर्थव्यवस्था को ही केंद्र में रखा जाना चाहिये। उन्होंने 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में भारत के इतिहास की व्याख्या में आर्थिक तत्त्वों को काफी अधिक महत्व दिया है।
 - (iv) सोवियत संघ की आर्थिक आयोजन प्रणाली का प्रभाव भी नेहरू पर था। इन्होंने पंचवर्षीय योजना की अवधारणा सोवियत संघ से ही ली।
 - (v) मार्क्स का मानना था कि औद्योगिक विकास से ही समृद्धि बढ़ेगी और उसी के आधार पर समाजवाद व साम्यवाद का आगमन होगा। नेहरू ने गांधी के विरोध में जाकर भी औद्योगीकरण का समर्थन किया तथा उद्योग धंधों को 'आधुनिक भारत के मंदिर' कहा। इसी प्रकार उत्पादन के बड़े साधनों का राष्ट्रीयकरण करना भी सोवियत संघ के समाजवाद से प्रेरित था।

2. नेहरू का समाजवाद पूरी तरह मार्क्सवाद से प्रभावित नहीं था। निम्नलिखित बिंदुओं पर वे मार्क्सवाद से भिन्न विचार रखते हैं-
 - (i) नेहरू ने राष्ट्र का विरोध नहीं किया जैसा कि मार्क्स ने किया। वे 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के समर्थक तो नहीं हैं किंतु राष्ट्र को एक इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं।
 - (ii) नेहरू ने वर्ग संघर्ष तथा हिंसक क्रांति के विचार को स्वीकार नहीं किया। इसके स्थान पर उन्होंने गांधी से प्रभावित होकर अहिंसा और वर्ग सहयोग की धारणाओं को स्वीकार किया।
 - (iii) मार्क्स ने सर्वहारा की तानाशाही का सिद्धांत प्रतिपादित किया था जो नेहरू के समय में सोवियत संघ और चीन में प्रचलित भी था, किंतु नेहरू ने लोकतांत्रिक माध्यम से ही समाजवाद की उपलब्धि के लक्ष्य को स्वीकारा।
 - (iv) नेहरू ने ऐतिहासिक भौतिकवाद में निहित दृष्टिकोण का समर्थन किया किंतु स्पष्ट रूप से कहा कि भविष्य के प्रति निर्धारणवादी व्याख्या स्वीकार नहीं की जा सकती।
 - (v) मार्क्स निजी संपत्ति तथा पूंजीवादी प्रणाली के पूर्ण विरोधी थे। नेहरू ने समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत भी निजी संपत्ति और निजी उद्यमशीलता को आंशिक रूप से स्वीकार किया।

भारतीय समाजवाद की सामान्य विशेषताएँ

1. भारतीय समाजवाद पूरी तरह भौतिकवादी समाजवाद नहीं रहा है, इसमें आध्यात्मिक तत्त्व भी शामिल रहे हैं।
2. भारतीय समाजवाद में औद्योगिक प्रणाली पर अधिक बल नहीं दिया गया है। इसमें कृषि अर्थव्यवस्था पर अधिक बल है। कहीं-कहीं तो औद्योगीकरण का विरोध भी किया गया है।
3. इसमें हिंसक क्रांति का समर्थन नहीं किया गया है, वर्ग-सहयोग की धारणा केंद्र में रखी गई है। जहाँ वर्ग संघर्ष की बात की गई है, वहाँ हिंसक संघर्ष स्वीकार नहीं किया गया है।
4. इसमें सिर्फ पूंजीवाद का विरोध नहीं किया गया है बल्कि साम्राज्यवाद का भी विरोध किया गया है।
5. इसमें राज्य की तानाशाही का पूर्ण विरोध किया गया है।
6. राज्य की सत्ता के विकेंद्रीकरण का समर्थन प्रायः सभी चिंतकों द्वारा किया गया है।

प्रश्न- समाजवाद से आप क्या समझते हैं, इसका उल्लेख कीजिए। क्या यह आवश्यक है कि समाजवाद को उन मूल्यों एवं आदर्शों के मानकीय (normative) पदों से परिभाषित किया जाए जिनकी प्राप्ति के लिये समाजवादी प्रयासरत हैं, या कि उन वर्णनात्मक पदों से जो समाजवादी व्यवस्था के आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के चारित्रिक लक्षणों का उल्लेख करते हैं? क्या इन दोनों के बीच के तनाव का समुचित समाधान किया जा सकता है? विचार कीजिये।

उत्तर: राजनीतिक दर्शन में जिन अवधारणाओं का अर्थ निरूपण सर्वाधिक विवादपूर्ण है, उनमें से एक है-समाजवाद। अपने आरंभिक स्वरूप से लेकर आज तक पिछले 200 वर्षों में यह विचारधारा इतने नये रूपों में सामने आई है कि सी.ई.एम. जोड को यह टिप्पणी करनी पड़ी कि "समाजवाद उस टोपी के समान है जिसका कोई निश्चित आकार बचा ही नहीं है।" तात्पर्य यह है कि लगभग विरोधी से प्रतीत होने वाले विचारों ने भी स्वयं को समान रूप से समाजवाद घोषित किया है और इसी कारण इस अवधारणा का अर्थ-निरूपण राजनीति दर्शन में एक जटिल समस्या है। उदारीकरण और भूडलीकरण के वर्तमान दौर में, जबकि समाजवादी माने जाने वाले देश अपने चरित्र में पर्याप्त रूप से पूंजीवादी हो चुके हैं- यह सवाल और ज़्यादा प्रासंगिक हो उठा है।

समाजवाद के कई प्रारूप हैं। सबसे पहला प्रारूप 19वीं सदी के आरंभिक समय का है जब सेंट साइमन, रॉबर्ट ओवन तथा चार्ल्स फ्यूरिये जैसे काल्पनिक समाजवादी (Utopian Socialists) मजदूरों के कष्टों से द्रवित होकर पूंजीपतियों की अंतरात्मा जगाने का प्रयास कर रहे थे। इसके तुरंत बाद मार्क्स और एंजिल्स ने क्रांतिकारी समाजवाद (Revolutionary Socialism) का प्रारूप प्रस्तुत किया जिसका दावा था कि सिर्फ वर्गीय क्रांति के माध्यम से समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। इस उग्र समाजवाद ने परिवार, धर्म, राज्य तथा संपत्ति जैसी धारणाओं के पूर्ण उन्मूलन में भी अपनी आस्था प्रकट की। समाजवाद का तीसरा प्रारूप 1889 से 1898 के दौर में तब उभरा जब एडवर्ड बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद के विरुद्ध विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism) का विचार प्रस्तुत किया। आगे चलकर इसी धारा में फेबियनवाद, जर्मन सामाजिक लोकतंत्र, श्रमाधिपत्यवाद तथा श्रेणीसंघवाद जैसे समाजवादी विचार विकसित हुए। इन विचारों के समानांतर सोवियत संघ एवं चीन में अपने-अपने तरीके से समाजवादी व्यवस्था प्रचलन में रही। कुल मिलाकर समाजवाद के इतने सारे रूप दिखने लगे कि समाजवाद की निश्चित व्याख्या करना असंभव हो गया।

इन सभी जटिलताओं और संशयों के बावजूद समाजवाद के कुछ सामान्य लक्षणों का जिक्र करना असंभव नहीं है। ये लक्षण इस प्रकार हैं—

1. कोई भी समाजवाद सामाजिक जीवन के केंद्र में अर्थव्यवस्था या उत्पादन प्रणाली को रखता है। उत्पादन प्रणाली वह बुनियादी ढाँचा है जिस पर शेष सभी सामाजिक-राजनीतिक, सांस्कृतिक रचनाएँ अवलंबित होती हैं। अंतर यह है कि मार्क्सवाद उत्पादन प्रणाली को निर्णायक मानता है जबकि शेष समाजवादी उसका सर्वाधिक प्रभाव मानते हुए भी उसे निर्णायक नहीं मानते।
2. सभी समाजवादी निजी संपत्ति की धारणा को अंशतः या पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार निजी संपत्ति वह संस्था है जो समाज को उच्च और निम्न वर्गों में बाँटकर सतत शोषण की व्यवस्था को जन्म देती है।
3. सभी समाजवादी इस बात पर सहमत हैं कि वितरणमूलक न्याय हेतु सबसे पहले आर्थिक समानता को सुनिश्चित करना आवश्यक है। उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व के अतिरिक्त समान श्रम के लिये समान वेतन जैसी व्यवस्थाएँ इसमें स्वीकार्य हैं। इसका सबसे आदर्श लक्ष्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं के अनुसार कार्य करे तथा उसे अपनी जरूरतों के अनुसार उपलब्धियाँ हासिल हों।
4. सभी समाजवादी उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली के पक्षधर हैं। उनका मानना है कि विज्ञान का विकास मानव हित में है तथा औद्योगिक प्रणाली द्वारा सभी मानवों की सभी जरूरतें पूरी की जा सकती हैं।
5. समाजवादियों के मत में धर्म एक नकारात्मक संस्था है जिसका या तो उन्मूलन कर दिया जाना चाहिये (मार्क्सवाद) या महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये।
6. समाजवादी अंततः संपूर्ण विश्व में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। राष्ट्रवाद इस विचारधारा का मूल अंग नहीं है हालाँकि आगे चलकर कुछ समाजवादियों ने राष्ट्र को महत्त्व दिया है।

मानकीय पद बनाम वर्णनात्मक पद: राजनीति-दर्शन में एक प्रमुख विवाद यह भी है कि समाजवाद की पहचान मानकीय प्रारूपों से होनी चाहिये या वर्णनात्मक प्रारूपों से। मानकीय प्रारूप वह आदर्श विचार होता है जिसे कोई विचारधारा उद्देश्य के रूप में स्वीकारती है। उदाहरण के लिये, एक ऐसा समाज जिसमें निजी संपत्ति की धारणा न हो, गरीबी और अमीरी का असंतुलन समाप्त हो गया हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम के साथ गरिमापूर्ण जीवन जीने में समर्थ हो और धर्म, नस्ल, जाति तथा राष्ट्र जैसे निरर्थक किंतु उन्मादकारी मुद्दे पूर्णतः समाप्त हो गए हों— यह समाजवाद का मानकीय प्रारूप है।

दूसरी ओर, यदि उन व्यवस्थाओं का विश्लेषण किया जाए जो समाजवादी होने का दावा करती हैं तो हम पाएंगे कि एक भी व्यवस्था इस मानकीय प्रारूप पर खरी नहीं उतरती, चाहे वह भूतपूर्व सोवियत संघ की व्यवस्था हो, वर्तमान चीन की हो, क्यूबा की हो या भूतपूर्व पूर्वी यूरोपीय समाजवाद की हो। ये सारी व्यवस्थाएँ भिन्न-भिन्न तरीकों से समाजवाद के मानक प्रारूप से विचलित होती रहीं। सोवियत संघ में राजनीतिक स्तर पर अल्पतंत्र की तानाशाही ने मानवीय गरिमा के मूल तत्त्वों को ही नष्ट कर दिया तो चीन ने धीरे-धीरे बुर्जुआ वर्ग को अपनी जनवादी व्यवस्था में शामिल कर लिया। निजी संपत्ति की धारणा कुछ कम भले ही हुई हो, समाप्त नहीं हुई। वितरणमूलक न्याय की दिशा में कुछ सक्रिय कदम चाहे उठे हों, वास्तविक समानता के आसपास भी कोई व्यवस्था नहीं पहुँच सकी। भारत जैसे समाजवादी देशों में तो धर्म और संस्कृति की भूमिका भी कम नहीं रही और वितरणमूलक न्याय के बहुत से प्रयास निरर्थक होकर रह गए। नवउदारवाद के आरंभ के बाद तो समाजवाद सिर्फ एक नाम भर रह गया है क्योंकि वैश्विक मुक्त बाजार प्रणाली में उच्च एवं मध्य वर्ग ने तीव्र विकास के नाम पर निम्न वर्ग को पूर्णतः हाशिये पर धकेल दिया है।

असली मुद्दा यह है कि समाजवाद की परिभाषा उसके मानकीय प्रारूप के संदर्भ में हो अथवा उसकी वास्तविक स्थिति को व्यक्त करने वाले वर्णनात्मक पदों के माध्यम से हो। यह विवाद वस्तुतः राजनीति दर्शन और राजनीति विज्ञान के मध्य है। मैक्स वेबर, कुछ तार्किक प्रत्यक्षवादियों तथा व्यवहारवादी विचारक डेविड ईस्टन का मत है कि हमें वास्तविक या वर्णनात्मक स्तर तक ही सीमित रहना चाहिये और इसके लिये वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग भी करना चाहिये। किंतु दूसरी ओर राजनीतिक दर्शन के समर्थकों का मत है कि दर्शन का मूल कार्य संप्रत्ययों का स्पष्टीकरण तथा मानकीय प्रारूपों और आदर्शों की व्याख्या करना है। इस दृष्टि से देखें तो समाजवाद की परिभाषा मूलतः मानकीय पदों से ही होनी चाहिये क्योंकि वर्तमान समाजवादी व्यवस्थाएँ अंततः उसी मानक रूप को उपलब्ध करना चाहती हैं।

अंतिम प्रश्न यह है कि समाजवाद के मानकीय तथा वर्णनात्मक प्रारूपों के मध्य उपस्थित तनाव का समुचित समाधान किया जा सकता है या नहीं? वस्तुतः यह तनाव दर्शन और जीवन के मध्य है जो न केवल समाजवाद पर लागू होता है बल्कि किसी भी विचारधारा, जैसे- गांधीवाद, लोकतंत्र आदि के मानकीय और वर्णनात्मक प्रारूपों के मध्य भी होता है। समाधान का पहला दृष्टिकोण तो यह है कि वर्णनात्मक प्रारूप को मानकीय प्रारूप की ओर बढ़ते हुए देखा जाना चाहिये। दूसरा यह कि वर्णनात्मक प्रारूप में कोई मूलभूत महत्त्व का अंतर पैदा हो गया हो तो मानकीय प्रारूप को भी समय के साथ कुछ-कुछ बदलते रहना चाहिये।

मार्क्सवाद (Marxism)

मार्क्सवादी की मूलभूत अवधारणाएँ (Salient Concepts of Marxism)

द्वंद्वत्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism)

द्वंद्वत्मक भौतिकवाद मार्क्सवाद की तत्त्वमीमांसा है। इसकी व्याख्या मार्क्स की दो पुस्तकों 'The German Ideology' तथा 'The Poverty of Philosophy' में मिलती है। इस सिद्धांत के माध्यम से मार्क्स ने जगत तथा जगत के नियमों की व्याख्या की है।

‘द्वंद्वत्मक भौतिकवाद’ भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा का उदाहरण है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि वह भौतिक तत्त्व को ही अंतिम सत्ता मानता है। सभी पारलौकिक धारणाओं का खंडन वह स्वाभाविक रूप से करता है। मार्क्स से पहले न्यूटन और लुडविग फायरबाख भौतिकवाद को स्वीकार चुके थे। मार्क्स ने उससे प्रेरणा तो ली किंतु भौतिकवाद को पूर्ण स्तर तक उसी ने पहुँचाया। ‘द्वंद्वत्मकता’ का नियम मार्क्स ने हीगेल से प्रभावित होकर लिया जिसका अर्थ है कि कोई भी विकास परस्पर विरोधी तत्त्वों के संघर्ष के माध्यम से होता है। हीगेल प्रत्ययवादी दार्शनिक था। इसलिये उसने द्वंद्वत्मक विधि का प्रयोग चेतना के स्तर पर किया और माना कि चेतना के द्वंद्वों से भौतिक स्थितियाँ निर्धारित होती हैं। मार्क्स ने द्वंद्वत्मक विधि को भौतिकवाद से जोड़ दिया और दावा किया कि भौतिक जगत की हर वस्तु में द्वंद्व होता है और इन भौतिक द्वंद्वों से ही चेतना निर्धारित होती है। इसी संदर्भ में मार्क्स ने कहा है कि “मैंने हीगेल को सिर के बल खड़ा पाया, इसलिये मैंने उसे सीधा कर दिया।”

द्वंद्वत्मक भौतिकवाद की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

1. इस सिद्धांत के अनुसार यह जगत या ब्रह्मांड ही अंतिम सत्ता है, इसके कारण के रूप में ईश्वर जैसी काल्पनिक सत्ता को मानना भ्रामक है। फायरबाख के प्रक्षेप सिद्धांत (Projection Theory) से प्रभावित होकर मार्क्स ने दावा किया कि ईश्वर सहित सभी अलौकिक विश्वास मनुष्य की कल्पनाओं के ही प्रक्षेपण हैं।
2. प्रकृति एक जटिल तथा परस्पर सुसंबद्ध व्यवस्था है। प्रकृति का हर अंग अन्य अंगों से जुड़ा हुआ है और सभी अंग मिलकर समग्र व्यवस्था का निर्माण करते हैं।
3. प्रकृति सतत् परिवर्तनशील है। जगत में कोई भी वस्तु नित्य या शाश्वत नहीं है। यदि कुछ नित्य है तो वह परिवर्तन ही है।
4. जगत की प्रत्येक भौतिक वस्तु में दो विरोधी पक्ष साथ-साथ उपस्थित होते हैं। उदाहरण के लिये, चुंबक को हम चाहे जितना भी तोड़ते जाएँ, उसमें उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की उपस्थिति बनी ही रहती है। विरोधी तत्त्वों के साथ-साथ होने से द्वंद्व की स्थिति बनती है। इस नियम को मार्क्स ने ‘विरोधी तत्त्वों की एकता तथा द्वंद्व का नियम’ (Law of Unity and Struggle of Opposites) कहा है।
5. प्रत्येक वस्तु में निहित इस अंतर्विरोध के कारण द्वंद्व होता है। यह द्वंद्व वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-Thesis) और संवाद (Synthesis) की प्रक्रिया में गतिशील होता है। यह प्रक्रिया मार्क्स ने हीगेल से ली और इसे भौतिकवाद से जोड़ दिया। वाद और प्रतिवाद के संघर्ष में अंततः एक समझौते की स्थिति आती है जिसे संवाद कहते हैं। संवाद में संघर्ष समाप्त नहीं, सिर्फ स्थगित होता है क्योंकि कुछ समय के बाद संवाद स्वयं वाद बन जाता है और यह प्रक्रिया पुनः शुरू हो जाती है।

6. वाद-प्रतिवाद-संवाद की यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। हर नई स्थिति पुरानी स्थिति का निषेध करती है किंतु कुछ समय बाद उसका भी निषेध हो जाता है। इस नियम को मार्क्स ने 'निषेध का निषेध' (Negation of negation) कहा। एक अन्य दृष्टि से इसी को 'नवीनता की अविजेयता' (Invincibility of the new) भी कहा जाता है।
7. प्रकृति के सभी परिवर्तन मात्रात्मक से गुणात्मक दिशा की ओर उन्मुख होते हैं। मात्रात्मक परिवर्तन का अर्थ है कि वस्तु में पहले से जो गुण हैं, उनकी मात्रा कम या ज्यादा हो जाए। गुणात्मक परिवर्तन का अर्थ है- वस्तु का रूप ही बदल जाना। उदाहरण के लिये, पानी के उबलने की प्रक्रिया में तापमान का 99.9° सेल्सियस तक पहुँचना सिर्फ मात्रात्मक परिवर्तन है जबकि 100° सेल्सियस होते ही पानी का भाप बन जाना गुणात्मक परिवर्तन है।
8. परिवर्तन की प्रक्रिया के संबंध में मार्क्स ने दो शब्दों का प्रयोग किया है-विकास (Evolution) तथा क्रांति (Revolution)। यदि मात्रात्मक परिवर्तन स्वाभाविक रूप से गुणात्मक परिवर्तन में रूपांतरित हो जाएँ तो इसे विकास कहते हैं। किंतु, यदि पर्याप्त मात्रात्मक परिवर्तन के बावजूद गुणात्मक परिवर्तन को अवरुद्ध कर दिया जाए तो कुछ समय के बाद एक झटके से भारी परिवर्तन होता है जिसे क्रांति या 'लीप' कहते हैं। उदाहरण के लिये, पानी का उबलते ही भाप बन जाना 'विकास' का उदाहरण है जबकि ज्वालामुखी का फटना 'लीप' का उदाहरण है।

आलोचना

1. द्वंद्वात्मक विधि का प्रयोग प्रत्ययवाद के साथ करना तो समझ में आता है किंतु भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु में अंतर्विरोधों की खोज करना निरर्थक है। यह आलोचना मुख्य रूप से एम.एन. रॉय व कार्ल मैनहीम ने की है। इनका दावा है कि केवल चुंबक के उदाहरण से जगत की हर वस्तु की व्याख्या करना संभव नहीं है।
2. मार्क्स ने चेतना को पूर्णतः भौतिक स्थितियों पर निर्भर बना दिया है, जबकि सच यह है कि विचार की उत्पत्ति चाहे भौतिक स्थितियों के आधार पर हो; किंतु एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद विचारों का स्वायत्त अस्तित्व होता है और कभी-कभी तो वे परिस्थितियाँ खत्म होने के बाद भी हजारों वर्षों तक बने रहते हैं। (एम.एन. रॉय)
3. एक तरफ मार्क्स कहता है कि परिवर्तन नित्य हैं जबकि दूसरी ओर ऐतिहासिक भौतिकवाद में वह दावा करता है कि साम्यवाद आने के बाद परिवर्तन समाप्त हो जाएंगे।
4. उत्तर-आधुनिकतावाद के समर्थकों का दावा है कि कोई भी विचारधारा अब स्वीकार नहीं की जा सकती। मार्क्सवाद विश्व की सबसे बड़ी विचारधारा है जो उत्तर आधुनिक परिदृश्य में निरर्थक हो गई है। यह विचार मुख्यतः जीन फ्राँसिस ल्योतार का है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)

ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्सवाद का केन्द्रीय सिद्धांत है जिसके माध्यम से मार्क्स ने मनुष्य के इतिहास, वर्तमान व भविष्य की व्याख्या की है। यह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के ही मूल नियमों को लेकर चलता है। मार्क्स का दावा है कि दुनिया के किसी भी समाज का इतिहास इसी नजरिये से समझा जा सकता है। इस सिद्धांत की विस्तृत चर्चा मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'The German Ideology' में की है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य का इतिहास द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से कुछ अलग नियम से चलता है। प्रकृति जड़ होने के कारण कुछ निश्चित नियमों के वशीभूत है, इसलिये उसे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से पूरी तरह समझा जा सकता है। किंतु, मनुष्य विवेकशील प्राणी है। इसलिये उससे संबंधित नियम कुछ जटिल हैं।

मानव समाज का सबसे महत्वपूर्ण नियम है कि इसमें एक बुनियादी ढाँचा (Deep Structure) होता है तथा शेष ऊपरी ढाँचे (Super Structures)। बुनियादी ढाँचा 'उत्पादन प्रणाली' (Mode of Production) को

कहते हैं जिसके दो पक्ष हैं- 'उत्पादन की शक्तियाँ' (Forces of Production) तथा 'उत्पादन के संबंध' (Relations of Production)। उत्पादन की शक्तियों का अर्थ है कि उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य तथा प्रकृति की क्षमताएँ किस प्रकार शामिल हैं? उदाहरण के लिये, कृषि में भूमि की क्षमता, पशुओं तथा किसानों की श्रमशक्ति मिलकर उत्पादन-शक्ति बनती है। उत्पादन के संबंधों का अर्थ है कि उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल व्यक्तियों में किस प्रकार के संबंध हैं? उत्पादन प्रणाली से ही समाज का संपूर्ण ढाँचा निर्धारित होता है। उत्पादन की शक्तियों या उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन आने से उत्पादन प्रणाली बदल जाती है। समाज के शेष सभी ढाँचे, जैसे-सामाजिक मान्यताएँ, राजनीति, कला, संस्कृति इत्यादि इसी से निर्धारित होते हैं तथा उत्पादन प्रणाली के बदलने पर वे भी बदल जाते हैं। इस संबंध में मार्क्स का प्रसिद्ध कथन है कि "हाथ की चक्की सामंतवाद पैदा करती है जबकि भाप का इंजन पूंजीवाद पैदा करता है।"

इतिहास की व्याख्या में मार्क्स ने सबसे ज़्यादा महत्व उत्पादन के संबंधों को दिया है। उत्पादन के संबंध दो प्रकार के होते हैं- अनिवार्य संबंध तथा शोषणपरक संबंध। अनिवार्य संबंध का अर्थ है- वह श्रम विभाजन जो उत्पादन की किसी भी प्रक्रिया के लिये ज़रूरी होता है। शोषण के संबंध में वे संबंध हैं जिनके कारण कुछ व्यक्ति बलपूर्वक उत्पादक शक्तियों के मालिक बन जाते हैं जबकि शेष श्रम शक्ति के प्रयोग से जीवित रहने को बाध्य होते हैं। यह शोषण प्राचीन काल से ही शुरू हुआ और समाज के दो वर्गों शोषक (Haves) तथा शोषित (Have Nots) में विभाजित हो गया। इतिहास की व्याख्या का अर्थ यही है कि इन वर्गों के द्वंद्व के माध्यम से युगों के परिवर्तन को समझा जाए। मार्क्स का कथन है- "आज तक के सभी समाजों का इतिहास सिर्फ वर्ग संघर्ष का इतिहास है।"

इस दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए मार्क्स ने इतिहास की कुछ अवस्थाओं का जिक्र किया है जो इस प्रकार हैं-

- 1. आदिम साम्यवाद (Primitive Communism):** यह सामाजिक जीवन की शुरुआत का समय है जब न तो निजी संपत्ति की धारणा थी और न ही शोषण। सभी मनुष्य सामुदायिक जीवन जीते थे और उनमें बेहद प्राथमिक किस्म का श्रम विभाजन था। इस समय जीवन अत्यंत कष्टपूर्ण था क्योंकि मनुष्य को प्राकृतिक शक्तियों तथा पशुओं से हर समय खतरा रहता था और मूलभूत ज़रूरतें पूरी करने के लिये कठोर परिश्रम करना पड़ता था।
- 2. दास व्यवस्था (Slavery):** यह मानवीय सभ्यता का सबसे बुरा दौर था जब शोषक वर्ग ने निम्नवर्ग के मनुष्यों को संपत्ति ही बना लिया। दास और मालिक इस समय के दो वर्ग थे। दास मालिकों की निजी संपत्ति थे जिनके साथ कुछ भी करना वैध था। यहाँ तक कि दासों को अपनी संतान का अधिकार भी नहीं था। रोम तथा ट्यूटन आदि में यह अवस्था स्पष्ट तौर पर विकसित हुई।
- 3. सामंतवाद (Feudalism):** कृषि अर्थव्यवस्था की शुरुआत के साथ ही सामंतवाद का उदय हुआ और इसमें दो वर्ग बने- सामंत तथा कृषक। कृषकों को दासों की तुलना में ज़्यादा अधिकार प्राप्त थे, किंतु उन्हें बेगार करनी पड़ती थी और युद्ध होने पर सैनिक सेवा भी देनी होती थी। यह व्यवस्था यूरोप के लगभग सभी देशों में विकसित हुई।
- 4. पूंजीवाद (Capitalism):** औद्योगिक क्रांति के साथ ही पूंजीवाद का उदय हुआ जिसमें पूंजीपति (बुर्जुआ) तथा मजदूर (सर्वहारा) दो वर्ग बने। मजदूरों को अनुबंध (Contract) की स्वतंत्रता थी। उन्हें बेगार नहीं करनी पड़ती थी, किंतु राज्य की अहस्तक्षेप नीति (Laissez-faire) तथा मांग-पूर्ति के अंधे नियम के कारण मजदूरों की स्थिति बेहद दयनीय थी। मार्क्स का विश्वास है कि पूंजीवाद में मजदूरों में एकता और वर्ग चेतना तेजी से फैलती है और इसी के चरम स्तर पर दुनिया के सभी मजदूर विश्वव्यापी हिंसक क्रांति करके समाजवाद की स्थापना करेंगे।

5. **समाजवाद (Socialism):** समाजवाद पूंजीवाद के तुरंत बाद की स्थिति है जिसे 'सर्वहारा की तानाशाही' भी कहा गया है। इस अवस्था में राज्य तो रहता है किंतु वह जनसाधारण के पक्ष में होता है। निजी संपत्ति की धारणा खत्म हो जाती है। धर्म को मानना निषिद्ध हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति क्षमता के अनुसार कार्य करता है और उसे कार्य के अनुसार उपलब्धियाँ मिलती हैं।
6. **साम्यवाद (Communism):** साम्यवाद अंतिम अवस्था है जिसे मार्क्स का 'यूटोपिया' या 'स्वप्नलोक' भी कहते हैं। यह समाजवाद का अगला स्वाभाविक चरण है जहाँ राज्य लुप्त हो जाता है, धर्म मानवीय चेतना से हट जाता है। प्रत्येक व्यक्ति क्षमता और रुचि के अनुसार कार्य करता है तथा जरूरत के अनुसार उसे प्राप्तियाँ मिलती हैं। यहाँ शोषण और अलगाव पूर्णतः समाप्त हो जाता है।

अधिशेष मूल्य का सिद्धांत (Theory of Surplus Value)

मार्क्स ने अपने आर्थिक विचारों को जिन सिद्धांतों के माध्यम से व्यक्त किया, उनमें सबसे प्रमुख है- "अधिशेष मूल्य का सिद्धांत"। इस सिद्धांत के अनुसार पूंजीपति की आय, जिसे वह लाभ कहता है, वस्तुतः अधिशेष मूल्य है।

मार्क्स के अनुसार कोई भी उत्पादन वस्तु के मूल्य में होने वाली वह वृद्धि है जो किसी श्रमिक द्वारा अपनी श्रम शक्ति के प्रयोग के कारण होती है। वह एडम स्मिथ जैसे उदारवादी दार्शनिकों के इस विचार को नहीं मानता कि पूंजी, भूमि और उद्यमशीलता भी उत्पादन के अनिवार्य साधन होते हैं। उसके अनुसार भूमि व पूंजी सारे समाज की होती है और उत्पादन प्रक्रिया में निहित संपूर्ण खतरा भी सारा समाज मिलकर उठा सकता है। मूल्य की वास्तविक वृद्धि सिर्फ श्रम से होती है, अतः संपूर्ण उत्पादित मूल्य श्रमिक को ही मिलना चाहिये।

किंतु पूंजीपति श्रमिक द्वारा उत्पादित मूल्य का एक बड़ा अंश लाभ के नाम पर अपने पास रख लेता है। यदि एक मजदूर 12 घंटे काम करके 120 रु० मूल्य का उत्पादन करे और उसे उस श्रम के बदले सिर्फ 20 रु० दिये जाएँ तो शेष 100 रु० अधिशेष मूल्य है। इस अर्थ में देखें तो मजदूर द्वारा किये गए 12 घंटों के श्रम में से उसे सिर्फ दो घंटों के कार्य का भुगतान मिलता है जबकि शेष उत्पादन मूल्य पर पूंजीपति बिना श्रम किये कब्जा कर लेता है। अधिशेष मूल्य को मार्क्स ने चुराई गयी आय भी कहा और अधिशेष मूल्य पर कब्जा करने वाले को 'परजीवी' (Parasite) कहा है।

इस विचार की आलोचना कई दार्शनिकों ने की है। एम.एन. रॉय जो कि स्वयं लम्बे समय तक मार्क्सवादी रहे, इस विचार की आलोचना करते हुए कहते हैं कि विश्व का कोई भी समाज संपूर्ण उत्पादित मूल्य मजदूर को दे देगा तो वैज्ञानिक-तकनीकी-सामाजिक कोई विकास नहीं हो पायेगा। पुनः यह भी देखा गया है कि जहाँ-जहाँ समाजवादी प्रणाली से उत्पादन हुआ, वहाँ भी संपूर्ण उत्पादित मूल्य मजदूर को नहीं दिया गया।

वर्ग संघर्ष का सिद्धांत (Theory of Class Struggle)

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत के माध्यम से की है। उसके अनुसार वर्ग उन व्यक्तियों का समूह है जो किसी अर्थव्यवस्था में उत्पादन की शक्तियों के साथ एक प्रकार का संबंध रखते हैं। उदाहरण के लिये, सामंतवादी समाज में भूमि उत्पादन की प्रमुख शक्ति है और इससे व्यक्तियों के दो प्रकार के संबंध हैं। पहले वर्ग में भूमिपति अर्थात् वे व्यक्ति हैं जो उत्पादन शक्तियों के स्वामी हैं जबकि द्वितीय वर्ग में वे अर्द्ध-दास हैं जो उत्पादन शक्तियों पर श्रम करते हैं किंतु उनके स्वामी नहीं हैं। इस प्रकार किसी भी समाज में स्वाभाविक रूप से दो वर्ग बन जाते हैं- शोषक वर्ग (Haves) तथा शोषित वर्ग (Have Nots)। किसी भी समाज के इतिहास के सभी परिवर्तन इन वर्गों के संघर्ष के माध्यम से ही होते हैं-इसे ही वर्ग संघर्ष का सिद्धांत कहते हैं।

मार्क्स का दावा है कि किसी भी समाज में दो वर्ग होते हैं तथा उन दोनों में अनिवार्यतः विरोध का ही संबंध होता है। वह प्रत्ययवादी दार्शनिकों के हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत या काल्पनिक समाजवादियों के 'अंतरात्मा की जागृति' को निरर्थक मानता है क्योंकि उसके भौतिकवाद के अनुसार चेतना से भौतिक स्थितियाँ नहीं बल्कि भौतिक स्थितियों से चेतना निर्धारित होती है। उसने स्पष्ट कहा है कि वर्गों के हित इतने विपरीत होते हैं कि किसी भी वर्ग विभेदित समाज में वास्तविक समानता आ ही नहीं सकती। उदाहरण के लिये, पूंजीवाद में पूंजीपति अपना लाभ बढ़ाना चाहता है जबकि मजदूर की आय उसके लिये खर्चा है। स्पष्ट है कि मजदूर की आय बढ़ने से लाभ कम होगा, अतः दोनों वर्गों के हित परस्पर विरुद्ध होते हैं।

इतिहास का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने बताया है कि हर युग में नये-नये वर्ग बनते रहे हैं। दास युग में मालिक और दास दो वर्ग थे। इनके संघर्ष से सामंतवाद उत्पन्न हुआ जिसमें सामंत और अर्धदास नामक दो वर्ग हुए। इसके बाद पूंजीवाद आया जिसमें पूंजीपति और सर्वहारा दो वर्ग हैं। इसके बाद समाजवाद आयेगा जिसमें उत्पादन की शक्तियों पर संपूर्ण समाज का स्वामित्व होगा और वर्ग विभेद समाप्त हो जाएंगे।

गांधी, एम.एन. रॉय तथा लोकतांत्रिक समाजवादियों ने मार्क्स के इस दावे को खारिज किया है कि वर्गों में केवल विरोध होता है, सहयोग नहीं। पुनः मार्क्स ने मध्य वर्ग को केवल संक्रमणशील कहकर गौण स्थान दिया जबकि इतिहास साक्षी है कि आज मध्य वर्ग सबसे बड़ा व प्रमुख वर्ग है। पुनः कॉर्पोरेट पूंजीवाद के विकास के बाद वर्ग विभाजन असंभव हो गया है क्योंकि किसी कारखाने में काम करने वाला मजदूर उसी कारखाने के कुछ शेयरों का मालिक भी होता है। फिर, आज के समय में न केवल श्रम सुधार हुए हैं बल्कि श्रम के मुक्त बाजार के कारण श्रमिकों ने अपनी आय में आशातीत वृद्धि भी की है। मार्क्स का यह विचार इस रूप में अवश्य प्रासंगिक है कि बहुत से क्षेत्रों में अभी भी कृषक और श्रमिक वर्ग कई प्रकार के अन्यायों के शिकार हैं और उन्हें इससे प्रेरणा मिलती है।

क्रांति की धारणा (Concept of Revolution)

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या करते हुए क्रांति को उसका अनिवार्य तत्त्व माना है। क्रांति का मूल विचार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में ही निहित है किंतु सामाजिक परिवर्तन के संबंध में इसकी व्याख्या ऐतिहासिक भौतिकवाद से की गई है। क्रांति वह प्रक्रिया है जो मात्रात्मक परिवर्तनों के अनुरूप गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो पाने के कारण एक तीव्र तथा विस्फोटक क्रिया के रूप में व्यक्त होती है।

मार्क्स का मानना है कि प्राकृतिक परिवर्तन कभी-कभी विकास के माध्यम से, तो कभी-कभी क्रांति के माध्यम से व्यक्त होते हैं, जैसे-वाष्पीकरण विकास की प्रक्रिया है जबकि ज्वालामुखी का फटना क्रांति है। इसके विपरीत सामाजिक परिवर्तन प्रायः क्रांति के माध्यम से ही हो पाते हैं क्योंकि उच्च वर्ग निम्न वर्ग के पक्ष में परिवर्तनों को होने से लगातार रोकने का प्रयास करता है। छोटी-छोटी क्रांतियाँ विश्व के हर युग में हुई हैं किंतु पूंजीवाद एक वैश्विक क्रांति की संभावना पैदा कर वैश्विक समाजवाद का रास्ता तैयार करता है। क्रांति अनिवार्यतः हिंसक होती है क्योंकि अन्य किसी भी प्रकार से वर्गीय हितों के अंतर्विरोध को सुलझाया नहीं जा सकता।

मार्क्स ने पूंजीवाद के संदर्भ में क्रांति का विस्तृत विश्लेषण किया है। उसके अनुसार क्रांति के लिये जरूरी है कि 'अपने आप में वर्ग' (Class in Itself), 'अपने लिये वर्ग' (Class for itself) बन जाए जो वर्ग चेतना आने पर ही संभव है। वर्ग चेतना का विकास तभी संभव है जब वर्ग के सदस्यों में भौतिक निकटता हो, सरल संचार हो तथा अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सही समझ हो। सामंतवाद तक शोषित व्यक्ति भौगोलिक दूरी व बाधित संचार के कारण परस्पर जुड़ नहीं पाते किंतु पूंजीवाद बड़े-बड़े कारखानों के कारण उन्हें भौतिक निकटता तथा सरल संचार का अवसर उपलब्ध कराता है। पूंजीपति क्रांति रोकने के लिये धर्म, विचारधारा तथा

प्रोत्साहन जैसी मिथ्या चेतनाओं (False Consciousnesses) का प्रयोग करता है किंतु सर्वहारा इनमें न उलझते हुए अंततः क्रांति करते हैं। क्रांति के अंतर्गत पूँजीपतियों का नाश किया जाता है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही या समाजवाद उत्पन्न होता है।

बहुत से दार्शनिकों ने क्रांति की अनिवार्यता और क्रांति की प्रकृति पर सवाल उठाए हैं। गांधी जैसे विचारक न तो क्रांति को अनिवार्य मानते हैं, न ही अनिवार्यतः हिंसक मानते हैं। विकासवादी समाजवादियों और नव-मार्क्सवादियों ने भी आगे चलकर क्रांति को अनावश्यक बताया है।

धर्म संबंधी विचार (Views About Religion)

मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी दर्शन है जो धर्म जैसे विचारों को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करता। मार्क्स ने धर्म का विस्तृत विश्लेषण तो नहीं किया लेकिन संक्षिप्त विवेचन में उसे एक मिथ्या-चेतना (False-Consciousness) माना है जो शोषित वर्गों के विरुद्ध शोषक वर्गों द्वारा प्रयुक्त किया जाने वाला एक वैचारिक अस्त्र है। उसके विवेचन पर लुडविग फायरबाख के 'प्रक्षेप सिद्धांत' (Projection Theory) का प्रभाव है जिसके अनुसार सभी अलौकिक शक्तियाँ या सत्ताएँ मनुष्य के काल्पनिक प्रक्षेपण मात्र हैं।

मार्क्स ने धर्म के संबंध में एक प्रसिद्ध वाक्य कहा है— “धर्म शोषितों की कराह है, हृदयहीन विश्व की भावना है और आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है। यह लोगों के लिये अफीम है।” इस कथन का सारतत्त्व यह है कि धर्म शोषित व्यक्ति को न केवल वास्तविकता से दूर करता है बल्कि अपनी स्थितियों को सुधारने के प्रयास भी नहीं करने देता। धर्म मजदूर के लौकिक दुःखों का निदान बताने के स्थान पर उसे पारलौकिक सुखों का मिथ्या आश्वासन देता है। जब कोई शोषित व्यक्ति निरंतर दुःख और तनाव का सामना करता है तो यही धर्म इस तनाव की अभिव्यक्ति धार्मिक पद्धति से कराकर उसकी विद्रोह भावना का शमन कर देता है। पुनः धर्म प्रत्येक मनुष्य को सहनशीलता, त्याग, संयम और दुःख झेलने की क्षमता जैसे मूल्य सिखाता है जबकि ये सभी मूल्य परतंत्र बनाते हैं, न कि स्वतंत्र। मार्क्स ने यहाँ तक कहा कि “एक साथ कहे तो धर्म वे सभी गुण विकसित करता है जो एक पालतू कुत्ते में होते हैं।”

मार्क्स का स्पष्ट मानना है कि धर्म प्रत्यक्षतः या परोक्षतः शोषक वर्गों के हित में काम करने वाला उपकरण मात्र है जिसे यूरोप के मध्यकाल तथा भारत की जाति व्यवस्था में देखा जा सकता है। उसका दावा है कि साम्यवाद में कई अन्य कृत्रिम संस्थाओं की तरह धर्म भी समाप्त हो जाएगा क्योंकि मानववाद के उच्च स्तर पर धर्म की संभावना बचती ही नहीं।

इस विचार की आलोचना यह है कि मार्क्स धर्म में निहित कमजोरियों को तो देख पाया किंतु शक्तियों को नहीं। धर्म की शक्ति का स्पष्ट प्रमाण है कि 70 से अधिक वर्ष के निरंतर दमन के बावजूद सोवियत संघ में धर्म समाप्त नहीं हुआ। नवमार्क्सवादियों जैसे एरिक फ्रॉम इत्यादि ने तो एक नये प्रकार के धर्म की स्थापना तक करने का प्रयास किया है।

अलगाव/अजनबीपन/परायेपन/आत्मनिर्वासन का सिद्धांत (Theory of Alienation)

मार्क्स के दर्शन में अलगाव या परायेपन का सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी के माध्यम से मार्क्स ने मानव की रचनात्मक प्रवृत्ति तथा पूँजीवाद के कारण उस पर उत्पन्न हुए संकटों की व्याख्या की है। इस सिद्धांत को मार्क्स ने अपने आरंभिक लेखों में 1844 में प्रस्तुत किया और बाद में चलकर 'दास कैपिटल' के अंतर्गत 'वस्तुओं की जड़-पूजा' (Fetishism of Commodities) नामक अध्याय में भी रेखांकित किया।

मार्क्स की मान्यता है कि मनुष्य मूलतः रचनात्मक या सृजनात्मक प्राणी है और उसकी रचनात्मकता कार्य के माध्यम से व्यक्त होती है। जब व्यक्ति कार्य करता है तो न केवल उसे सृजनात्मक संतोष प्राप्त होता है

बल्कि समाज के प्रति उत्तरदायित्व को निभाने का आनंद भी उसे मिलता है। उसने उदारवाद की इस धारणा का खंडन किया कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी होता है और कैथोलिक धर्म की इस धारणा का भी खंडन किया कि कार्य करना अनिवार्य बुराई (Necessary Evil) है।

मनुष्य को रचनात्मक संतोष मिलना जब बंद हो जाता है तो वह अलगाव का शिकार होता है। इसका आरंभ तो वस्तु-विनिमय प्रणाली से ही हो जाता है किंतु मौद्रिक अर्थव्यवस्था तथा पूंजीवाद की ओर बढ़ते हुए यह अधिक समस्याप्रद हो जाता है। पूंजीवाद में मजदूर उत्पादन का खर्च माना जाता है जो कि उसका वस्तुकरण (Objectification) है। वह चार प्रकार के अलगाव का शिकार होता है—

1. अपने कार्य से अलगाव क्योंकि अतिविशेषीकरण के कारण कार्य में सृजनात्मकता व्यक्त नहीं होती।
2. उत्पाद से अलगाव क्योंकि उत्पाद के भविष्य पर मजदूर का कोई नियंत्रण नहीं होता।
3. समाज से अलगाव क्योंकि समाज के सभी संबंध मानवीय आधारों पर नहीं बल्कि बाजार के जड़ नियमों (जैसे मांग-पूर्ति) से तय होते हैं।
4. अपनी मानव प्रकृति से अलगाव क्योंकि यंत्र की तरह काम करते-करते मजदूर खुद भी यंत्र बनकर अपनी सृजनात्मकता को भूल जाता है।

मार्क्स के अनुसार अलगाव की समाप्ति साम्यवाद में होती है। साम्यवाद में वर्ग विभेद न होने के कारण कोई शोषण नहीं होता और तकनीकी विकास की उच्चता के कारण विशेषीकरण भी आवश्यक नहीं रह जाता। उत्पादन की प्रचुरता तथा वितरणमूलक न्याय की उपलब्धि के कारण प्रत्येक व्यक्ति को सृजनात्मक स्वतंत्रता उपलब्ध होती है और वह अपनी रुचियों और क्षमताओं के अनुसार कार्य करता है, न कि बाजार के अमानवीय दबावों के अनुसार।

प्रतिपक्षियों का आक्षेप है कि यह विश्लेषण एक-आयामी है। मैक्स वेबर ने दावा किया कि अलगाव सिर्फ मजदूर की समस्या नहीं है बल्कि आधुनिक समाज के हर व्यक्ति की समस्या है और इसका कारण उत्पादन प्रणाली नहीं, बल्कि अति-तार्किकीकरण की प्रक्रिया है।

मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद का संबंध (Relation between Marxism and Nationalism)

मूलतः मार्क्सवाद का राष्ट्रवाद के साथ विरोध का संबंध रहा है क्योंकि मार्क्स के अनुसार राष्ट्रवाद एक मिथ्या चेतना है जो जातीयता जैसी भावनाओं को उभारती है तथा वास्तविक आर्थिक शोषण से सर्वहारा का ध्यान भटकती है। अतः यह एक विचारधारा (Ideology) या मिथ्या चेतना (False Consciousness) ही है। मार्क्सवाद राष्ट्रवाद को पूंजीवाद का ही सांस्कृतिक पक्ष मानता है। उसका दावा है कि वर्गों का पारस्परिक विरोध उत्पादन की शक्तियों के साथ उनके संबंधों से तय होता है, अतः वर्ग संघर्ष का क्षेत्र राष्ट्र द्वारा सीमित नहीं हो सकता। वर्गों की विरोधात्मक स्थिति हर स्थान पर है, अतः मार्क्स अंतर्राष्ट्रवाद में विश्वास रखता है। वह कहता भी है— “दुनिया के मजदूरों, एक हो जाओ”। वह मानता था कि पूंजीवाद के चरम स्तर पर वैश्विक क्रांति होगी जिससे समाजवाद का उद्भव होगा।

लेनिन और माओ ने इस सिद्धांत को व्यावहारिकता की कसौटी पर परखा और इसमें परिवर्तन किया। लेनिन ने कहा कि समाजवाद विभिन्न देशों में क्रमशः भी आ सकता है और समाजवादी देशों का दायित्व बनता है कि वे अन्य देशों में समाजवाद लाने की स्थितियाँ बनाएँ। चूँकि सभी देशों की स्थितियाँ अलग-अलग हैं, इसलिये यह जरूरी नहीं है कि वैश्विक क्रांति एक साथ हो। हाँ, समाजवादी अवस्था से साम्यवादी अवस्था में संक्रमण वैश्विक स्तर पर एक साथ होगा। इसके लिये, सर्वहारा की तानाशाही तब तक बनाए रखनी होगी, जब तक सभी देशों में समाजवाद की स्थापना न हो जाए। माओ ने राष्ट्रवाद के विचार को अधिक महत्त्व दिया और साफ माना कि समाजवादी हितों को राष्ट्रीय हितों से अधिक महत्त्व देना संभव नहीं है। माओ ने

तो समाजवादी लोकतंत्र में सर्वहारा व किसान वर्गों के साथ राष्ट्रीय बुर्जुआ तथा पैटी बुर्जुआ को भी भागीदारी का मौका दिया। फिर, सोवियत संघ और चीन का समाजवादी होने के बावजूद एक दूसरे का मित्र न बन पाना इस बात का संकेत है कि उस समय तक राष्ट्रवाद कितना महत्वपूर्ण विचार हो चुका था।

अभी भी, पारंपरिक मार्क्सवादी जैसे रोजा लक्ज़ेम्बर्ग स्पष्टतः मानते हैं कि राष्ट्रवाद और समाजवाद में कोई मेल नहीं हो सकता क्योंकि राष्ट्रवाद पूंजीवाद का ही उप-उत्पाद (By product) है। वर्तमान समय में तो पूंजीवाद और राष्ट्रवाद के गठजोड़ ने नाभिकीय खतरे भी पैदा कर दिये हैं, अतः राष्ट्रवाद को समाप्त करना ज़रूरी है। संशोधनवादी मार्क्सवादी तथा व्यावहारिक मार्क्सवादी अब मानते हैं कि राष्ट्र तब तक समाजवाद की एक इकाई बनकर भी काम कर सकता है जब तक कि वैश्विक साम्यवाद की स्थिति पैदा न हो जाए। वे यह भी कहते हैं कि भूमंडलीकरण के दौर ने राष्ट्रवाद को वैसे भी कमजोर करना आरंभ कर दिया है, अतः भविष्य में राष्ट्रवाद एक मजबूत व प्रभावी विचार के रूप में रहने वाला नहीं है।

मार्क्सवाद में व्यक्ति की स्थिति (Status of Man in Marxism)

सोवियत संघ और चीन जैसे देशों में जिस प्रकार से तानाशाही लागू हुई और व्यक्ति के अधिकारों को छीन लिया गया, उसके कारण यह प्रश्न उठा कि मार्क्सवाद व्यक्ति को महत्त्व देता है अथवा नहीं? प्रसिद्ध मानववादी चिंतक एम.एन. रॉय का स्टालिन से मतभेद भी इसी बात पर हुआ कि मार्क्सवाद व्यक्ति को महत्त्व नहीं देता।

मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति का महत्त्व अवश्य है किंतु तभी जबकि सभी व्यक्तियों को महत्त्व मिले। वर्ग विभाजित समाज में वैयक्तिक स्वतंत्रता दी जाए तो वह सिर्फ उच्च वर्ग तक सीमित रह जाएगी और निम्न वर्ग के शोषण और दमन का आधार बनेगी। सर्वहारा की तानाशाही एक संक्रमणशील अवस्था है, जिसमें वैयक्तिक स्वतंत्रता स्थगित रहती है। यदि इस समय वैयक्तिक स्वतंत्रता दी जाएगी तो प्रति-क्रांति (Counter-revolution) का खतरा बढ़ेगा और समतामूलक समाज की स्थापना का संपूर्ण प्रयास ही निरर्थक हो जाएगा।

साम्यवाद में व्यक्ति को पूरा महत्त्व मिलेगा। व्यक्ति की वैयक्तिकता का जितना सम्मान साम्यवादी अवस्था में होगा, उतना उदारवाद में भी संभव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और आवश्यकता के अनुसार कार्य प्राप्त करेगा। वह राज्य के शोषण से ही मुक्त नहीं होगा बल्कि धर्म, परिवार, विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं के दबाव से भी मुक्त होगा। वह 'विशेषीकरण' और 'अलगाव' से भी स्वतंत्र होगा ताकि व्यक्तिगत रुचि के अनुसार कोई भी कार्य कर सके। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपनी सृजनात्मकता के स्तर पर जियेगा जो अन्य किसी भी स्थिति में असंभव है।

स्पष्ट है कि सर्वहारा की तानाशाही के दौरान मार्क्सवाद व्यक्ति को कोई महत्त्व नहीं देता किंतु स्वतंत्रता के इस स्थगन का उद्देश्य मात्र इतना है कि साम्यवादी अवस्था में व्यक्ति को सभी संभव अधिकार दिये जा सकें। समस्या मात्र यह है कि साम्यवादी व्यवस्था के आगमन की व्यावहारिक संभाव्यता अत्यंत कम है। उसके नाम पर वर्तमान पीढ़ियों की स्वतंत्रता को दाँव पर लगाना न्यायोचित नहीं माना जा सकता।

मार्क्सवादी मानववाद (Marxist Humanism)

मार्क्सवाद एक प्रकार का मानववादी दर्शन है। मार्क्स ने स्वयं दावा किया है कि उसका दर्शन वैज्ञानिक तथा मानववादी है। इसकी ज्ञानमीमांसा विज्ञान के मूल्यों पर आधारित है, तत्त्वमीमांसा भौतिकवादी है और नीतिमीमांसा मानव के इहलौकिक विकास को ही केंद्र में रखती है। इन सभी कारणों से मार्क्सवाद को निर्विवाद रूप से मानववाद माना जा सकता है।

मार्क्स ने मानववादी नज़रिये से कुछ विशेष प्रश्नों जैसे अलगाव (Alienation), वस्तुओं की जड़ पूजा (Fetishism of Commodities) इत्यादि पर भी विचार किया जो मुख्यतः उसके आरंभिक लेखन में दिखते हैं। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Political and Economic Manuscripts of 1844' में मार्क्सवाद का मानववादी पक्ष उभर कर आया। 20वीं शताब्दी में जॉर्ज लुकाच, ऐरिक फ्रॉम तथा हरबर्ट मारक्यूज़ जैसे नवमार्क्सवादियों ने भी मार्क्सवाद के मानववादी पक्ष पर ध्यान दिया है।

मार्क्स का मानववादी विचार सबसे पहले वहाँ दिखता है जहाँ वह मानव और प्रकृति के संबंधों की व्याख्या करता है। वह कहता है कि मनुष्य सभ्यता की शुरुआत से ही स्वतंत्र नहीं है क्योंकि यह प्रकृति के नियमों को मानने के लिये बाध्य रहता है। जब तक मनुष्य प्रकृति का दास बना रहता है तब तक मानवीय इतिहास की अवस्था 'प्रकृतिवादी' कहलाती है। मानवेतर पशु-पक्षी मूल प्रवृत्तियों से ही संचालित होते हैं, इसलिये वे इस अवस्था का अतिक्रमण कभी नहीं करते हैं। किंतु, मानव के पास विवेक क्षमता है जिसके प्रयोग से वह प्रकृति के नियमों का अध्ययन करता है। इस वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर धीरे-धीरे वह प्रकृति को नियंत्रित करने की स्थिति में आ जाता है। यहीं से उसके इतिहास का दूसरा चरण शुरू होता है जिसे 'मानववादी चरण' कह सकते हैं।

पूँजीवाद मानवीय इतिहास की वह अवस्था है जहाँ विज्ञान का विकास काफी मात्रा में हो चुका होता है और प्रकृति पर नियंत्रण भी लगभग स्थापित हो जाता है। किंतु, इस अवस्था में बाह्य प्रकृति के नियंत्रण के बावजूद मानव की आंतरिक प्रकृति के नियंत्रित न होने के कारण मानववाद का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। यह तभी संभव है जब मानव की आंतरिक प्रकृति भी सही नियमों पर आधारित हो।

मानव की मूल प्रकृति पापी होने की (जैसा कि कैथोलिक ईसाई मानते हैं) नहीं है, बल्कि मानव मूलतः एक नैतिक प्राणी है। वह कोई कार्य इसलिये नहीं करता कि यह 'अनिवार्य बुराई' है बल्कि इसलिये करता है कि कार्य करना उसका मूल स्वभाव है। कार्य करने से एक तो उसकी सृजनात्मकता व्यक्त होती है, दूसरे उसे यह संतोष भी मिलता है कि वह समाज के प्रति अपना दायित्व निभा सका है। आदर्श अवस्था में मानव अपने संतोष के लिये काम करता है, न कि मांग और पूर्ति के अमानवीय नियम के आधार पर।

वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter System) की शुरुआत के साथ ही मनुष्य का यह संतोष छिन जाता है क्योंकि अब कार्य रुचि तथा सृजनशीलता की अभिव्यक्ति का माध्यम न होकर विनिमय (Exchange) का माध्यम बन जाता है। मौद्रिक अर्थव्यवस्था (Monetary Economy) इस अलगाव (Alienation) को और गहरा कर देती है। पूँजीवाद में तो अलगाव का संकट चरम स्तर पर होता है। अतिविशेषीकरण तथा मशीनी उत्पादन प्रक्रिया के कारण मजदूर का अपने कार्य से अलगाव हो जाता है, उत्पादित वस्तु पर कोई नियंत्रण न होने के कारण वह वस्तु से भी अलगावीकृत हो जाता है। वह अन्य मजदूरों व साथियों से भी अलग हो जाता है क्योंकि मांग-पूर्ति का अमानवीय संबंध उन्हें निरर्थक प्रतिस्पर्धा में फँसा देता है और सहज मानवीय संबंध छिन लेता है। अंततः मजदूर अपनी मानवीय प्रकृति से ही कट जाता है क्योंकि उसकी सृजनशीलता व्यक्त नहीं हो पाती है। अलगाव का शिकार पूँजीपति भी होता है क्योंकि वह भी बाज़ार के अमानवीय नियमों के अनुसार जीने को बाध्य होता है।

असली मानववाद तभी स्थापित होता है जब मानव बाहरी प्रकृति पर नियंत्रण के साथ-साथ अपनी मानवीय प्रकृति के नियमों के अनुसार जी सके। यह साम्यवाद में आकर संभव होता है। यहाँ विशेषीकरण खत्म हो जाता है क्योंकि तकनीक अपने उच्चतम स्तर पर हर किसी के लिये सरल हो जाती है, बाज़ार के मांग-पूर्ति जैसे दबाव खत्म हो जाते हैं; व्यक्ति अपनी रुचि व क्षमता के अनुसार कार्य करता है तथा ज़रूरत के अनुसार उसे प्राप्तियाँ होती हैं। इस अवस्था में धर्म, विवाह, परिवार और राज्य जैसी संस्थाएँ लुप्त हो जाती हैं तथा मानव पूर्ण सृजनात्मकता के साथ जीवन जीता है।

आलोचना

1. मार्क्स ने मानव को एक तरह से प्रकृति का शत्रु बना दिया है। आज के पर्यावरण संकट के दौर में मार्क्सवाद का यह विचार अस्वीकार्य प्रतीत होता है। (कुछ मार्क्सवादियों का दावा है कि मार्क्स ने प्रकृति के शोषण का समर्थन नहीं किया। वह तो कहता है कि मजदूर का अलगाव प्रकृति से भी हो जाता है जिसका तात्पर्य है कि वह मानव और प्रकृति में पारस्परिकता का संबंध देखता है।)
2. मार्क्स ने मनुष्य की प्रकृति को एक-आयामी तरीके से समझा है। यह विचार कि कार्य करना ही मनुष्य का स्वभाव है और वह समाज को योगदान देना चाहता है- हर स्थिति में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।
3. मार्क्स के विचारों में मूल समस्या यह है कि उनकी व्यावहारिकता संदिग्ध है। बिना विशेषीकरण के तकनीक का उच्च स्तर कैसे बना रहेगा, बिना राज्य के साम्यवादी व्यवस्था विश्व में कैसे कार्य करेगी-इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मार्क्स के पास नहीं है।

मार्क्सवाद एवं लोकतंत्र का संबंध (*Relation Between Marxism and Democracy*)

1. दोनों का मूलभूत संबंध विरोधात्मक रहा है।

लोकतंत्र मूलतः उदारवादी विचार था; आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप को मानता था, समानता और स्वतंत्रता के नकारात्मक विचार को तथा न्याय के औपचारिक विचार को स्वीकार करता था; विषमताओं को वह योग्यताओं के अंतर का परिणाम मानता था और योग्यताओं के अंतर को 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) के सैद्धांतिक प्रकाश में न्यायपूर्ण मानता था। निजी संपत्ति के अधिकार को मूलभूत अधिकार की मान्यता; अनुबंध की स्वतंत्रता; वयस्क मताधिकार के रूप में औपचारिक राजनीतिक समानता-ये सभी उदार लोकतंत्र के मूल लक्षण रहे थे।

इसके विपरीत, मार्क्सवाद ने आर्थिक क्षेत्र को मूलभूत महत्त्व का क्षेत्र माना; पूंजीवाद और अहस्तक्षेप जैसी स्थितियों को अन्यायपूर्ण माना; निजी संपत्ति की धारणा को ही मूलतः अस्वीकृत किया समानता और स्वतंत्रता की सकारात्मक धारणाएँ स्वीकार कीं; न्याय की 'तात्त्विक' धारणा और 'सामाजिक न्याय' की धारणा का प्रतिपादन किया; आर्थिक न्याय के अभाव में सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों को ढकोसला बताया; व्यक्ति की योग्यताओं को सामाजिक स्थितियों एवं उपलब्धियों का ही परिणाम माना। इतना ही नहीं, उसने हिंसक क्रांति को अनिवार्य बताकर लोकतंत्र, पूंजीवाद इत्यादि व्यवस्थाओं को सिरे से अस्वीकार कर दिया।

2. लोकतंत्र मार्क्सवाद की ओर क्यों झुका?

- (i) बुर्जुआ क्रांति के बाद अहस्तक्षेप की नीति के कारण कामगारों की दशा अत्यधिक चिंतनीय होने लगी। 19वीं सदी के आरंभ में सेंट साइमन आदि आरंभिक समाजवादी विचारकों ने इस ओर इशारा किया। धीरे-धीरे उदारवाद 'सीमित हस्तक्षेप' या 'न्यूनतम हस्तक्षेप' के सिद्धांत को स्वीकार करने लगा।
- (ii) कई उदारवादी विचारकों ने सामाजिक न्याय के विचार को गंभीरता से लिया। यह परंपरा लास्की से आरंभ हुई और वर्तमान काल में 'समतावाद' (Equalitarianism) की धारा के रूप में जॉन रॉल्स तथा सी.बी. मैक्फर्सन के रूप में विद्यमान है। यह धारा अंतरों को न्यूनतम अनिवार्य स्तरों तक लाने की बात करती है।

- (iii) वयस्क मताधिकार तो लोकतंत्र ने दिया था। धीरे-धीरे इंग्लैंड जैसे देशों में मजदूर वर्ग में यह चेतना फैलने लगी कि मजदूर वर्ग की दशाओं को सुधारने के लिये राज्य की शक्तियों का आर्थिक क्षेत्र में प्रयोग बढ़ना चाहिये।
- (iv) लोकतंत्र के विस्तार के साथ धीरे-धीरे यह विचार विकसित होने लगा कि राज्य को न केवल शासन, बल्कि कल्याण के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करना चाहिये। इस प्रकार धीरे-धीरे लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार स्थापित हुआ।
- (v) जैसे-जैसे पूंजीवाद का प्रसार हुआ, पूंजी से पैदा होने वाले संकट बढ़े, जैसे- एकाधिकार आदि की समस्याएँ, श्रमिकों का शोषण इत्यादि। अतः ऐसे मामलों में नियामक संस्था के रूप में राज्य को हस्तक्षेप करना ही पड़ा।

इस प्रकार, लोकतंत्र मात्र राजनीतिक प्रणाली न रहकर एक समग्र दर्शन बना जिसमें आर्थिक न्याय और सामाजिक न्याय जैसे विचार भी शामिल हो गए।

3. मार्क्सवाद लोकतंत्र की ओर क्यों झुक रहा है?

- (i) राजनीतिक व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र का मानव विवेक में विश्वास ऐसा बिंदु है जिसके कारण इस व्यवस्था को कम ही समय में वैश्विक लोकप्रियता हासिल हो गई। सभी देशों के लिये किसी न किसी रूप में लोकतंत्र से जुड़ना अनिवार्य हो गया।
- (ii) विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया ने भी योगदान दिया। मानव स्वतंत्रता का आधुनिक विचार मार्क्सवादी राज्यों में उपलब्ध नहीं होता था, जबकि पूंजीवादी राज्यों में था। समाजावादी देशों की जनता ने महसूस किया कि स्वतंत्रता को किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ा जाना चाहिये। इसके लिये समाजवादी देशों में जन आंदोलन भी हुए, जैसे चीन में थ्येन-ऑन-मन चौक की घटना। कार्ल पॉपर ने भी इसी बिंदु पर मार्क्सवाद की आलोचना की है।
- (iii) क्रांति का विचार पूंजीवाद का विफलताओं पर टिका था पर पूंजीवाद उतना कमजोर साबित नहीं हुआ जितना मार्क्स या रोज़ा लुज्जेमबर्ग ने सोचा था। उपभोक्तावाद ने मांग में अभूतपूर्व वृद्धि करके पूंजीवाद को नया जीवन दे दिया। सेवा क्षेत्र के विकास ने भी पूंजीवाद को बचाया।
- (iv) राज्य के अत्यधिक शक्तिशाली होने से क्रांति की संभावना समाप्त हो गई।
- (v) वर्ग संघर्ष का सिद्धांत कॉर्पोरेट पूंजीवाद, वर्ग सहयोग, कल्याणकारी राज्य, मध्य वर्ग के विस्तार आदि कारणों से अप्रासंगिक होने लगा। नारीवाद, रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष आदि के तीव्र होने के कारण नए प्रकार के संघर्ष आरंभ हुए। इसके अतिरिक्त, आर्थिक शोषण के समानांतर तकनीकी प्रभाव आदि ने नवमार्क्सवादी विचारकों को नए सिरे से विश्लेषण करने के लिये प्रेरित किया।
- (vi) मार्क्स के समय से ही कई मार्क्सवादियों ने समाजवाद के लिये मार्क्सवादी पद्धति की कमियों की ओर इशारा करना आरंभ कर दिया था। एडवर्ड बर्नस्टीन जैसे विचारक इसी वर्ग के थे। इन्होंने हिंसक क्रांति को गैर-अनिवार्य घोषित किया; राष्ट्रवाद और समाजवाद के बीच संवाद स्थापित किया। 20वीं सदी की स्थितियों ने भी यही साबित किया।
- (vii) लोक-कल्याणकारी राज्य ने भी प्रभाव पैदा किया। मजदूरों की समस्याओं का समाधान होना आरंभ हुआ। लेबर कोर्ट इत्यादि ने भी सहायता दी। इससे मजदूर वर्ग का लोकतंत्र में विश्वास बनने लगा। नॉर्वे, स्वीडन जैसे लोकतांत्रिक देशों में हुए विकास ने यही प्रमाणित किया।

- (viii) सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशों के पतन के बाद रही सही कसर भी पूरी हो गई। सोवियत शक्ति के कारण कई देश सुरक्षा चक्र में शामिल थे। उसके टूटने पर वह सुरक्षा भी समाप्त हो गई।
- (ix) कई समाजवादी व्यवस्थाओं में हिंसा इतनी अधिक होती रही कि लोगों का व्यवस्था पर विश्वास कम होने लगा। पोल पोट आदि शासकों का शासन इस दृष्टि से विशेष रहा। फिर, धर्म के निषेध के कारण आम आदमी के आध्यात्मिक असंतोष का असर भी साम्यवाद की स्थिति पर पड़ा।

4. वर्तमान स्थिति:

यह जरूरी हो गया था कि दोनों विचारों में समन्वय हो। मार्क्सवाद के उद्देश्यों का आर्थिक तत्त्व लेकर, सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता की सकारात्मक धारणा, आर्थिक वितरण-न्याय आदि धारणाओं से संपन्न होकर जब लोकतंत्र की व्यवस्था नए रूप में उभरी तो लोक-कल्याणकारी राज्य का स्वरूप सामने आया। लोकतंत्र ने इसे वैयक्तिक स्वतंत्रता, राजनीतिक समानता तथा धार्मिक स्वतंत्रता जैसे विचार दिये तो मार्क्सवाद ने सामाजिक न्याय, आर्थिक समता तथा धर्मनिरपेक्षता जैसे विचार। यहीं आकर पूंजीवादी लोकतंत्र तथा समाजवादी तानाशाही के वाद-प्रतिवाद में संवाद हुआ, जिसे 'लोकतांत्रिक समाजवाद' या 'समाजवादी लोकतंत्र' कहा गया।

नवमार्क्सवाद (Neo-Marxism)

नवमार्क्सवाद मार्क्सवादी दर्शन का एक नवीन रूप है जो मुख्यतः बीसवीं शताब्दी में विकसित हुआ है, हालाँकि इसके मूल विचार युवा मार्क्स के लेखों में उपलब्ध होते हैं। नवमार्क्सवाद उस विचारधारा को कहते हैं जो पारंपरिक मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष और क्रांति के सिद्धांत को अधिक प्रासंगिक नहीं मानती तथा बदली हुई परिस्थितियों में मनुष्य के जीवन पर पूंजीवाद के प्रभावों का सूक्ष्म विश्लेषण करती है। मनुष्य की सृजनात्मकता और अलगाव जैसे विचार इसके केंद्रीय विचार हैं। इस विचारधारा के समर्थकों में प्रमुख हैं—एंटोनियो ग्राम्शी, लुई आल्थ्यूज़र, एरिक फ्रॉम, हर्बर्ट मारक्यूज़, जर्गेन हैबरमास, जॉर्ज ल्यूकाच, थियोडोर एडोर्नो, मैक्स हाखाइमर और जीन पॉल सार्त्र।

ग्राम्शी और लुई आल्थ्यूज़र ने अपना विश्लेषण इस बिंदु पर केंद्रित किया कि पूंजीवादी व्यवस्था अपने स्थायित्व को कैसे बनाए रखती है। ग्राम्शी ने प्राधान्य (Hegemony) की संकल्पना प्रस्तुत की जिसमें उसने बताया कि पूंजीवादी वर्ग अपना प्राधान्य दो संस्थाओं—नागरिक समाज (Civil Society) तथा राज्य (State) के माध्यम से बनाए रखता है। नागरिक समाज के अंतर्गत वे सभी संस्थाएँ शामिल हैं जो समाज की विचारधारा निर्मित करती हैं, जैसे शिक्षा संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ तथा परिवार आदि। ये सभी संस्थाएँ व्यक्ति को वही मूल्य सिखाती हैं जो व्यवस्था के पक्ष में होते हैं, न कि विरोध में। इसका परिणाम यह होता है कि सभी व्यक्ति आदतन पूंजीवादी मानसिकता से सोचने लगते हैं जबकि उनके जीवन की स्थितियाँ इसके विपरीत होती हैं। ग्राम्शी ने इसे द्वैत मानसिकता (Dual Mindset) भी कहा। जब नागरिक समाज की संस्थाएँ यह कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर पाती तो राज्य अपनी दमनात्मक शक्ति का प्रयोग करता है और किसी भी विद्रोह अथवा क्रांति को बर्बरतापूर्वक कुचल देता है। आल्थ्यूज़र ने नागरिक समाज को राज्य का विचारधारात्मक यंत्र (Ideological State Apparatus) कहा जबकि राज्य को दमनात्मक यंत्र (Coercive State Apparatus) कहा। इन दोनों के विश्लेषण का महत्व यह है कि इन्होंने मार्क्स के मिथ्या चेतना (False Consciousness) के सिद्धांत को विस्तृत रूप से समकालीन स्थितियों से जोड़ा और शोषण के सूक्ष्म रूपों की पहचान की।

एरिक फ्रॉम, हर्बर्ट मारक्यूज़, हैबरमास तथा सार्त्र ने पूंजीवादी समाज के अंतर्गत मनुष्य की सृजनात्मकता और उस पर विद्यमान खतरों का विश्लेषण किया। एरिक फ्रॉम मूलतः मनोवैज्ञानिक है, इसलिये उसने मजदूर

या निम्न वर्ग की मनोवैज्ञानिक स्थितियों की समीक्षा की। अपनी पुस्तकों 'The Sane Society' और 'The Art Of Loving' में उसने बताया कि पूंजीवादी प्रणाली से संबद्ध व्यक्ति सृजनात्मक कार्य नहीं कर पाते, इसलिये उनमें अलगाव और अकेलापन पैदा होता है। यह केवल भौतिक अकेलापन नहीं है बल्कि नैतिक अकेलापन भी है क्योंकि स्वस्थ मानवीय संबंध इसमें पूर्णतः अनुपस्थित होते हैं। यह स्थिति इतनी खतरनाक है कि हर मनुष्य एक प्रकार के सिजोफ्रेनिया से ग्रस्त हो जाता है। इससे मुक्ति का उपाय यही है कि व्यक्ति अपने उत्पादन संबंधों से भिन्न कुछ ऐसे कार्य करे जिसमें उसकी रचनात्मकता और सहज भावनाएँ व्यक्त होती हों। एरिक फ्रॉम ने एक नये मानव-केंद्रित और प्रकृतिवादी धर्म का भी विचार दिया क्योंकि वह इस बात को समझता था कि धार्मिकता वह मानसिक शक्ति है जो मनुष्य को सभी संकटों से बाहर निकालने में सक्षम है। इसलिये पारंपरिक धर्म की अस्वीकृति के बावजूद उसने धार्मिकता को स्वीकारा।

मार्क्यूज़ वह विचारक है जिसने समकालीन पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न किये गए उपभोक्तावाद का विस्तृत विवेचन किया है। अपनी पुस्तक 'एकआयामी मनुष्य' (One Dimensional Man) में उसने कहा कि वर्तमान श्रमिकों का संकट न तो कम वेतन है और न ही काम की अमानवीय दशाएँ। कल्याणकारी लोकतंत्र और श्रमिक आंदोलनों के कारण मजदूरों का आय तथा कार्य-स्थितियाँ प्रायः बेहतर हुई हैं। इन बेहतर स्थितियों की उपयोगिता यह होनी चाहिये थी कि कामगार अपनी सृजनात्मक या रचनात्मक स्वतंत्रता का प्रयोग करते किंतु उत्तर-औद्योगिक पूंजीवाद ने इलैक्ट्रॉनिक मीडिया का प्रयोग करते हुए व्यक्ति की उपभोग इच्छाओं को असीमित रूप से बढ़ा दिया है। इच्छाओं का यह विस्फोट इतना तीव्र और भयानक है कि व्यक्ति अपनी परिभाषा अपने उपभोग-स्तर से ही करने लगा है। वह निरंतर नई-नई भौतिक इच्छाओं का दास बनता है और यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। विडंबना तो यह है कि न केवल वह अपनी रचनात्मक स्वतंत्रता खो चुका है बल्कि उसे यह समझ भी नहीं है कि उसकी रचनात्मकता खो गई है।

सार्त्र ने 1960 ई० में अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद की ओर प्रस्थान किया हालाँकि मार्क्सवादी हो जाने के बावजूद अस्तित्ववादी विचारों को उसने पूर्णतः छोड़ा नहीं। उसके दर्शन में अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद का समन्वय दिखता है। उसका मत है कि न केवल पूंजीवाद बल्कि औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा मशीनों के तीव्र विकास ने मनुष्य और उसकी रचनात्मकता के महत्त्व को कम कर दिया है। यह अमानवीयकरण की प्रक्रिया पूंजीवाद के अंतर्गत अधिक है क्योंकि पूंजीपति अपने व्यक्तित्व की आज़ादी के लिये मजदूरों को निरंतर ऐसी स्थितियों में रखता है कि उनकी रचनात्मकता खो जाती है।

जुर्गेन हैबरमास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैधता संकट' (Legimitation Crisis) में बताया कि आज का मनुष्य साधन और साध्य के अंतर को भूल चुका है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है और उसकी तर्कबुद्धि मनुष्य के विकास का माध्यम मात्र है। तर्कबुद्धि का प्रयोग करते हुए उसने बहुत सी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संरचनाएँ निर्मित की हैं किंतु धीरे-धीरे अब उसकी तर्कबुद्धि इन संरचनाओं के विकास तक ही सीमित हो गई है। मूल मानवीय प्रश्नों से वह असंबद्ध है। जब तक मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि से मूल प्रश्नों की वैधता का संकट नहीं सुलझाएगा, तब तक वह खुद साधन ही बना रहेगा और उसके द्वारा निर्मित संरचनाएँ साध्य बनी रहेंगी।

इस प्रकार नवमार्क्सवादी विचारकों ने आज के मनुष्य और उसकी रचनात्मकता तथा अलगाव जैसे संकटों को समकालीन पूंजीवाद के परिदृश्य में विश्लेषित किया है। इस विश्लेषण की उपयोगिता यह है कि इसने अमेरिकी और यूरोपीय मनुष्यों के सामने उत्पन्न हो रहे मनोवैज्ञानिक संकटों के समाधान का वैज्ञानिक नज़रिया प्रस्तुत किया है। इन विचारों की सीमा यह है कि एशियाई और अफ्रीकी देशों की मूल समस्या से ये नहीं जुड़ पाते क्योंकि इन देशों में गरीबी और शोषण इतना अधिक है कि मानव की रचनात्मक स्वतंत्रता का विचार भविष्यगामी प्रतीत होता है।

साम्यवाद/मार्क्सवाद की सीमाएँ (Limitations of Communism/Marxism)

सैद्धांतिक सीमाएँ		व्यावहारिक सीमाएँ	
1.	एक तरफ मार्क्स परिवर्तन को नित्य कहता है तो दूसरी ओर साम्यवाद में परिवर्तनों का रुकना स्वीकार करता है।	1.	राज्य की शक्तियाँ अत्यधिक बढ़ चुकी हैं, अतः क्रांति की संभावना अब प्रायः शून्य है।
2.	मार्क्स का भौतिकवाद आर्थिक निर्धारणवाद का शिकार है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य के विकास के शुरुआती समय में आर्थिक से ज्यादा महत्व भौगोलिक, जैविक और पर्यावरणीय कारकों का रहा होगा (एम.एन.रॉय)।	2.	जहाँ-जहाँ क्रांति हुई, वहाँ भी साम्यवाद की अवस्था नहीं आ पाई।
3.	अधिशेष मूल्य का सिद्धांत गलत है क्योंकि संपूर्ण उत्पादित मूल्य श्रमिक को दे देने पर किसी भी प्रकार का विकास संभव नहीं रहेगा (एम.एन. रॉय)।	3.	मार्क्स ने मध्य वर्ग को महत्त्व नहीं दिया परंतु अब यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है (बर्नस्टीन, एम.एन. रॉय)।
4.	मार्क्स ने साम्यवाद में विशेषीकरण को अस्वीकार किया है किंतु वैज्ञानिक-तकनीकी दृष्टि से अत्यंत उच्च इस अवस्था का बिना विशेषीकरण के चलना असंभव प्रतीत होता है।	4.	कॉरपोरेट पूंजीवाद ने क्रांति की संभावनाएँ समाप्त कर दी हैं क्योंकि पूंजी शेर के रूप में होती है और लाखों व्यक्ति एक ही कारखाने के मालिक हैं। यहाँ तक कि कई मजदूर भी कुछ शेर खरीदकर मालिक हो जाते हैं। अतः क्रांति कौन और किसके विरुद्ध करेगा, यह स्पष्ट ही नहीं हो सकता।
5.	साम्यवाद में राज्य का अस्तित्व नहीं होगा तो वैश्विक व्यवस्था किस प्रकार कार्य करेगी, यह मार्क्स ने स्पष्ट नहीं किया है।	5.	कल्याणकारी राज्य तथा लोकतंत्र के कारण क्रांति की आवश्यकता ही नहीं बची है।
6.	खूनी संघर्ष चाहे जितना भी अनिवार्य प्रतीत हो किंतु नैतिक दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता।	6.	मार्क्सवादी राज्यों से भी समाजवाद समाप्त होता जा रहा है, जैसे सोवियत संघ, हंगरी इत्यादि।
7.	मार्क्स ने चेतना को पूर्णतः भौतिक स्थितियों पर निर्भर बना दिया जबकि सच यह है कि विचार भौतिक स्थितियों से उत्पन्न होने के बावजूद अपने अस्तित्व के लिये स्वायत्त होते हैं। स्थितियाँ बदलने के बाद भी कोई विचार हजारों वर्षों तक जीवित रह सकता है। (एम.एन. रॉय)	7.	जिन देशों में समाजवाद स्थापित हुआ, वहाँ भी समानता स्थापित नहीं हो पाई। आर्थिक विषमता तो कम हुई किंतु राजनीतिक विषमता बढ़ गई।
8.	उत्तर-आधुनिकतावाद में प्रत्येक विचारधारा को एकांगी मानकर 'विचारधारा के अंत' का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद भी अप्रासंगिक है। यह खंडन मूलतः जीन फ्राँसिस ल्योतार, डेनियल बैल आदि ने किया है।	8.	मार्क्स के अनुसार क्रांति उन देशों में होनी थी जहाँ पूंजीवाद का चरम विकास हुआ हो, लेकिन क्रांति उन देशों में हुई जहाँ पूंजीवाद का विकास नहीं के बराबर था, जैसे रूस व चीन।
9.	द्वंद्वत्मक पद्धति का प्रयोग केवल विचारों के जगत् में किया जा सकता है, भौतिक जगत् में उसका प्रयोग निरर्थक है जिसे सिर्फ दृष्टांत के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है (एम.एन. रॉय)।	9.	1960 के बाद कई ऐसी नवीन समस्याएँ उठीं जिन्हें मार्क्सवादी नजरिये के अंतर्गत सुलझाना आसान नहीं था। उदाहरण के लिये, लिंग-भेद, नस्ल-भेद और जाति-भेद का खंडन मार्क्सवाद के भीतर पूर्णतः नहीं किया जा सकता है। इन आंदोलनों ने मार्क्सवाद के विचारधारात्मक दावे को कमजोर किया।
10.	मार्क्स यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि सर्वहारा वर्ग में वर्ग चेतना कैसे पैदा होती है। रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग के अनुसार यह चेतना मजदूरों में अपने आप पैदा होनी चाहिये जबकि लेनिन और जॉर्ज ल्यूकाच ने माना कि कुछ विशेष व्यक्तियों (बुद्धिजीवियों) के माध्यम से ही यह संभव हो पाएगा।		
11.	धर्म में निहित शक्तियों को मार्क्स ने नगण्य मान लिया, इसलिये उसका सही मूल्यांकन नहीं कर पाया।		

माक्सवाद की प्रासंगिकता (*Relevance of Marxism*)

सामान्य रूप से माना जाता है कि माक्सवाद अब प्रासंगिक नहीं रहा क्योंकि सोवियत संघ का पतन हो चुका है, चीन जैसे देश माक्सवादी आवरण के बावजूद भीतर ही भीतर पूंजीवादी प्रणाली स्वीकार कर चुके हैं, पूर्वी यूरोप का समाजवाद नष्ट हो चुका है और शेष देशों में भी माक्सवाद की उपस्थिति नहीं के बराबर है। जहाँ-जहाँ समाजवाद विद्यमान है, वह भी उदार लोकतंत्र से इतना घुलमिल चुका है कि उसमें माक्सवादी तेवर कम, उदारवादी तेवर ज़्यादा नज़र आते हैं। भारत जैसे देश इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं जहाँ का संविधान 'समाजवाद' का दावा करता है किंतु जहाँ की अर्थव्यवस्था नव-उदारवाद के सिद्धांतों पर टिक चुकी है।

पारंपरिक माक्सवाद की प्रासंगिकता अब कम है, यह स्वीकार करना सचमुच आवश्यक है। वर्ग संघर्ष और खूनी क्रांति जैसी अवधारणाएँ आज उपयोगी प्रतीत नहीं होतीं। वर्गों में धुवीकरण वैसा नहीं हुआ जैसा माक्स ने सोचा था। उच्च वर्ग का आकार पहले से बढ़ा ही है और मध्य वर्ग तो सबसे बड़ा वर्ग बन गया है। निगमीकृत पूंजीवाद (Corporate Capitalism) ने मजदूर को पूंजी का अंशधारक बनाकर बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग के अंतर ही समाप्त कर दिये हैं। मजदूरों का वेतन बढ़ा है, कार्य दशाएँ सुधरी हैं, सामाजिक सुरक्षा बढ़ी है और राजनीतिक हस्तक्षेप की उनकी क्षमता में खासा इजाफा हुआ है। लोक कल्याणकारी राज्य ने ट्रेड यूनियन आंदोलन के साथ मिलकर यह संभव कर दिया है कि बिना हिंसक क्रांति के समाजवाद के उद्देश्य पूरे हो जाएँ। इतना ही नहीं, यदि कोई वर्ग संघर्ष करना भी चाहे तो यह संभव नहीं रहा है क्योंकि चरम पूंजीवादी देशों में राज्य के पास ऐसे हथियार हैं कि वह किसी भी क्रांति को पूरी तरह कुचल सकता है।

किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि अब माक्सवाद प्रासंगिक नहीं रहा। वर्तमान समय में इसकी प्रासंगिकता के कारण कुछ दूसरे हैं, जिन्हें इस प्रकार देखा जा सकता है-

1. आज के समय में माक्सवाद की प्रासंगिकता पूंजीवाद की नई विसंगतियों का पहचान करने में है। हर्बर्ट मारक्यूज़ ने अपनी पुस्तक 'एक आयामी मनुष्य' (One Dimensional Man) में पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न उपभोक्तावादी मानसिकता का इसी आधार पर खंडन किया। इसी प्रकार एरिक फ्रॉम ने बताया कि पूंजीवाद श्रमिकों को उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व से कैसे अलग कर देता है।
2. वर्तमान माक्सवाद बताता है कि ऊपर से लोक-कल्याणकारी दिखने वाला राज्य अपनी भीतरी संरचना में किस प्रकार दमनकारी होता है। एंटोनियो ग्राम्शी और लुई आल्थूज़र ने अपने विश्लेषण में बताया है कि राज्य पहले वैचारिक साधनों से सभी व्यक्तियों की मानसिकता को नियंत्रित करता है और जब ऐसा नहीं हो पाता है, तब यह दमनकारी शक्ति का प्रयोग करता है।
3. आज का माक्सवाद वर्तमान संस्कृति, मीडिया और बाज़ार के अंतर्संबंधों का सूक्ष्म विश्लेषण करता है। प्रसिद्ध माक्सवादी चिंतक फ्रेडेरिक जेमेसन ने अपनी पुस्तक "उत्तर आधुनिकता: वृद्ध पूंजीवाद का सांस्कृतिक तर्क" में बताया है कि उत्तर-औद्योगिक अर्थव्यवस्था ने जिस नई भूमंडलीय संस्कृति को जन्म दिया है, वह कैसे अपनी मूल प्रकृति में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की चेतना से युक्त है।
4. माक्सवाद किसी भी प्रकार के शोषण और दमन के विरुद्ध है। आज का माक्सवाद लगातार इस बात की पहचान करता है कि विश्व में किन-किन वर्गों के साथ शोषण और दमनकारी व्यवहार हो रहा है। उपनिवेशवाद, लिंग भेद, नस्लभेद और 'डिजिटल डिवाइड' जैसे सभी मुद्दों पर माक्सवाद ने वंचित समूहों का पक्ष लिया है।
5. यह कहना भी संभव नहीं है कि वर्ग संघर्ष और क्रांति की धारणाएँ पूरी तरह अप्रासंगिक हो गई हैं। आज भी कई देशों में आर्थिक समता के लिये सशस्त्र विद्रोह माक्सवादी प्रेरणा से हो रहे हैं। भारत के कई राज्यों में पनपता हुआ 'नक्सलवाद' और नेपाल का 'माओवाद' इस बात के प्रमाण हैं कि समानता की स्थापना के लिये आज भी माक्सवादी संघर्ष की विधि प्रचलित है।

6. मार्क्सवाद समकालीन विश्व के समक्ष उभरते हुए संकटों का भी गहरा विश्लेषण कर रहा है। उसने बताया है कि नाभिकीय और जैविक हथियारों का संकट केवल पूंजीवाद की अधिक लाभ कमाने की प्रेरणा के परिणाम हैं क्योंकि पूंजीवाद में हथियारों को एक उद्योग माना जाता है न कि समस्या। इसी प्रकार, पर्यावरण संकट का संबंध किस प्रकार पूंजीवाद की अति-उपभोगवादी प्रवृत्ति से है, और अल्प-विकसित देशों को इसकी कीमत न चुकानी पड़े-ये पक्ष भी मार्क्सवादी चिंता में शामिल हैं।

वस्तुतः कोई भी विचारधारा कुछ मूल्यों पर टिकी होती है और कुछ नियमों या सिद्धांतों को प्रस्तावित करती है। समय और स्थितियाँ बदलने से कई बार वे नियम या सिद्धांत खंडित हो जाते हैं जो उस विचारधारा ने प्रस्तावित किये थे। ऐसी स्थिति में भी वे मूल्य अप्रासंगिक नहीं हो जाते जिनके लिये नियमों या सिद्धांत का निर्माण किया गया था। आज के समय में वर्ग संघर्ष और क्रांति के विचार चाहे ज़्यादा प्रासंगिक न रहे हों पर मूल्यों के स्तर पर मार्क्सवाद तब तक प्रासंगिक रहेगा जब तक दुनिया में किसी भी प्रकार का शोषण और दमन होता रहेगा।

मार्क्सवाद के अन्य पक्ष (Other Aspects of Marxism)

साम्यवाद की स्वतंत्रता से संगति नहीं है— टिप्पणी

साम्यवाद पर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि उसकी स्वतंत्रता की धारणा से संगति नहीं है। यह विचार सीमित रूप से ठीक होते हुए भी साम्यवादी विचारधारा का न्यायोचित मूल्यांकन नहीं कर पाता।

साम्यवाद की धारणा है कि मनुष्य को स्वतंत्रता तभी मिलती है जब समाज में वर्ग विभाजन न हो और मनुष्य प्रकृति से भी स्वतंत्र हो चुका हो। पूंजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा क्रांति के पश्चात् सर्वहारा की तानाशाही स्थापित होती है जिसमें किसी भी व्यक्ति को वैयक्तिक स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। इस समय साम्यवादी दल सर्वाधिकारवादी शासन-तंत्र के रूप में कार्य करता है और अभिव्यक्ति, धार्मिक और व्यवसाय तथा विचरण आदि की स्वतंत्रताएँ भी अनुपलब्ध हो जाती हैं। महात्मा गांधी, एम.एन. रॉय और लास्की जैसे दार्शनिकों ने इसी संदर्भ में साम्यवाद को वैयक्तिक स्वतंत्रता से असंगत बताया है।

किंतु, साम्यवादी सिद्धांत का सूक्ष्म विश्लेषण बताता है कि यह मूल्यांकन पर्याप्त नहीं है। इस दर्शन के अनुसार समाजवाद या सर्वहारा की तानाशाही सिर्फ संक्रमणशील अवस्था है जिसके बाद साम्यवाद का आना तय है। साम्यवाद में न राज्य होगा, न वर्ग विभाजन और न ही शोषण पैदा करने वाली कोई भी विचारधारा या संस्था। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि व क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और उसे उसकी ज़रूरतों के अनुसार उपलब्धियाँ प्राप्त होंगी। मनुष्यों की रचनात्मक क्षमता की सर्वोच्च उपलब्धि इसी व्यवस्था में दिखाई देगी।

स्पष्ट है कि साम्यवाद सैद्धांतिक रूप से व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अपना उद्देश्य मानता है किंतु इस व्यावहारिक सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि जो समाजवाद मानव समाज ने देखा है, वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता से असंगत है।

टिप्पणी: 'बहुतों को स्वतंत्र करने के लिये कुछ को कैद करने से साम्यवाद का आरंभ हुआ और बाद में उसने कुछ की सुरक्षा के लिये बहुतों को बेड़ी पहना दी।'

उत्तर: समाजवादी क्रांति का उद्देश्य था कि यदि पूंजीपतियों को मार दिया जाएगा या कैद कर लिया जाएगा तो समाज का बहुसंख्यक वर्ग आजाद हो जाएगा। यह वास्तविक आजादी होगी क्योंकि निजी संपत्ति खत्म होने पर वितरणमूलक न्याय सुनिश्चित हो जाएगा। कुछ पूंजीपतियों की स्वतंत्रता का निषेध इस उद्देश्य के लिये गलत नहीं माना जा सकता क्योंकि साध्य पवित्र होने से साधन न्यायोचित हो जाता है। फिर, किसी शोषक का शोषण करना यँ भी अन्यायपूर्ण नहीं है।

धीरे-धीरे सोवियत संघ व अन्य समाजवादी राज्यों में देखा गया कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही वस्तुतः साम्यवादी दल या पोलित ब्यूरो (Polit Bureau) की तानाशाही बनकर रह गई। समाज इनके विरुद्ध होता गया। आर्थिक विषमता का स्थान राजनीतिक विषमताओं ने ले लिया। यह सब इस नाम पर हुआ कि साम्यवाद लाने के लिये संक्रमण काल से गुजरना जरूरी है। संक्रमण के नाम पर जनसाधारण की सारी स्वतंत्रताएँ स्थगित हो गईं। विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही नहीं, जीवन की स्वाधीनता भी साम्यवादी दल के हाथों में नियंत्रित हो गई। जिन लोगों ने इस तानाशाही का विरोध किया, उन्हें जेलों में ठूस दिया गया और सभी मानवाधिकारों से वंचित किया गया। रूस में स्टॉलिन ने लाखों को मारा तो कंबोडिया में पोल पोट ने लाखों हत्याएँ कीं। यहाँ आकर लगने लगा कि मार्क्सवादी देशों में समाजवाद के नाम पर समाज को बेडियाँ पहनाई जा रही हैं। चीन की थ्येन-ऑन-मन चौक की घटना भी यह साबित करती है कि साम्यवादी दल की तानाशाही को बचाने के लिये हजारों लोकतंत्र समर्थकों को कुचल दिया गया।

यही कारण है कि मार्क्सवादी देशों में जनता का मार्क्सवाद से मोहभंग होता चला गया। पूंजीवादी देशों में उपलब्ध व्यक्तिगत स्वतंत्रता की चाहत इन देशों में तेजी से बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप 1988 के बाद पहले सोवियत संघ, फिर पूर्वी यूरोपीय समाजवाद के गढ़ ढहते गए। जिन देशों में समाजवाद बचा रहा, वे भी जनता को स्वतंत्रता जैसे अधिकार देने को मजबूर हो गए।

आदर्श समाजवादी राज्य में व्यक्ति का महत्त्व— टिप्पणी

समाजवादियों ने व्यक्ति के महत्त्व को अलग-अलग नज़रिये से देखा है। इस संबंध में मार्क्सवादियों तथा लोकतांत्रिक समाजवादियों की राय भिन्न है।

मार्क्सवादियों का मानना है कि व्यक्ति को मानवोचित महत्त्व साम्यवाद में ही मिलता है। पूंजीवादी मानवीय इतिहास, वर्ग विभाजित समाजों का इतिहास होता है जहाँ अंतहीन शोषण के कारण शोषित वर्ग के सदस्य अपने व्यक्तित्व को नहीं जी पाते। वे अलगाव, बाज़ार के नियमों तथा शोषण तंत्र के शिकार हो जाते हैं। समाजवाद में सर्वहारा की तानाशाही है किंतु व्यक्तिगत स्वतंत्रता सामूहिक हितों की उपलब्धि के लिये स्थगित रखी जाती है। व्यक्ति को असली महत्त्व साम्यवाद में मिलता है जहाँ वह धर्म, राज्य, विशेषीकरण, अलगाव, शोषण इत्यादि से मुक्त होकर पूर्ण सृजनात्मकता के साथ जीवन जीता है।

लोकतांत्रिक समाजवादियों का दावा है कि वर्ग संघर्ष और क्रांति न संभव हैं और न ही जरूरी। लोकतंत्र के विकास से समाजवाद की उपलब्धि हो सकती है और उसमें व्यक्ति को तात्त्विक समानता व स्वतंत्रता उपलब्ध होगी। राज्य बाज़ार के नियमों पर इतना नियंत्रण रखेगा कि यह उच्च वर्ग के हित साधन के लिये निम्न वर्ग के शोषण का माध्यम न बन जाए। व्यक्ति की स्वतंत्रता सापेक्ष व सीमित होगी, उसकी बुनियादी जरूरतों की पूर्ति अवश्य होगी और उसे सामूहिक उद्देश्यों की परिधि के भीतर उद्यमशीलता, सृजनात्मकता व धनार्जन का मौका भी मिलेगा।

उदारवादियों का आक्षेप है कि समाजवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुचल देता है। इसके उत्तर में समाजवाद का तर्क है कि उदारवाद कुछ व्यक्तियों की पूर्ण स्वतंत्रता के लिये बहुसंख्य व्यक्तियों को वस्तु बना देता है जबकि हम सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व प्रदान करते हैं—उतना ही, जितना सभी को मिल सके।

क्रांति के बारे में सिद्धांत बनाने से अच्छा है क्रांति करना— टिप्पणी

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में लगभग सभी दार्शनिकों ने क्रांति के सिद्धांत दिये हैं क्योंकि वहाँ के समाज में अक्सर क्रांतियाँ घटती रही हैं। कुछ ने क्रांति रोकने के उपाय बताए हैं तो कुछ ने क्रांति के पक्ष में विचार दिये हैं।

2. मार्क्स ने प्रैक्सिस (Praxis) की धारणा दी। इसका तात्पर्य है कि दार्शनिकों का काम सिर्फ जगत् की व्याख्या करना नहीं बल्कि उसे बदलना भी है। वह चिंतन निरर्थक है जो व्यवहार में परिणत न हो।
3. इसी संकल्पना के अनुसार मार्क्स ने बताया कि क्रांतियाँ सामाजिक परिवर्तन की मोटर (motor) हैं। परिवर्तन हमेशा निम्न से उच्च स्तर की ओर होता है। पूंजीवादी अवस्था तक शोषक वर्ग किसी न किसी प्रकार शोषण की व्यवस्था बनाए रखता है। यह व्यवस्था वैश्विक हिंसक क्रांति से ही टूट सकती है। अतः सभी प्रगतिशील व्यक्तियों का दायित्व बनता है कि वे सिर्फ क्रांति की बात न करें बल्कि क्रांति में सहायक हों। मध्य वर्ग मजदूरों को उनकी वर्गीय स्थिति समझाने में सहायक हो सकता है ताकि वे वर्ग चेतना से भर उठें।
4. क्रांति का होना निश्चित है। जो लोग मजदूरों के पक्ष में नहीं हैं, वे पूंजीपतियों के सहायक समझे जाएंगे क्योंकि मार्क्सवाद तटस्थता या मध्यम मार्ग को नहीं स्वीकारता। जो शोषित के पक्ष में नहीं हैं उनके साथ वही व्यवहार होगा जो शोषकों के साथ होगा। ये मुख्यतः वही बौद्धिक लोग हैं जो क्रांति का सिद्धांत बनाते हैं। इस अर्थ में भी क्रांति का सिद्धांत बनाने से बेहतर है क्रांति करना।

लेनिन का मार्क्सवाद (Lenin's Marxism)

मार्क्स के सैद्धांतिक मार्क्सवाद को व्यावहारिक रूप तब मिला जब लेनिन ने 1917 में तत्कालीन सोवियत संघ में क्रांति की और क्रांति के पश्चात् साम्यवादी दल की तानाशाही स्थापित की। चूँकि व्यावहारिक स्तर पर यह पहला मार्क्सवादी प्रयोग था, इसलिये स्वाभाविक रूप से लेनिन को यह आवश्यकता महसूस हुई कि वह मार्क्सवाद को स्थितियों के अनुरूप ढाले। उसने अपने विचार तीन पुस्तकों में प्रस्तुत किये—“साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की चरम अवस्था”, “राज्य और क्रांति”, “What is to be done”।

लेनिन ने पारंपरिक मार्क्सवाद में निम्नलिखित संशोधन किये—

1. यह आवश्यक नहीं है कि क्रांति पूंजीवाद के चरम विकास के बाद ही हो। क्रांति किसी भी देश में हो सकती है। शर्त मात्र इतनी है कि वहाँ शोषण तंत्र की शृंखला कमजोर होनी चाहिये। जिन देशों में पूंजीवाद विकसित नहीं हुआ है, वहाँ भी शोषण तंत्र कमजोर होने पर क्रांति हो सकती है।
2. क्रांति पूरे विश्व में एक साथ हो, यह भी आवश्यक नहीं है। समाजवाद का आगमन सभी देशों में उनकी स्थितियों के अनुसार ही हो सकता है।
3. अल्पविकसित देशों में साम्राज्यवाद ही पूंजीवाद का रूप है। अतः उन देशों में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को क्रांति ही माना जाएगा।
4. राज्य की आवश्यकता तब तक बनी रहेगी जब तक पूरे विश्व में साम्यवाद स्थापित न हो जाए।
5. क्रांति केवल मजदूरों के माध्यम से संभव नहीं होगी। उसमें कृषकों और सैनिकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होगी।
6. मार्क्स ने माना था कि मजदूरों में वर्ग-चेतना स्वतः पैदा होगी क्योंकि चेतना भौतिक स्थितियों से खुद उत्पन्न होती है। मजदूर वर्ग लंबे समय तक शोषण की परिस्थितियों में रहने के कारण स्वतः उस चेतना का विकास करता है जो उसे अपने वर्गीय हितों की पहचान कराती है। इसके विपरीत, लेनिन ने माना कि सामान्य सर्वहारा में इतनी बौद्धिक क्षमता नहीं होती। उसने साम्यवादी दल की स्थापना की जो न केवल क्रांतिकारी वर्ग चेतना का निर्माण करेगा बल्कि क्रांति के पश्चात् तानाशाही भी इस दल द्वारा ही संचालित होगी।

कुछ समीक्षकों का मत है कि लेनिन ने मार्क्स को जितना स्वीकारा है, उससे कहीं अधिक मार्क्सवाद को खारिज कर दिया है। यहाँ तक कहा गया है कि जिस प्रकार मार्क्स ने हीगेल को सिर के बल खड़ा कर दिया, वैसे ही लेनिन ने मार्क्स को सिर के बल खड़ा कर दिया। किंतु, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मार्क्स ने अपने दर्शन को परिस्थितिनिरपेक्ष कभी नहीं माना। उसने अपने आरंभिक विचारों जैसे-अलगाव आदि को आगे चलकर वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत में रूपांतरित तो किया ही, बल्कि लोकतंत्र के विकास को देखते हुए 1872 के आसपास यह भी स्वीकार किया कि अमेरिका, इंग्लैंड और हॉलैंड जैसे देशों में क्रांति की अनिवार्यता नहीं है। संभवतः यदि वह खुद वास्तविक क्रांति की स्थितियों में होता तो वही परिवर्तन करता जो लेनिन ने किये। इस रूप में लेनिन मार्क्सवाद का खंडन नहीं बल्कि तार्किक विस्तार करता है।

माओ का मार्क्सवाद (Mao's Marxism)

माओ-त्से-तुंग चीन के मार्क्सवादी नेता थे जिन्होंने 1949 ई. में जनवादी क्रांति (People's Revolution) की। इन्होंने पारंपरिक मार्क्सवाद के कई सिद्धांतों में संशोधन किया और लेनिन के कई विचारों को भी पलट दिया। इन्होंने पाँच पुस्तकें लिखीं जिनमें से दो काफी चर्चित हुईं- 'On Contradictions' तथा 'On Practice'।

माओ के मार्क्सवादी विचारों में प्रमुख इस प्रकार हैं-

1. माओ ने बुर्जुआ वर्ग का विरोध नहीं किया। उसने क्रांति के पश्चात् स्पष्ट घोषणा की कि जनवादी चीन की व्यवस्था चार वर्गों के सहयोग से चलेगी-कृषक, मजदूर, पैटी बुर्जुआ तथा राष्ट्रीय बुर्जुआ।
2. माओ के अनुसार क्रांति का अनिवार्य संबंध पूंजीवाद के चरम स्तर से नहीं है। उसने कृषक क्रांति पर अधिक बल दिया क्योंकि तत्कालीन चीनी अर्थव्यवस्था मूलतः कृषि अर्थव्यवस्था पर टिकी हुई थी।
3. माओ ने 'सांस्कृतिक क्रांति' (Cultural Revolution) का नारा दिया। उसने कहा कि उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व में आ जाना ही पर्याप्त नहीं है। विचारों व मूल्यों के स्तर पर जनवाद को स्थापित करना ज़रूरी है। वास्तविक समाजवाद या जनवाद तब आएगा जब समाज के सांस्कृतिक मूल्य जनवादी हो जाएंगे।
4. माओ ने निरंतर क्रांति (Continuous Revolution) का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उसने कहा कि क्रांति एक घटना नहीं बल्कि लंबे समय तक चलने वाली प्रक्रिया है। क्रांति का अर्थ समाज में उन मूल्यों को स्थापित कर देना है जो जनवादी मानसिकता को संभव बनाते हैं। इस कार्य में लंबा समय लगेगा क्योंकि शोषक-शोषित संघर्ष के बाद भी संघर्ष खत्म नहीं होंगे, सिर्फ उनकी प्रकृति बदल जाएगी। प्रगतिशील और प्रगतिविरोधी, विकसित तथा अविकसित विचारों का द्वंद्व बना रहेगा। जब तक ये द्वंद्व समाप्त न हों, तब तक राज्य का अस्तित्व ज़रूरी है क्योंकि राज्य के अभाव में यह प्रक्रिया विफल हो जाती है। यह संक्रमण काल कई शताब्दियों तक भी चल सकता है।
5. माओ ने मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद में समन्वय किया। उसने लेनिन से आगे बढ़ते हुए दावा किया कि राष्ट्रवादी हितों को मार्क्सवाद के नाम पर छोड़ा नहीं जा सकता।

मानववाद (Humanism)

परिचय

जैसा कि मानववाद नाम से ही स्पष्ट है, यह वह दर्शन है जिसमें मानव तथा उसकी समस्याओं के विवेचन को केंद्र में रखा जाता है यद्यपि समकालीन मानववाद सिद्धांततः तथा घोषित रूप से धर्म तथा परलोक जैसी धारणाओं के खिलाफ है, किंतु मानव केंद्रित विचारों की परंपरा बहुत पुरानी है। अतः मानववाद एक विकासशील दार्शनिक वैचारिक परंपरा है, जिसका प्रारंभ मानव को केंद्र में लाने से हुआ और वर्तमान तक आते-आते उसने एकमत से मानवेंतर पारलौकिक जगत् का निषेध करना भी अपने सिद्धांतों में शामिल कर लिया। मानववाद में मानवीय जीवन, मानव की गरिमा और मानव हित को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार चिंतन की कोई भी विधी, प्रणाली या क्रिया जिसका संबंध मानव हित से हो मानववाद कहलाता है।

ऐतिहासिक विकास

मानववाद के सामान्य रूप से दो भाग किये जा सकते हैं - 'धर्मसंगत मानववाद' (Religious Humanism) और 'धर्मविरोधी मानववाद' (Anti-religious Humanism)। 'धर्मसंगत मानववाद' (Religious Humanism) का साधारण अर्थ है- वह मानववाद, जो सामान्य प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त धर्म का निषेध नहीं करता हो या भावात्मक रूप से, धर्म पर आधारित होने के कारण ही मानववादी विचार को स्वीकार करता हो। विश्व में ऐसे अनेक धर्म हैं जो मानव के कल्याण की बात करते हैं, जैसे- बौद्ध धर्म, प्रोटेस्टैन्ट धर्म आदि। ये इसी परंपरा में शामिल किये जा सकते हैं।

धर्मविरोधी मानववाद (Anti-religious Humanism) ही समकालीन मानववादी दर्शन का आधार है। इसकी परंपरा का आरंभ प्रोटेगोरस (Protegorus) से हुआ जिनका स्पष्ट कहना था कि "मानव ही समस्त वस्तुओं का मापदंड है (Man is the Measure of all things)। इनकी धारणा थी कि "जहाँ तक देवताओं का संबंध है, मेरे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि उनका अस्तित्व है या नहीं। यह प्रश्न अत्यंत रहस्यपूर्ण तथा हमारा जीवन बहुत थोड़ा है।" अज्ञेयवादी दार्शनिक (Agnostic Philosopher) होने के कारण प्रोटेगोरस किसी भी अलौकिक सत्ता को अस्वीकार करते थे।

प्रोटेगोरस की भाँति अन्य बहुत से विचारक भी मानववादी विचारधारा का समर्थन करते थे जिन्हें सॉफिस्ट्स (Sofists) कहा जाता था। ये विचारक घूम-घूम कर मानव की मूल समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते थे। इनके अतिरिक्त कई भौतिकवादी विचारक, जैसे- हिराक्लिटस, डेमोक्रीटस, थेल्स आदि भी किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं रखते थे और विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण (Materialistic view) से ही मनुष्य की समस्याओं पर विचार करते थे।

यूरोप का अंधकार-युग (Dark Age) तो मानववादी चिंतन के एकदम विपरीत ईश्वर तथा धर्म पर आधारित आस्थाओं को प्रश्रय देता रहा, किंतु चौदहवीं शताब्दी में यूरोप के पुनर्जागरण के साथ ही मानव ने पुनः स्वतंत्र चिंतन एवं तर्क के महत्त्व को समझना प्रारंभ किया।

पुनर्जागरण काल के पश्चात् कॉपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन, डार्विन आदि महान वैज्ञानिकों के अनुसंधानों के फलस्वरूप यूरोप में जो वैचारिक क्रांति हुई उसने मानववादी दर्शन के लिये आधारभूत परिस्थितियाँ तैयार कीं। डार्विन तथा उनके सहयोगियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य का जन्म और विकास भी जैविक प्राकृतिक प्रक्रिया का ही परिणाम है, ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति ने उसकी रचना नहीं की। मानव भी उसी प्रकार प्रकृति का एक अंग है जिस प्रकार अन्य सभी प्राणी हैं।

इस मज़बूत पृष्ठभूमि के आधार पर पिछली दो शताब्दियों में मानववाद का दर्शन अपने पूर्णतः विकसित रूप में स्थापित हुआ है। इस विचार को सैद्धांतिक आधार देने में जॉन ड्यूवी, कोलिस लामोंट, मार्क्स, स्पेंसर, बेंथम, मिल, बरट्रैंड रसेल, जार्ज सेन्टायना, जे.पी. सात्र, मानवेंद्र नाथ राय, जवाहरलाल नेहरू आदि विचारकों का प्रत्यक्ष तथा महत्वपूर्ण योगदान है।

ग्रीक मानववाद (Greek Humanism)

मानववाद यूँ तो 19वीं-20वीं शताब्दी में विकसित हुआ आधुनिक दर्शन है किंतु इसके आरंभिक सूत्र ग्रीक युग में दिखते हैं। सोफिस्ट परंपरा के दार्शनिक जैसे प्रोटागोरस व गोर्जियस तो इसके महत्वपूर्ण समर्थक थे ही; डिमोक्रैटस, ल्यूसिपस, थेल्स व हेराक्लाइटस जैसे विचारक भी अपनी भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा के कारण आंशिक रूप से इस परंपरा में शामिल होते हैं।

सोफिस्ट दार्शनिकों ने प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा को स्वीकार किया जिसका अर्थ है उसी ज्ञान को प्रामाणिक मानना जिसकी प्राप्ति ऐंद्रिक अनुभव से होती है। इन्होंने पारलौकिक सत्ताओं को ज्ञान की सीमा से परे माना व अज्ञेयवाद का सिद्धांत दिया। प्रोटागोरस का कथन है कि ईश्वर या अन्य अलौकिक सत्ताओं का ज्ञान मानवीय अनुभव से परे है, अतः उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये सभी विचार आधुनिक मानववाद से सुसंगत हैं।

तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से कई अन्य दार्शनिकों ने भौतिकवाद का समर्थन किया है। सोफिस्ट विचारक प्रत्यक्षवादी होने के कारण स्वाभाविक रूप से पारलौकिक सत्ताओं का खंडन करते हैं। डिमोक्रैटस, ल्यूसिपस, हेराक्लाइटस हैं तो बुद्धिवादी किंतु भौतिकवाद को स्वीकारते हैं जो मानववाद से सुसंगत है।

नीतिमीमांसीय दृष्टिकोण से भी मानववाद के आरंभिक सूत्र ग्रीक विचारधारा में दिखाई देते हैं। प्रोटागोरस का कथन है 'होमो मेन्सुरा' (Homo Mensura) अर्थात् 'मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदंड है' जिसका अर्थ है कि वही नियम नैतिक माने जा सकते हैं जो मानव के हित में हों।

स्पष्ट है कि ग्रीक दर्शन में मानववाद के बीज दिखाई पड़ते हैं। किंतु, यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ग्रीक मानववाद कुछ मामलों में आधुनिक मानववाद से भिन्न है क्योंकि इसकी ज्ञानमीमांसा व नीतिमीमांसा में जो आत्मनिष्ठता व अनिश्चयात्मकता है, उसे आधुनिक मानववादी विज्ञान से प्रभावित होने के कारण स्वीकार नहीं करते हैं।

मानववाद का दर्शन (Philosophy of Humanism)

उपरोक्त विवेचन के बाद अब हमें यह विचार करना चाहिये कि मानववाद के मूल सिद्धांत क्या-क्या हैं? इसे समझने के लिये हम इन सिद्धांतों को तीन आधारों पर देख सकते हैं - ज्ञानमीमांसा (Epistemology), तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) और आचारमीमांसा (Ethics)।

ज्ञानमीमांसा

मानववाद की ज्ञानमीमांसा (Epistemology) मूलतः मानवीय अनुभव (Experience) और तर्कबुद्धि (Reason) पर आधारित है। जो अनुभव से परे है, वह मनुष्य के लिये अज्ञेय है, अतः उसके अस्तित्व तथा स्वरूप के विषय में वह निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकता। इसी आधार पर मानववादी ईश्वर, आत्मा आदि सभी अलौकिक शक्तियों के अस्तित्व का निषेध करते हैं।

इसका अर्थ यही है कि मानववादी दार्शनिक व्यापक अर्थ में प्रत्यक्ष (Perception) को ही मानव के ज्ञान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विश्वसनीय प्रमाण समझते हैं। वे अनुमान, शब्द और ज्ञान के अन्य प्रमाणों को

केवल उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जिस सीमा तक ये प्रमाण मूलतः प्रत्यक्ष पर ही आधारित होते हैं। इसी कारण मानववाद की ज्ञानमीमांसा में मानवीय अनुभव (Human Experience), तर्कबुद्धि (Reason), विज्ञान (Science) तथा वैज्ञानिक विधियों (Scientific methods) का विशेष महत्त्व है।

तत्त्वमीमांसा

तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) की दृष्टि से मानववाद मूलतः प्रकृतिवाद (Naturalism), भौतिकवाद (Materialism), विकासवाद (Evolutionism) तथा निरीश्वरवाद (Atheism) को ही स्वीकार करता है।

मानववाद के अनुसार विश्व की अंतिम सत्ता ईश्वर या कोई अन्य अलौकिक तत्त्व न होकर प्रकृति (Nature) ही है। प्रकृति निरंतर परिवर्तनशील है और जड़ तथा चेतन इसी प्रकृति के रूप हैं जिन्हें हम समस्त भौतिक वस्तुओं, पेड़-पौधों और प्राणियों में देख सकते हैं। यह प्रकृति कोई दैवी शक्ति नहीं, अपितु समस्त निर्जीव वस्तुओं तथा सजीव प्राणियों की समग्रता है। अन्य सभी वस्तुओं और प्राणियों की तरह मनुष्य भी इसी प्रकृति का अंग है जिससे पृथक् हम उसके अस्तित्व और विकास की कल्पना ही नहीं कर सकते। यह प्रकृति स्वयंभू (Self Existing) तथा स्वचालित है, ईश्वर ने इसकी रचना नहीं की और न ही वह इसका संचालन एवं नियमन करता है।

मानववादियों का विश्वास भौतिकवाद (Materialism) में है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि सृष्टि का अंतिम तत्त्व कोई आध्यात्मिक सत्ता न होकर भौतिक पदार्थ (Matter) ही है। कुछ विशेष प्राकृतिक परिस्थितियों के संयोग से इसी भौतिक पदार्थ से जीवन या चेतना (Consciousness) का उदय और विकास हुआ है। जनन और विकास की दृष्टि से मानव अन्य प्राणियों से अलग नहीं है किंतु उसकी विकसित बुद्धि उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है। इसी कारण मानव ने प्राणी जगत् में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है।

मानववाद ईश्वरवाद (Theism) का भी स्पष्ट शब्दों में खंडन करता है। इसके लिये तर्क यही है कि हम ईश्वर को तर्कबुद्धि, अनुभव तथा वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियों से नहीं जान सकते हैं। इसी तर्क के आधार पर उन्होंने ईश्वर के साथ-साथ आत्मा की अमरता, अवतारवाद, पुनर्जन्म के सिद्धांत, चमत्कारों की संभावना और स्वर्ग-नरक के अस्तित्व संबंधी विचारों का भी खंडन किया है।

आचार-मीमांसा

मानववाद की आचार-मीमांसा (Ethics) भी काल्पनिक अलौकिक शक्तियों के निषेध पर ही आधारित है। इसे कुछ बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है:

1. मानव को अपनी शक्तियों पर भरोसा रखना चाहिये। उसे जीवन की समस्याओं के समाधान के लिये अपनी तर्कबुद्धि (Reason) पर ही आश्रित रहना चाहिये। इसके लिये काल्पनिक अलौकिक शक्तियों का अवलंब खोजना गलत है।
2. मानव के जीवन का लक्ष्य स्वयं अपने कल्याण के साथ-साथ संपूर्ण मानवजाति (Humanity) का कल्याण भी है जिसके लिये उसे यथासंभव प्रयास करना चाहिये। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयास करते समय मनुष्य को किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता, जाति, लिंग, वर्ण आदि को आधार नहीं बनाना चाहिये।
3. मानववाद कला, संस्कृति, साहित्य आदि सभी गतिविधियों को प्रोत्साहन देता है जिससे मानव जीवन में सर्वांगपूर्णता (Totality) तथा सौंदर्यमयता (Aesthetic Quality) आ सके। मानववादी दर्शन के अनुसार, मानव केवल पाशविक या मूल प्रवृत्तियों से ही संचालित नहीं होता है बल्कि मनुष्य में बुद्धि, विवेक तथा कल्पना शक्ति भी है जिनके द्वारा मानव की रचनात्मक वृत्तियाँ संचालित होती हैं।
4. अंतर्राष्ट्रीयतावाद (Internationalism) तथा विश्व-बंधुत्व (Universal brotherhood) मानववाद के मूल आदर्श हैं जिनकी प्राप्ति के लिये वह मनुष्य को प्रेरित करता है। “वसुधैव कुटुंबकम्” के इस प्राचीन

आदर्श पर आधारित मानववाद विश्व में प्रचलित सभी धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक उदार तथा व्यापक दृष्टि से मानव जीवन की समस्याओं पर विचार करता है। इसके अनुसार, स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और विश्व-शांति जैसे महान आदर्शों के अनुरूप आचरण करके ही संपूर्ण मानव-जाति निरंतर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सकती है। इस महान लक्ष्य के लिये मनुष्य की अपनी तर्कबुद्धि ही उसका मार्ग प्रशस्त कर सकती है, कोई अलौकिक शक्ति नहीं।

5. मानववाद गौतम बुद्ध के इस उपदेश को स्वीकार करता है कि “आत्मदीपोभव” – अर्थात् “तुम अपने प्रकाश स्वयं बनो।” इस प्रकार मानववाद की आचारमीमांसा मानव को निराश, भयभीत एवं परावलंबी न बनाकर उसे जीवन के प्रति आशावादी, निर्भय तथा स्वावलंबी बनाती है और साथ ही संपूर्ण मानव जाति की सर्वांगीण उन्नति के लिये उसे प्रेरित करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानववाद मूलतः एक मानव-केंद्रित दर्शन (Human Centred Philosophy) है जो अलौकिक या अतिप्राकृतिक शक्तियों के स्थान पर स्वयं मनुष्य के ही अनुभव और तर्कबुद्धि को सर्वाधिक महत्त्व देता है और मानव-जाति के भाग्य-निर्माण के लिये केवल मानव को उत्तरदायी मानता है।

प्रमुख मानववादी विचारक (Important Humanist Thinkers)

(क) जॉन ड्यूवी का प्रकृतिवादी मानववाद

जॉन ड्यूवी का संबंध बीसवीं शताब्दी के मानववाद से है। इन्होंने 1934 ईस्वी में अपने मानववादी दृष्टिकोण को “ए कॉमन फेथ” (A Common faith) नामक पुस्तक में स्पष्ट किया। इसकी पृष्ठभूमि यह थी कि 1929 ईस्वी में आई विश्वव्यापी आर्थिक मंदी (The great depression) ने अमेरिका और यूरोप के आम आदमी को यह समझा दिया था कि ईश्वर जैसी कोई सत्ता मनुष्य की रक्षा नहीं कर सकती बल्कि मनुष्य स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ है। 1933 ईस्वी में मंदी के समाप्त होने पर ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदायों ने भी अलौकिक सत्ताओं का विरोध किया। इस पृष्ठभूमि में जॉन ड्यूवी ने अपने सिद्धांत को प्रस्तुत किया।

जॉन ड्यूवी के मानववाद के मूलभूत सिद्धांत वही हैं जिन्हें हमने मानववाद शीर्षक के अंतर्गत पढ़ा है। इसके अतिरिक्त उनके कुछ विशेष विचार इस प्रकार हैं:

1. कोई भी धर्म सर्वव्यापक और सर्वमान्य नहीं हो सकता, इसलिये धर्म के माध्यम से विश्व में एकता स्थापित नहीं हो सकती और प्रत्येक मानव को समुचित महत्त्व नहीं मिल सकता। इसलिये अलौकिकता पर आधारित धर्मों का निषेध आवश्यक है।
2. अलौकिक शक्तियों पर आधारित धर्म इसलिये भी निरर्थक है क्योंकि वर्तमान वैज्ञानिक युग में वह विश्वसनीय नहीं है। जैसे-जैसे विज्ञान मूलभूत प्रश्नों को सुलझा रहा है वैसे-वैसे अलौकिक विश्वास खंडित हो रहे हैं। विलक्षण घटनाओं और चमत्कारों की वैज्ञानिक व्याख्या होने लगी है। अतः उनके आधार पर अब कोई अलौकिक धर्म नहीं टिक सकता।
3. अलौकिक या अधिदैविक धर्म इसलिये भी निरर्थक हैं कि वे प्रायः समय के अनुसार परिवर्तनीय नहीं हैं। इस कारण वे नए और विकासशील लौकिक विचारों का निषेध करते हैं।
4. इसके बावजूद प्रत्येक धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति में एक ऐसी मनोवृत्ति (Attitude) पाई जाती है जिसे धर्मनिष्ठता (Religiousness) कहा जा सकता है। यह एक वांछनीय मनोवृत्ति है जो महान उद्देश्य सामने होने से व्यक्ति में प्रगट होती है। अलौकिक धर्म का विरोध करते हुए भी इस धर्मनिष्ठता (Religiousness) को बचाए रखना और उसे धर्मनिरपेक्ष (Secular) तथा सार्वभौमिक (Universal) उद्देश्यों की ओर प्रेरित करना वांछनीय है।

5. इस आधार पर एक मानववादी धर्म (Humanistic Religion) का विकास किया जा सकता है जो प्रकृति को अंतिम सत्ता मानेगा, प्रत्येक मानव को समान और स्वतंत्र मानेगा तथा एक ऐसा धर्मनिरपेक्ष लक्ष्य सामने रखेगा जिसके प्रति समर्पित होकर प्रत्येक मानव अपनी क्षमताओं का पूर्ण विकास कर सके।

(ख) लेमोंट का प्रकृतिवादी, जनतांत्रिक मानववाद

कोलिंग्स लेमोंट अमेरिकी मानववादी दार्शनिक हैं जिन्होंने जॉन ड्यूवी के मानववाद से प्रभावित होकर अपने सिद्धांत की व्याख्या की। उन्होंने अपनी पुस्तक “द फिलॉसफी ऑफ ह्यूमनिज़्म” (The Philosophy of Humanism) में अपनी मानववादी धारणाओं को व्यक्त किया है। यह दर्शन सामान्य रूप से उन्हीं विशेषताओं से युक्त है जिन्हें हमने मानववाद की विशेषताओं में पढ़ा है। संक्षेप में, इनके विचार इस प्रकार हैं:

1. सृष्टि की अंतिम सत्ता प्रकृति है जो अपने नियमों से संचालित होती है। किसी भी अधिदैविक सत्ता को सत्य मानना निरर्थक है।
2. मनुष्य का विकास, विकासवाद (Evolutionism) की प्रक्रिया में हुआ है।
3. देह (Body) से परे कोई आत्मा (Soul) नहीं है। इस लोक से परे कोई ईश्वर नहीं है इसलिये नियतिवाद (Fatalism) जैसे सिद्धांत भ्रामक हैं।
4. प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अधिकार है और यह विकास पूर्ण रूप से तभी हो सकता है जब वह समाज के अन्य सदस्यों के हित में भी साधक हो। अतः मानववाद अनिवार्यतः सामाजिक हित में व्यक्ति की भूमिका को रेखांकित करता है।
5. मानववाद मानवीय जीवन की गुणात्मकता में वृद्धि करने के लिये कला, साहित्य और संस्कृति का विकास भी करना चाहता है।
6. लेमोंट के अनुसार मानववाद के दर्शन का व्यवहारिक वैश्विक रूप विश्वजनतंत्र (Global Democracy) है जो अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से ही संभव है। इस बिंदु पर मानववाद (Humanism) साम्यवाद (Communism) से अलग हो जाता है, क्योंकि साम्यवाद मानववादी दर्शन होने के बावजूद सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of proletariat) को स्वीकार करता है।

(ग) नेहरू का वैज्ञानिक मानववाद

भारत के समकालीन दार्शनिकों में प. नेहरू का एक महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। नेहरू भी मानववाद के सामान्य सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं और उनके सिद्धांत को वैज्ञानिक मानववाद (Scientific Humanism) कहा जाता है। इसकी विशेषताएँ सामान्यतः वही हैं जो हमने मानवतावाद शीर्षक में पढ़ी हैं। उनके कुछ विशेष विचार इस प्रकार समझे जा सकते हैं -

1. वर्तमान आधुनिक युग में दो आदर्श सबसे महत्वपूर्ण हैं मानवता (Humanity) तथा वैज्ञानिकता (Scientificity)। मानवता वर्तमान समय के दर्शनों का उद्देश्य है और वैज्ञानिकता हमारी चिंतन प्रक्रिया का आदर्श। जब हम इन दोनों को मिला देते हैं तो वैज्ञानिक मानववाद (Scientific Humanism) का जन्म होता है।
2. वैज्ञानिक मानववाद अपनी वैज्ञानिक मान्यताओं के अनुसार तर्क और अनुभव पर आधारित वैज्ञानिक प्रविधि (Scientific Method) को ही ज्ञान का प्रमाण मानता है और इस रूप में सभी पारलौकिक सत्ताओं का निषेध करता है।
3. वैज्ञानिक मानववाद पारलौकिकता पर आधारित धर्मों को वैज्ञानिकता और मानवता के खिलाफ मानता है। नेहरू स्पष्ट कहते हैं कि इन धर्मों ने विश्व के विकास और शांति में कम तथा युद्ध और कलह में अधिक योगदान दिया है। इस बिंदु पर नेहरू महात्मा गांधी से काफी अलग हो जाते हैं।

- वैज्ञानिक मानववाद स्पष्टतः मानता है कि चेतना का विकास जड़ से हुआ है तथा मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति में शारीरिक तथा बौद्धिक विकास (Physical and Intellectual e~volution) की प्रक्रिया से पहुँचा है। इस प्रकार नेहरू भौतिकवाद (Materialism) तथा प्रकृतिवाद (Naturalism) को स्वीकारते हैं और पुनः गांधी जी के चिंतन से अलग हो जाते हैं जो कि प्रत्ययवादी (Idealist) तथा ईश्वरवादी (Theist) चिंतक रहे हैं।
- नेहरू का वैज्ञानिक मानववाद कई बिंदुओं पर साम्यवाद (Communism) से सहमत होते हुए भी तानाशाही (Dictatorship) से सहमत नहीं है तथा जनतांत्रिक मूल्यों (Democratic Values) में विश्वास रखता है। इस दृष्टि से वे मानववाद की साम्यवादी परंपरा से अलग होकर जनतांत्रिक मानववाद की परंपरा में शामिल हो जाते हैं जिसका संबंध जॉन ड्यूवी तथा लेमॉन्ट के साथ है।
- नेहरू का वैज्ञानिक मानववाद व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के मध्य विवेकपूर्ण संबंध प्रस्तावित करता है। इस दृष्टि से अंतर्राष्ट्रवाद (Internationalism) तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful Co-existence) के सिद्धांत इस दर्शन से जुड़े हैं।
- मानवेन्द्रनाथ राय के समान नेहरू भी मानते हैं कि मानव को अपना विकास वैज्ञानिक और तकनीकी पक्षों के साथ करना चाहिये। उनके अनुसार विज्ञान मनुष्य के बाहरी जीवन में सुविधाएँ पैदा करता है और उसके मस्तिष्क में पहुँचकर वैज्ञानिक मनोवृत्ति (Scientific temper) के रूप में विकास की प्रक्रिया को सरल बनाता है।

मानववाद की सीमाएँ (Limitations of Humanism)

किसी भी दर्शन की कुछ सीमाएँ होती हैं, यही स्थिति मानववाद (Humanism) की भी है। ये सीमाएँ मुख्यतः इस प्रकार हैं:

- मानववाद तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) के स्तर पर प्रकृति को ही अंतिम सत्य मानकर मूलभूत प्रश्नों से नहीं उलझता है तथा सरलीकरण (Simplification) का शिकार हो जाता है।
- केवल प्रत्यक्ष (Perception) को ही ज्ञान का आधार मानने के कारण मानववाद के अंतर्गत ज्ञान का विस्तार काफी कम हो जाता है।
- मानववाद मानव पर आवश्यकता से अधिक बल देता है जबकि मानवेतर जगत् पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाता। इस रूप में यह दर्शन एक प्रकार के पारिस्थितिकीय असंतुलन (Ecological imbalance) को जन्म देता है जिसे ठीक करने के लिये ही बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप के पारिस्थितिकीय दर्शन (Ecological Philosophy) का विकास हुआ।
- मानववाद सामान्य व्यक्ति को वह मनोवैज्ञानिक संतोष (Psychological Satisfaction) नहीं दे पाता जो उसे धर्म (Religion) में मिलता है। इसी कारण यह बौद्धिक व्यक्तियों के काम की वस्तु भले हो, सामान्य व्यक्ति तक इसकी पहुँच नहीं है।
- मानववाद व्यक्ति की बुद्धि पर तो पूर्णतः विश्वास करता है किंतु उसके भावनात्मक पक्षों (Emotional Aspects) को गैर-महत्वपूर्ण मानकर छोड़ देता है। यह बात आधुनिक मनोविज्ञान (Modern Psychology) के आलोक में सीमा बन जाती है, क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार मानव की जीवन शक्ति उसकी मूल प्रवृत्तियों (Basic Instincts) व भावनाओं (Emotions) में ही निहित है जबकि तर्क और बुद्धि मात्र उसका साधन हैं।

इन सीमाओं के बावजूद मानववाद का महत्व कम नहीं हो जाता है। यूरोप के समाज को अंधकार काल की स्थिति से निकालकर बौद्धिक प्रकाश की स्थिति तक लाने और वैज्ञानिकता, तार्किकता आदि के माध्यम से विश्व के भौतिक विकास को रास्ता दिखाने के कारण यह सिद्धांत मानवीय इतिहास में एक अति महत्वपूर्ण वैचारिक प्रघटना के रूप में स्थान रखता है।

पुनर्जागरण मानववाद (Renaissance Humanism)

मानववाद का विकास लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुआ है। इसका पहला चरण ग्रीक दर्शन में दिखता है और दूसरा चरण पुनर्जागरण काल में। दूसरे चरण को 'पुनर्जागरण मानववाद' कहा जाता है।

पुनर्जागरण आंदोलन 14वीं शताब्दी में इटली से आरंभ हुआ तथा 15वीं व 16वीं सदी में धर्म सुधार आंदोलन के साथ पूरे यूरोप में प्रचलित रहा। कुछ दार्शनिक इसे 'मानववाद' (Humanism) नहीं, 'मानवतावाद' (Humanitarianism) मानते हैं क्योंकि इसमें अलौकिक सत्ताओं को भी महत्त्व दिया गया है। तब भी, यह स्पष्ट दिखता है कि आधुनिक मानववाद के आरंभिक सूत्र पुनर्जागरण मानववाद में ही विद्यमान थे।

पुनर्जागरण आंदोलन के प्रवर्तन तथा प्रसार का श्रेय कई दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों को मिलता है। पेट्रार्क (मानववाद के पिता) पुनर्जागरण आंदोलन के पिता थे। इस मानववाद पर उनका प्रभाव दिखता है। उनके अतिरिक्त मार्टिन लूथर, जॉन कैल्विन, इरेस्मस, मार्सिलियो फिकिनो, मिरांडोला जैसे विचारकों तथा फ्रांसिस बेकन, गैलीलियो आदि वैज्ञानिकों का स्पष्ट प्रभाव भी इस आंदोलन पर रहा है।

पुनर्जागरण मानववाद आधुनिक मानववाद की तरह सीधे-सीधे ईश्वर तथा धर्म का निषेध नहीं करता क्योंकि 14वीं से 16वीं शताब्दी के मध्य की यूरोपीय परिस्थितियों में ऐसा विरोध संभव नहीं था। यहाँ धर्म के भीतर मानव के महत्त्व की स्थापना का प्रयास किया गया; मानव के महत्त्व के लिये धर्म व ईश्वर को खारिज नहीं किया गया। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए पुनर्जागरण मानववाद की ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय तथा नीतिमीमांसीय विशेषताओं का विवेचन किया जा सकता है।

ज्ञानमीमांसा

मानववादी ज्ञानमीमांसा सामान्यतः अनुभववाद या प्रत्यक्षवाद पर आधारित होती है, क्योंकि वैज्ञानिक रूप से किसी भी ज्ञान की प्राप्ति का मूलभूत आधार मानवीय अनुभव ही है। पुनर्जागरण काल में भी कुछ वैज्ञानिकों ने ऐसी ही ज्ञानमीमांसीय मान्यताएँ स्थापित करने का प्रयास किया। गैलीलियो ने कहा- "जो भी मापने योग्य है, उसे माप लो और जो मापने योग्य नहीं है, उसे मापने योग्य बना लो" (Measure what is measurable; and make measurable what is not measurable)। फ्रांसिस बेकन ने भी आनुभविक ज्ञान पर बल दिया और कहा- 'दार्शनिकों का काम मधुमक्खी के समान होना चाहिये'। उसने ज्ञान को शक्ति कहा (Knowledge is Power) व मानववादी ज्ञानमीमांसा में इस बात को जोड़ा कि मानव का संपूर्ण ज्ञान व विकास वैज्ञानिक ज्ञान पर ही निर्भर है।

इसके बाद भी पुनर्जागरण मानववाद की ज्ञानमीमांसा पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं रही। इन विचारकों ने धर्मग्रंथों की प्रामाणिकता को अस्वीकार नहीं किया हालाँकि पोप तथा चर्च द्वारा की जाने वाली धर्मग्रंथों की व्याख्या को अवश्य अस्वीकार किया। मार्टिन लूथर ने स्पष्टतः कहा कि हम केवल मूल ग्रंथ (New Testament) को स्वीकार करेंगे, न कि बाकी व्याख्याओं को। उसने यह घोषणा भी की कि 'प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बाइबिल स्वयं पढ़नी चाहिये।' उसने स्वयं बाइबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया।

तत्त्वमीमांसा

पुनर्जागरण मानववाद अपनी तत्त्वमीमांसा में आधुनिक मानववाद से काफी अलग है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. यह ईश्वर की सत्ता का खंडन नहीं करता हालाँकि इसमें कोशिश की गई है कि ईश्वर को कम महत्त्व दिया जाए ताकि मानव का महत्त्व बढ़ सके। यहाँ ईसा मसीह को ईश्वर या ईश्वरपुत्र न मानकर एक महापुरुष के रूप में महत्त्व दिया गया है। दूसरे शब्दों में, इन चिंतकों ने 'क्रिस्टोलोजी' के स्थान पर 'क्रिस्टोसेन्ट्रिज़्म' पर बल दिया।
2. ईसाई धर्म में प्रकृति या जगत् को ईश्वर से भिन्न तथा निकृष्ट माना जाता है। मानववाद में मानवीय जगत् का महत्त्व बढ़े- यह स्वाभाविक है। इन विचारकों ने भौतिकवादी सिद्धांत तो प्रस्तुत नहीं किया पर जगत् के महत्त्व को बढ़ाया है। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण ब्रूनो के दर्शन में दिखता है जिसने सर्वेश्वरवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया व ईश्वर तथा जगत् को अभिन्न बना दिया।
3. ईसाई धर्म में मनुष्य या आत्मा को ईश्वर की तुलना में निकृष्ट बताया गया है व उसे पापी कहा गया है। पुनर्जागरण मानववाद में मनुष्य को गरिमापूर्ण माना गया व उसकी व्याख्या ईश्वर की संतान के रूप में की गई। फिकिनो का कथन है कि "हे मनुष्य, स्वयं को पहचानो! तुम ईश्वर के वंश का ही अंश हो।"

नीतिमीमांसा

पुनर्जागरण मानववाद की नीतिमीमांसीय मान्यताएँ पुनर्जागरण व धर्मसुधार आंदोलन से ही प्रभावित थीं। इनकी प्रमुख स्थापनाएँ इस प्रकार हैं:

1. मनुष्य मूलतः पापी नहीं अपितु गरिमापूर्ण प्राणी है। वह ईश्वर द्वारा नियंत्रित नहीं बल्कि संकल्प-स्वातंत्र्य से युक्त है। मिरांडोला ने इस बात पर बल दिया व अपने प्रसिद्ध निबंध 'मनुष्य की प्रतिष्ठा में वक्तव्य' (Oration In The Dignity Of Man) में ईश्वर के हवाले से कहा कि मैंने तुम्हें इच्छास्वातंत्र्य दिया है, तुम्हें स्वतंत्र व सर्वश्रेष्ठ बनाया है ताकि तुम स्वयं को अपनी इच्छानुसार निर्धारित करो।
2. पुनर्जागरण मानववाद ने मनुष्य के साथ 'व्यक्ति' की प्रतिष्ठा पर भी बल दिया। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के अनुसार जीने की प्रेरणा दी गई। चर्च का महत्त्व कम करके व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया। इन विचारकों ने प्रोटेस्टेंट धर्म की नींव रखी जिसमें माना गया कि व्यक्ति का सीधा संबंध ईश्वर से है जिसमें चर्च तथा पोप की अनिवार्य भूमिका नहीं है। इन्होंने पोप द्वारा माफी देने के अधिकार का भी खंडन किया। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा यह थी कि मनुष्य भौतिक सुखों पर भी बल दे, उन्हें अलौकिक सुखों के लिये त्याज्य न समझे।
3. पुनर्जागरण मानववाद के अनुसार मनुष्य का शरीर घृणित नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व का बुनियादी आधार है जिसका सम्मान करना चाहिये।
4. इन विचारकों ने धर्म व राजनीति को पृथक करने पर बल दिया जिसका परिणाम आगे चलकर धर्मनिरपेक्षता में दिखाई दिया। इन विचारकों ने धार्मिक सहिष्णुता, धार्मिक समन्वय व सर्वधर्मसमभाव की आवश्यकता को पहचाना क्योंकि उस समय धार्मिक आधार पर संघर्ष हो रहे थे। मिरांडोला ने अपनी पुस्तक 'निष्कर्ष' (Conclusions) में ऐसे धार्मिक आधारों को खोजने का प्रयास किया जो ईसाइयत, इस्लाम, प्लेटोवाद, अरस्तूवाद इत्यादि सभी दार्शनिकों व धार्मिक विचारों में विद्यमान हों ताकि इनमें समन्वय किया जा सके।

मूल्यांकन:

पुनर्जागरण मानववाद का मूल्यांकन दो आधारों पर किया जा सकता है- (i) क्या इसे सचमुच मानववाद कहा जा सकता है, (ii) क्या इसका प्रभाव अच्छा ही पड़ा?

जहाँ तक यह प्रश्न है कि क्या पुनर्जागरण मानववाद सचमुच मानववाद था तो यह मानना ज़रूरी हो जाता है कि इसमें 'मानववाद' (Humanism) से अधिक सूत्र 'मानवतावाद' (Humanitarianism) के दिखाई देते

हैं। मानवतावाद वह दर्शन है जो मनुष्य को महत्त्व देने के साथ-साथ ईश्वर व धर्म को भी स्वीकारता है। इसके बावजूद पुनर्जागरण मानववाद का महत्त्व कम नहीं होता, क्योंकि आधुनिक मानववाद तक पहुँचने के लिये इस चरण को पार करना जरूरी था।

अंतिम प्रश्न है कि पुनर्जागरण मानववाद का परिणाम कैसा रहा? इस संबंध में दो समस्याएँ हैं। पहली यह कि यह पूरे समाज में नहीं फैल पाया, केवल अभिजात या उच्च वर्ग तक ही सीमित रहा। इसके विपरीत, आधुनिक मानववाद का प्रसार पूरे समाज में दिखता है। दूसरी समस्या यह कि यहीं से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की धारणा का विकास हुआ जो आगे बढ़ता गया तथा जिसका खतरनाक परिणाम 20वीं शताब्दी के विश्वयुद्धों में मानव के समक्ष उपस्थित हुआ।

क्या पुनर्जागरण मानववाद को सचमुच मानववाद माना जा सकता है?

पुनर्जागरण मानववाद के संबंध में अक्सर प्रश्न उठता है कि क्या इसे सचमुच मानववाद माना जा सकता है? वस्तुतः मानववाद का जो अर्थ 19वीं-20वीं शताब्दी में विकसित हुआ उससे यह काफी अलग है। समकालीन मानववाद सिर्फ आनुभविक तथा वैज्ञानिक ज्ञान को प्रामाणिक मानता है तथा धार्मिक ग्रंथों को अप्रामाणिक मानता है। इसके विपरीत, पुनर्जागरण मानववाद में वैज्ञानिक ज्ञान के साथ-साथ बाइबिल जैसे धर्मशास्त्रों को भी काफी महत्त्व दिया गया। समकालीन मानववाद निरीश्वरवाद तथा भौतिकवाद को स्वीकार करता है जबकि पुनर्जागरणकालीन विचारकों ने न ईश्वर का निषेध किया, न ही आत्मा का। वे ईश्वरवादी व्याख्या को मानते रहे। जहाँ तक नीतिमीमांसा का प्रश्न है, समकालीन मानववाद अनिवार्य रूप से धर्मनिरपेक्ष व उपयोगितावादी मूल्यों का समर्थक है। इसके विपरीत, पुनर्जागरणकालीन मानववाद में धार्मिक मूल्य प्रभावशाली बने रहे।

इन सभी अंतरों के आधार पर सामान्य निष्कर्ष तो यही निकलता है कि पुनर्जागरणकालीन मानववाद को औपचारिक दृष्टि से मानववाद नहीं माना जा सकता। किंतु, इससे इसका महत्त्व समाप्त नहीं होता। आज हम जिस मानववाद को विकसित रूप में देखते हैं, वह पाँच शताब्दियों की विकास प्रक्रिया का परिणाम है। कोई भी विचारधारा एक दिन में पैदा नहीं होती। वह अपने युग की सामाजिक-वैचारिक स्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया से उपजती है। समकालीन मानववाद प्रत्यक्षवादी और भौतिकवादी इसीलिये हो सका क्योंकि पुनर्जागरण मानववाद के समर्थकों ने धर्म के रूढ़िवादी व परलोकवादी विचारों से टकराते-टकराते उनकी धार काफी कम कर दी है। इसके बाद भी, तकनीकी अर्थ में इसे मानववाद के स्थान पर 'धर्मसंगत मानववाद' या 'मानवतावाद' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

मार्क्सवादी मानववाद (Marxist Humanism)

मार्क्सवाद एक प्रकार का मानववादी दर्शन है। मार्क्स ने स्वयं दावा किया है कि उसका दर्शन वैज्ञानिक तथा मानववादी है। इसकी ज्ञानमीमांसा विज्ञान के मूल्यों पर आधारित है, तत्त्वमीमांसा भौतिकवादी है और नीतिमीमांसा मानव के इहलौकिक विकास को ही केंद्र में रखती है। इन सभी कारणों से मार्क्सवाद को निर्विवाद रूप से मानववाद माना जा सकता है।

मार्क्स ने मानववादी नज़रिये से कुछ विशेष प्रश्नों जैसे अलगाव (Alienation), वस्तुओं की जड़ पूजा (Fetishism of Commodities) इत्यादि पर भी विचार किया जो मुख्यतः उसके आरंभिक लेखन में दिखते हैं। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Political and Economic Manuscripts of 1844' में मार्क्सवाद का मानववादी पक्ष उभर कर आया। 20वीं शताब्दी में जॉर्ज लुकाच, ऐरिक फ्रॉम तथा हरबर्ट मारक्यूज़ जैसे नवमार्क्सवादियों ने भी मार्क्सवाद के मानववादी पक्ष पर ध्यान दिया है।

मार्क्स का मानववादी विचार सबसे पहले वहाँ दिखता है जहाँ वह मानव और प्रकृति के संबंधों की व्याख्या करता है। वह कहता है कि मनुष्य सभ्यता की शुरुआत से ही स्वतंत्र नहीं है क्योंकि यह प्रकृति के नियमों

को मानने के लिये बाध्य रहता है। जब तक मनुष्य प्रकृति का दास बना रहता है तब तक मानवीय इतिहास की अवस्था 'प्रकृतिवादी' कहलाती है। मानवेतर पशु-पक्षी मूल प्रवृत्तियों से ही संचालित होते हैं, इसलिये वे इस अवस्था का अतिक्रमण कभी नहीं करते हैं। किंतु, मानव के पास विवेक क्षमता है जिसके प्रयोग से वह प्रकृति के नियमों का अध्ययन करता है। इस वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर धीरे-धीरे वह प्रकृति को नियंत्रित करने की स्थिति में आ जाता है। यहीं से उसके इतिहास का दूसरा चरण शुरू होता है जिसे 'मानववादी चरण' कह सकते हैं।

पूँजीवाद मानवीय इतिहास की वह अवस्था है जहाँ विज्ञान का विकास काफी मात्रा में हो चुका होता है और प्रकृति पर नियंत्रण भी लगभग स्थापित हो जाता है। किंतु, इस अवस्था में बाह्य प्रकृति के नियंत्रण के बावजूद मानव की आंतरिक प्रकृति के नियंत्रित न होने के कारण मानववाद का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। यह तभी संभव है जब मानव की आंतरिक प्रकृति भी सही नियमों पर आधारित हो।

मानव की मूल प्रकृति पापी होने की (जैसा कि कैथोलिक ईसाई मानते हैं) नहीं है, बल्कि मानव मूलतः एक नैतिक प्राणी है। वह कोई कार्य इसलिये नहीं करता कि यह 'अनिवार्य बुराई' है बल्कि इसलिये करता है कि कार्य करना उसका मूल स्वभाव है। कार्य करने से एक तो उसकी सृजनात्मकता व्यक्त होती है, दूसरे उसे यह संतोष भी मिलता है कि वह समाज के प्रति अपना दायित्व निभा सका है। आदर्श अवस्था में मानव अपने संतोष के लिये काम करता है, न कि मांग और पूर्ति के अमानवीय नियम के आधार पर।

वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter System) की शुरुआत के साथ ही मनुष्य का यह संतोष छिन जाता है, क्योंकि अब कार्य रुचि तथा सृजनशीलता की अभिव्यक्ति का माध्यम न होकर विनिमय (Exchange) का माध्यम बन जाता है। मौद्रिक अर्थव्यवस्था (Monetary Economy) इस अलगाव (Alienation) को और गहरा कर देती है। पूँजीवाद में तो अलगाव का संकट चरम स्तर पर होता है। अतिविशेषीकरण तथा मशीनी उत्पादन प्रक्रिया के कारण मजदूर का अपने कार्य से अलगाव हो जाता है, उत्पादित वस्तु पर कोई नियंत्रण न होने के कारण वह वस्तु से भी अलगावीकृत हो जाता है। वह अन्य मजदूरों व साथियों से भी अलग हो जाता है क्योंकि मांग-पूर्ति का अमानवीय संबंध उन्हें निरर्थक प्रतिस्पर्द्धा में फँसा देता है और सहज मानवीय संबंध छिन लेता है। अन्ततः मजदूर अपनी मानवीय प्रकृति से ही कट जाता है क्योंकि उसकी सृजनशीलता व्यक्त नहीं हो पाती है। अलगाव का शिकार पूँजीपति भी होता है क्योंकि वह भी बाजार के अमानवीय नियमों के अनुसार जीने को बाध्य होता है।

असली मानववाद तभी स्थापित होता है जब मानव बाहरी प्रकृति पर नियंत्रण के साथ-साथ अपनी मानवीय प्रकृति के नियमों के अनुसार जी कर सके। यह साम्यवाद में आकर संभव होता है। यहाँ विशेषीकरण खत्म हो जाता है क्योंकि तकनीक अपने उच्चतम स्तर पर हर किसी के लिये सरल हो जाती है, बाजार के मांग-पूर्ति जैसे दबाव खत्म हो जाते हैं; व्यक्ति अपनी रुचि व क्षमता के अनुसार कार्य करता है तथा जरूरत के अनुसार उसे प्राप्ति होती है। इस अवस्था में धर्म, विवाह, परिवार और राज्य जैसी संस्थाएँ लुप्त हो जाती हैं तथा मानव पूर्ण सृजनात्मकता के साथ जीवन जीता है।

आलोचना

1. मार्क्स ने मानव को एक तरह से प्रकृति का शत्रु बना दिया है। आज के पर्यावरण संकट के दौर में मार्क्सवाद का यह विचार अस्वीकार्य प्रतीत होता है। (कुछ मार्क्सवादियों का दावा है कि मार्क्स ने प्रकृति के शोषण का समर्थन नहीं किया। वह तो कहता है कि मजदूर का अलगाव प्रकृति से भी हो जाता है जिसका तात्पर्य है कि वह मानव और प्रकृति में पारस्परिकता का संबंध देखता है।)
2. मार्क्स ने मनुष्य की प्रकृति को एक-आयामी तरीके से समझा है। यह विचार कि कार्य करना ही मनुष्य का स्वभाव है और वह समाज को योगदान देना चाहता है- हर स्थिति में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

3. मार्क्स के विचारों में मूल समस्या यह है कि उनकी व्यावहारिकता संदिग्ध है। बिना विशेषीकरण के तकनीक का उच्च स्तर कैसे बना रहेगा, बिना राज्य के साम्यवादी व्यवस्था विश्व में कैसे कार्य करेगी—इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मार्क्स के पास नहीं है।

मानववाद तथा धर्म का संबंध

(Relation Between Humanism and Religion)

मानववाद का धर्म से क्या संबंध है—यह एक विवादास्पद प्रश्न है। वस्तुतः आधुनिक मानववाद पारंपरिक धर्मों का विरोधी है किंतु धर्म से संबंधित कुछ विचारकों ने भी स्वयं को मानववादी घोषित किया है। धर्म से संबंध के आधार पर मानववाद के दो प्रकार माने जा सकते हैं— धर्मविरोधी मानववाद व धर्मसंगत मानववाद।

धर्मविरोधी मानववाद आधुनिक मानववादी विचारकों का सिद्धांत है जिसका विकास 19वीं तथा 20वीं सदी में हुआ। इसके समर्थकों ने पारंपरिक धर्मों का कट्टर विरोध किया, क्योंकि पारंपरिक धर्म मनुष्य के अनुभव तथा तर्कबुद्धि पर नहीं अपितु अतार्किक कल्पनाओं पर आधारित होता है। वह मनुष्य को इहलोक का विकास करने की बजाय परलोकवादी बनाता है। शांति व भाईचारे के स्थान पर संप्रदायवादी या मजहबी बनाता है तथा अंधविश्वासों व निर्बौद्धिक आस्थाओं से उसकी चेतना को दूषित कर देता है। इन सभी विचारकों का स्पष्ट मत है कि आधुनिक काल में मनुष्य के विकास की शर्त है कि वह धर्मनिरपेक्षता पर बल दे तथा विज्ञान व इहलौकिकता को जीवन के केंद्र में रखे। इसके समर्थक हैं— ऑगस्ट कॉम्ट, जॉन ड्यूवी, कोलिस लेमॉन्ट, ऐरिक फ्रॉम, कार्ल मार्क्स, जीन पॉल सार्त्र, टी.एच. हक्सले, एम.एन. रॉय तथा जवाहरलाल नेहरू।

विचारकों का एक वर्ग ऐसा है जो मानववाद को धर्म का विरोधी नहीं अपितु धर्म से सुसंगत मानता है। इन विचारकों का मानना है कि विभिन्न धर्मों में मानव के महत्त्व की स्थापना की गई है जिससे प्रमाणित होता है कि धर्म मानववाद से सुसंगत हो सकता है। धर्मसंगत मानववाद में मानव के महत्त्व की दृष्टि से कुछ वर्ग बनाए जा सकते हैं।

पहला वर्ग यहूदी, इस्लाम, ईसाई जैसे सामी व ईश्वरवादी धर्मों का है जिनमें ईश्वर को पूर्ण तथा महानतम सत्ता माना गया है। इनका दावा है कि मनुष्य का कल्याण स्वयं ईश्वर ही करता है। उसी ने मनुष्य को संकल्प स्वातंत्र्य प्रदान किया है। वही मनुष्य के आचरण के अनुसार अंतिम फल प्रदान करता है। अतः मानव का कल्याण धर्म के मार्ग पर चलकर ही हो सकता है, न कि धर्म का विरोध करके। इस विचार में समस्या यह है कि इसमें ईश्वर को ही परम सत्ता माना गया है। इसमें मानव को ईश्वर से निकृष्ट व मूलतः पापी माना गया है। अतः इन धर्मों में न तो मानव का केंद्रीय महत्त्व है, न मानव-जगत् का और न ही मानव के लौकिक उद्देश्यों का। ये मनुष्य के जीवन का उद्देश्य परलोक में खोजते हैं, न कि इहलोक में।

दूसरे वर्ग में वे धर्म आते हैं जिनमें ईश्वर की सत्ता अस्वीकार की गई है, जैसे— बौद्ध, जैन, कंफ्यूशियन धर्म आदि। उनके समर्थकों का मानना है कि ईश्वर को न मानने के कारण ये मनुष्य को केंद्र में रखते हैं व मानव के दुखों को दूर करना ही उनका परम उद्देश्य है। उदाहरण के तौर पर बौद्ध धर्म प्रत्येक मानव के दुखों को दूर करने के उद्देश्य से ही संचालित होता है व कंफ्यूशियन धर्म में भी मानववाद स्पष्टतः विद्यमान है। किंतु, यह विचार भी पूर्णतः स्वीकार्य नहीं है। ये धर्म ईश्वर को भले न मानते हों पर किसी-न-किसी अलौकिक सत्ता या अवस्था को अवश्य मानते हैं। कंफ्यूशियन धर्म आत्मा को, बौद्ध धर्म निर्वाण को तो जैन धर्म दोनों को मानता है। ये मानव के जीवन का उद्देश्य लौकिक सुखों की उपलब्धि नहीं मानते अपितु मोक्ष या निर्वाण जैसे पारलौकिक सुखों को ही महत्त्व देते हैं। अतः मानववाद यहाँ भी कमजोर पड़ जाता है।

तीसरे वर्ग में पुनर्जागरण तथा धर्मसुधार आंदोलन को रखा जाता है जहाँ चिंतकों का उद्देश्य तो मानववादी है किंतु धर्म के बाह्य आवरण को स्वीकार किया गया है। मार्टिन लूथर व जॉन कैल्विन जैसे दार्शनिक इसके

समर्थक हैं। इसमें ईसाइयत में निहित आस्थाओं का तो खंडन नहीं किया गया पर इन्होंने ईसाइयत के इस विचार का जरूर खंडन किया कि 'मनुष्य मूलतः पापी है' व सिद्ध किया कि मनुष्य गरिमामय प्राणी है। जगत् को निकृष्ट मानने के ईसाई सिद्धांत के विरुद्ध ब्रूनो ने जगत् को ईश्वर ही बताया। पर, इस सिद्धांत की भी कई सीमाएँ हैं। यद्यपि इन दार्शनिकों का उद्देश्य मानववाद की स्थापना करना ही था पर ये ईश्वर तथा अलौकिक आस्थाओं से मुक्त नहीं हो सके। तब भी, पारंपरिक धर्मों में निहित मानववाद की तुलना में यहाँ मानववाद अधिक स्पष्टता से दिखता है।

चौथे वर्ग में वे आधुनिक मानववादी शामिल हैं जो धर्म के पारंपरिक स्वरूप के कट्टर विरोधी हैं तथा जिन्हें धर्मविरोधी मानववाद की परंपरा में ही शामिल किया जाता है। इनमें से कुछ ने एक नए प्रकार के मानववादी धर्म की स्थापना का प्रयास किया जिसे 'मानववादी धर्म' या 'प्रकृतिवादी धर्म' कहा गया। इसके समर्थकों का दावा है कि हर पारंपरिक धर्म में दो तत्त्व होते हैं- मिथकीय पक्ष तथा धर्मनिष्ठता की भावना। मिथकीय पक्ष बाह्य होता है जो धर्मों के आपसी विरोध का कारण होता है। धर्मनिष्ठता की भावना अति उच्च व महान भावना होती है जो महान उद्देश्य को सामने पाकर व्यक्ति में पैदा होती है तथा व्यक्ति उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपने सुख-दुख की भावना से ऊपर उठकर अपनी सभी चेतन-अचेतन शक्तियों को एकत्र करके प्रतिबद्धतापूर्वक कार्य करता है। इन विचारकों के अनुसार, यदि परंपरागत धर्मों में निहित बाह्य पक्ष या मिथकीय पक्ष को हटा दिया जाए व उनमें निहित धर्मनिष्ठता की भावना को वैज्ञानिक व मानववादी सिद्धांतों के साथ जोड़ दिया जाए तो ऐसा धर्म बन जाता है जो मानवता के पक्ष में हो, न कि विरोध में।

किंतु, यह विचार भी कुछ दृष्टियों से सीमित है। यह मानने में कोई समस्या नहीं है कि मानववादी धर्म पूर्णतः मानववाद से सुसंगत है किंतु समस्या इसे 'धर्म' मानने में ही है। लगभग 150 वर्षों से चल रहे प्रयासों के बावजूद आज तक यह जनसामान्य में धर्म का स्थान नहीं ले सका है। एक विचारधारा के रूप में ही इसकी प्रसिद्धि है। यह वह संतोष, सुरक्षा, संवेगात्मक आनंद व आश्रय दे ही नहीं पाता जिसकी अपेक्षा साधारण व्यक्ति धर्म से करता है।

स्पष्ट है कि यद्यपि ऐतिहासिक रूप से मानववाद का विकास धर्म से सुसंगत रहते हुए ही हुआ है किंतु, आधुनिक मानववाद व पारंपरिक धर्म के बीच सुसंगति नहीं है। पारंपरिक धर्म के समर्थक स्वयं को मानववादी सिद्ध करने का कितना भी प्रयास करें पर सच यही है कि उनकी दार्शनिक मान्यताओं में मानव केंद्र में नहीं, हाशिए पर है। आधुनिक मानववाद जिस प्रकार के धर्म की स्थापना करता है, उसे धर्मसंगत मानववाद कहा जा सकता है किंतु यहाँ धर्म का अर्थ पूर्णतः बदल गया है।

समाजवादी मानववाद (Socialist Humanism)

समाजवादी मानववाद मानववाद का विशिष्ट प्रकार है जो समाजवादी विचारधारा पर आधारित है। मानववाद का अर्थ है वह दर्शन जो मानवीय हित को केंद्र में रखकर सम्पूर्ण व्याख्याएँ करे। मानववाद की व्याख्या जब समाजवादी दृष्टि से की जाती है तो इसमें व्यक्ति के स्थान पर समाज का और सामाजिक जीवन के शेष पक्षों की तुलना में आर्थिक पक्ष का केंद्रीय महत्त्व होता है।

समाजवादी मानववाद के मुख्यतः दो प्रकार हैं- मार्क्सवादी मानववाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद पर आधारित मानववाद। पहले के समर्थकों में मार्क्स और एंजल्स प्रमुख हैं तो दूसरे के समर्थकों में बर्नस्टीन व नेहरू। दोनों में बुनियादी मान्यताओं को लेकर सहमति है, जैसे दोनों मानते हैं कि मानव का समग्र विकास मूलतः आर्थिक विकास पर ही आधारित है। दोनों आर्थिक क्षेत्र में मुक्त बाजार के स्थान पर मानवीय आवश्यकताओं के आधार पर वितरणमूलक न्याय सुनिश्चित करना चाहते हैं। दोनों व्यक्तिगत संपत्ति को समानता के विकास में बाधक मानते हैं व दोनों के अनुसार प्रत्येक समर्थक व्यक्ति को श्रम के आधार पर ही जीवन जीने का अधिकार मिलना चाहिये। दोनों में विज्ञान व तकनीक के माध्यम से मानवीय हितों की अभिवृद्धि करना,

इहलौकिक दृष्टिकोण पर बल देना तथा शिक्षा व स्वास्थ्य जैसे अवसरों में निम्न वर्ग की अधिकारिता बढ़ाना वांछनीय माना गया है।

इतनी समानताओं के बावजूद मार्क्स की धारा कुछ मायनों में नेहरू व बर्नस्टीन की धारा से भिन्न है। मार्क्स का स्पष्ट मत है कि सच्चा मानववाद तभी आएगा जब हिंसक क्रांति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कुछ समय तक स्थापित रहेगी। वह वर्गों में सिर्फ विरोध का संबंध देखता है। इसके विपरीत, बर्नस्टीन व नेहरू ने लोकतंत्र तथा कल्याणकारी राज्य के विकास को देखते हुए माना है कि समाजवादी मानववाद वर्ग सहयोग से भी संभव है। प्रगतिशील कराधान, राज्य का कल्याणकारी स्वरूप, निःशुक्ल शिक्षा, चिकित्सा जैसी नीतियों से इसे अहिंसक तरीके से उपलब्ध किया जा सकता है।

उदारवादी व नव-उदारवादी चिंतकों ने समाजवादी मानववाद की आलोचना की है, क्योंकि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन करता है व समाज में समरूपता पैदा करता है। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादियों ने भी अपने आरंभिक विचारों में इसे दमनकारी माना है।

अस्तित्ववादी मानववाद (*Existentialist Humanism*)

अस्तित्ववादी मानववाद मानववाद का वह प्रकार है जो अस्तित्ववादी दार्शनिकों के विचारों में विकसित हुआ है। अस्तित्ववादी विचारक मुख्यतः दो प्रकार के हैं- ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी। कीर्केगार्ड, गैब्रियल मार्सल तथा पॉल टिलिक जैसे विचारक ईश्वरवादी हैं, अतः इन्हें मानववादी नहीं मानवतावादी मानना ज्यादा ठीक है। किंतु, सार्त्र, हाइडेगर तथा काम् जैसे विचारक निरीश्वरवादी तथा इहलोकवादी अर्थ में अस्तित्ववाद की व्याख्या करते हैं। अतः इन्हें अस्तित्ववादी मानववाद से जोड़कर देखा जा सकता है। सार्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'अस्तित्ववाद और मानववाद' इसी दृष्टिकोण पर आधारित है।

मानववाद का अर्थ है वह दर्शन जिसके केंद्र में मानव है। अस्तित्ववादी भी मानव को केंद्र में रखते हैं। सार्त्र व हाइडेगर की ज्ञानमीमांसा ब्रंटानो के 'चेतना के विषयापेक्षी सिद्धांत' से प्रभावित है जिसमें मनुष्य की प्रथम अनुभूति को ही प्रामाणिक माना गया है, न कि किसी शास्त्रीय प्रमाण को। इस प्रथम अनुभूति में ईश्वर नहीं होता, इसलिये ये विचारक निरीश्वरवादी तथा इहलोकवादी हैं। ये प्रत्येक मानव को स्वतंत्र कहते हैं व मानते हैं कि अपनी स्वतंत्रता के माध्यम से वह अपने सार-तत्त्व का निर्धारण स्वयं करता है। यह दृष्टिकोण भी मानव की केंद्रीयता का समर्थन करता है। इनकी मूल चिंता है कि मानव जो कि आत्मनिष्ठ व साध्य है, कहीं विज्ञान-तकनीक, बुद्धिवादी दर्शनों आदि के प्रभाव में 'वस्तु' न बन जाए।

ध्यातव्य है कि जहाँ समाजवादी मानववादी में समाज व्यक्ति पर हावी हो जाता है, वहीं अस्तित्ववादी मानववाद में व्यक्ति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति के अति महत्त्व की दृष्टि से यह विचारधारा 'नवमानववाद' के अधिक नज़दीक दिखाई देती है।

अस्तित्ववादी मानववाद का महत्त्व यह है कि इसने व्यक्ति की सत्ता को अत्यधिक सम्मान दिया। व्यक्ति की प्रामाणिकता का विचार इस दर्शन का मौलिक व अत्यंत महत्त्वपूर्ण विचार है। किंतु, आगे चलकर इन्होंने खुद महसूस किया कि व्यक्ति सामाजिक स्थितियों से उतना स्वतंत्र नहीं है जितना इन्होंने सोचा था। इसी का परिणाम था कि 1960 ई. में सार्त्र ने अपने अस्तित्ववाद को मार्क्सवाद से जोड़ दिया।

मानववाद : विश्वधर्म के रूप में (*Humanism : As World Religion*)

मानववाद एक आधुनिक दर्शन है जो अपनी ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्षवाद, तत्त्वमीमांसा में भौतिकवाद तथा नीतिमीमांसा में उपयोगितावाद जैसे सिद्धांतों को स्वीकारता है। यह पारंपरिक धर्मों का विरोधी है क्योंकि इसके अनुसार उनकी अलौकिकता, रूढ़िवादिता तथा मजहबी मानसिकता विश्व का विकास कम, विनाश अधिक करती है। कुछ मानववादी विचारकों जैसे ऑगस्ट कॉम्ट, जॉन ड्यूवी, एरिक फ्राम, जूलियन हक्सले और

जवाहरलाल नेहरू ने पारंपरिक धर्मों के स्थान पर नए प्रकार के 'मानववादी' या 'प्रकृतिवादी' धर्मों की धारणा प्रस्तुत की है। इन विचारकों का प्रयास यह था कि मानववादी धर्म पूरे विश्व में स्वीकृत हो जाए तथा पारंपरिक धर्म समाप्त हो जाएँ। इनमें से कुछ धर्मों का परिचय इस प्रकार है-

(i) ऑगस्ट कॉम्टे का मानववादी धर्म (*August Comte's Humanistic Religion*)

ऑगस्ट कॉम्टे 19वीं सदी के विचारक हैं जिनका दृष्टिकोण 'प्रत्यक्षवाद' या 'भाववाद' (Positivism) कहलाता है। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक मनोवृत्ति में अत्यधिक विश्वास रखता है तथा अलौकिक सत्ताओं व कल्पनाओं का निषेध करता है। कॉम्टे ने इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए धर्म का नया रूप प्रस्तुत किया जिसे 'प्रत्यक्षवादी' (Positivistic) या 'मानववादी' (Humanistic) धर्म कहा जाता है।

कॉम्टे के अनुसार, धर्म के विकास के तीन चरण हैं- आधिदैविक (Supernatural), तात्त्विक (Metaphysical) तथा प्रत्यक्षवादी (Positivistic)। आधिदैविक चरण में अलौकिक विश्वासों की बहुलता होती है। तात्त्विक चरण में ईश्वर से संबंधित दार्शनिक चिन्तन प्रमुख हो जाता है और निर्गुण ईश्वर जैसी धारणाएँ सामने आती हैं। प्रत्यक्षवादी चरण धर्म का सर्वोच्च चरण है जहाँ सभी अलौकिक कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यह धर्म वैश्विक धर्म है क्योंकि विश्व के सभी मनुष्यों के लिये तार्किक रूप से स्वीकार्य है। इसमें पुरोहित का स्थान वैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों को दिया गया है ताकि वे सम्पूर्ण विश्व में वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Temper) की स्थापना कर सकें। नारीत्व के गुणों की नैतिक अनुशांसा इस धर्म में ईसाइयत के प्रभाव के कारण की गई है क्योंकि त्याग, ममता, सहिष्णुता और संवेदनशीलता जैसे गुणों के विकास से ही मानव समाज का विकास हो सकता है। इस धर्म में ईश्वर का स्पष्ट निषेध किया गया है तथा मानवता को ईश्वर के स्थान पर धार्मिक आस्था का आधार माना गया है। भारतीय धर्म में प्रचलित आश्रम व्यवस्था की तरह कॉम्टे के मानववादी धर्म में भी जीवन के चार चरण स्वीकार किये गए हैं जो क्रमशः 14, 25, 42 तथा 63 वर्ष की आयु में आते हैं। पहले चरण में शिशु को मानववादी धर्म की दीक्षा दी जाती है। दूसरा चरण गृहस्थ जीवन का चरण है। तीसरे चरण में मानवता की सेवा का उद्देश्य महत्वपूर्ण हो जाता है, जबकि चौथे चरण में मनुष्य पूर्णतः मानवता हेतु समर्पित होकर 'महामानव' की श्रेणी में आ जाता है।

(ii) 20वीं शताब्दी के धर्म (जॉन ड्यूवी, टी.एच. हक्सले व एरिक फ्रॉम के प्रयास)

जॉन ड्यूवी, टी.एच. हक्सले व एरिक फ्रॉम 20वीं सदी के आरंभ के दार्शनिक हैं तथा तीनों ने धर्म के विश्लेषण में मानवीय मनोविज्ञान का सूक्ष्म प्रयोग किया है। एरिक फ्रॉम का संबंध नवमाक्सवाद से भी है। इन तीनों ने मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में धर्म की नवीन संकल्पना प्रस्तुत की है जिसे प्रकृतिवादी धर्म (Naturalistic Religion) कहा गया है।

जॉन ड्यूवी ने इस धारणा की सबसे स्पष्ट व्याख्या की है। वे कहते हैं कि पारंपरिक धर्मों का निषेध करना आवश्यक है क्योंकि पारंपरिक धर्म कई अतार्किक, अलौकिक, हठवादी दुराग्रहों के शिकार हैं जिनके कारण मनुष्यों का जीवन धार्मिक असहिष्णुता, कलह, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, कट्टरता और पलायनवाद से प्रभावित होता है। किंतु, यदि धर्म का निषेध सम्पूर्णता में कर दिया जाए तो मनुष्य अपनी एक विराट उपलब्धि से वंचित हो जाता है।

वस्तुतः धर्म के दो पक्ष हैं- बाह्य तथा आंतरिक। बाह्य पक्ष को 'मिथकीय पक्ष' कहते हैं, जबकि आंतरिक पक्ष को 'धर्मनिष्ठता' या 'धार्मिकता की भावना' कहा जा सकता है। पारंपरिक धर्मों में विद्यमान मूल समस्या उनके मिथकीय पक्ष में निहित है। मिथकीय पक्ष में वे सभी कल्पनाएँ व विश्वास शामिल हैं जिन पर धर्म के अनुयायी पूर्ण तथा निर्बौद्धिक आस्था रखते हैं। यही मान्यताएँ कट्टरतावाद, असहिष्णुता तथा अतार्किकता हेतु उत्तरदायी हैं। उदाहरण के लिये, इस्लाम एक ईश्वर में विश्वास रखता है, पारसी धर्म दो ईश्वरों में, वैदिक धर्म अनेक ईश्वरों में तथा बौद्ध व जैन धर्म निरीश्वरवाद में। ये मान्यताएँ बाह्य या मिथकीय पक्ष हैं जिन पर विरोध होने के कारण संघर्ष पैदा होता है।

किंतु धर्म का दूसरा पक्ष मानवीय जीवन की महान उपलब्धि है जिसे 'धर्मनिष्ठता' कहा गया है। धर्म-निष्ठता (Religiosity) एक व्यापक अभिवृत्ति है जो मनुष्य की सम्पूर्ण चेतन व अचेतन क्षमताओं को एकत्रित करके उन्हें किसी व्यापक उद्देश्य की ओर उन्मुख करती है। जब कोई व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ व हानि के विचार से ऊपर उठकर व्यापक सामाजिक उद्देश्य हेतु बड़े से बड़ा त्याग या सर्वस्व समर्पण करने को तैयार हो जाता है, तो यही भावना धर्मनिष्ठता कहलाती है। इस भावना के होने पर मनुष्य में निहित अचेतन शक्तियाँ भी मूर्त हो जाती हैं तथा वह सामान्य मनुष्य की तुलना में बहुत बड़े कार्य कर पाता है। उदाहरणस्वरूप- बहुत से व्यक्ति जैसे धार्मिक व्यक्ति अपने धर्म हेतु अपना जीवन दाँव पर लगा देते हैं क्योंकि उनमें यह भावना जाग्रत हो जाती है। राष्ट्र हेतु अपना जीवन देना या किसी सामाजिक कार्य में डूब जाना भी इसी के कारण होता है।

जॉन ड्यूवी व फ्रॉम के अनुसार मनुष्य के विकास हेतु धर्मनिष्ठता की भावना को बचाए रखना आवश्यक है किंतु मिथकीय पक्षों में आस्था को हटाना भी जरूरी है। इसी समस्या का समाधान है- प्रकृतिवादी धर्म। इस धर्म में अंतिम सत्ता प्रकृति को माना जाता है, न कि ईश्वर या नित्य आत्मा को। प्रकृति का सम्मान करते हुए मनुष्य मात्र के जीवन को बेहतर बनाना, प्रत्येक मनुष्य को व्यापक हित हेतु त्याग करने की मानसिकता से युक्त करना, उसमें वैज्ञानिक मनोवृत्ति व प्रबुद्ध-स्वहित पर टिकी नैतिकता का विकास करना-यही सब प्रकृतिवादी धर्म के प्रमुख लक्षण हैं। इस धर्म को मानने से न सांप्रदायिकता पैदा होती है, न रूढ़िवाद और न ही पलायनवाद। यह किसी भी वैज्ञानिक या दार्शनिक की समस्त तार्किक शंकाओं को संतुष्ट कर सकता है। यह संपूर्ण विश्व को एक ही धर्म में शामिल होने का विकल्प भी देता है।

(iii) नेहरू का वैज्ञानिक धर्म (Nehru's Scientific Religion)

नेहरू पारंपरिक धर्मों के विरोधी थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि पारंपरिक धर्मों या मजहबों ने मानवता की जितनी सेवा की है, उससे कहीं अधिक नुकसान पहुँचाया है। इसके बावजूद वे मानते थे कि मानव जीवन की कुछ ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति विज्ञान नहीं धर्म ही कर सकता है। उदाहरणार्थ- मनुष्य के जीवन के प्रयोजन की समस्या का समाधान धर्म ही कर सकता है। इसी प्रकार विज्ञान तथा अन्य भौतिक शक्तियों के प्रयोग पर नैतिकता का अंकुश विज्ञान के द्वारा नहीं, धर्म द्वारा ही लगाया जा सकता है। इसलिये नेहरू ने वैज्ञानिक धर्म की अवधारणा प्रस्तुत की जिसका तात्पर्य है ऐसा धर्म जो वैज्ञानिक मनोवृत्ति (Scientific Temper) पर आधारित हो। यह धर्म विभिन्न धर्मों की प्रचलित रूढ़िवादी व्याख्याओं को स्वीकार नहीं करता बल्कि वैज्ञानिक तार्किक दृष्टिकोण से धर्म के आंतरिक तत्वों पर बल देता है। नेहरू ने जॉन ड्यूवी की तरह धर्म की मूल विशेषता धर्मनिष्ठता (Religiosity) की भावना को माना है, न कि ईश्वर या किसी अलौकिक आस्था को। धर्मनिष्ठता की भावना वह भावना है जो मनुष्य की सम्पूर्ण चेतन तथा अचेतन शक्तियों को व्यक्तिगत लाभ-हानि की संकीर्णताओं से मुक्त करके किसी व्यापक उद्देश्य की ओर समायोजित कर देती है। यदि मनुष्य अपनी वैज्ञानिक मनोवृत्ति के साथ धर्मनिष्ठता की इस भावना को जोड़ सके तो वैज्ञानिक धर्म विकसित होगा जो आधुनिक मनुष्य के लिये एकमात्र वैश्विक धर्म हो सकता है।

मानववाद का धर्म के रूप में मूल्यांकन

मानववादी धर्म कुछ मायनों में जरूर सफल रहा है। सबसे पहली सफलता यह है कि वर्तमान विश्व में प्रायः सभी देशों में जिस नीतिमीमांसा को स्वीकार किया जा रहा है, वह मानववाद पर ही आधारित है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है मानवाधिकारों के मुद्दे का अत्यधिक महत्वपूर्ण होना। जो देश अपनी प्रभुसत्ता के आंतरिक मामलों के नाम पर मानवाधिकारों का हनन करते हैं, उन पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव बनने लगता है। इसी प्रकार नस्लीय भेदभाव, लिंगगत भेदभाव, धार्मिक विभेद तथा व्यक्तिगत भेदभाव का विरोध मानववादी नीतिमीमांसा के प्रमुख विचार हैं। वर्तमान विश्व में सामान्यतः सभी देश इन मुद्दों पर सहमत हैं। यूरोपीय देशों में नस्लवाद की छोटी सी घटना भी वैश्विक स्तर पर प्रभाव डालती है जो मानववादी नीतिमीमांसा की सफलता का ही प्रमाण है।

मानववादी धर्म की सफलता का दूसरा पहलू धर्म के रूप में है। यह बात तो ठीक है कि दुनिया के अधिकांश व्यक्ति अभी भी पारंपरिक धर्मों के ही समर्थक हैं, किंतु कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य हैं जो पूरी तरह मानववादी धर्म को मानते हैं। ये व्यक्ति भौतिकवाद, संयोगवाद तथा प्रकृतिवादी विश्वासों को उपयोगितावाद जैसे नैतिक विचारों से जोड़कर अपना जीवन जीते हैं और पारलौकिकता की आवश्यकता जीवन भर महसूस नहीं करते। भविष्य में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है।

फिर भी, सत्य यह है कि पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों में किये गए अनेक प्रयासों के बावजूद मानववादी धर्म पारंपरिक धर्मों का ठोस विकल्प नहीं बन पाया अर्थात् पूरी तरह सफल नहीं हो पाया। वस्तुतः इसके कई कारण हैं, जैसे-

1. मूल कारण यह है कि मानववादी धर्म अंतिम जिज्ञासाओं का संतोषप्रद समाधान नहीं करता। यह धर्म अंतिम प्रश्नों के उत्तर में संयोगवाद और स्वभाववाद की बात करता है किंतु धार्मिक व्यक्ति इस जटिल विश्व को सिर्फ संयोग का परिणाम मानकर संतुष्ट नहीं होता। पारंपरिक धर्म इस प्रश्न का काल्पनिक ही सही किंतु संतोषप्रद उत्तर देते हैं। साधारण व्यक्ति को यही उत्तर अतार्किक होने के बावजूद आकर्षित करते हैं।
2. मनुष्य के जीवन की अंतिम सार्थकता या प्रयोजन क्या है? इसके उत्तर में मानववादी धर्म कहते हैं कि बेहतर मनुष्य के रूप में जीना और अपने कर्मों के माध्यम से समाज की स्मृतियों में बने रहना ही मानवीय जीवन का प्रयोजन है। ये धर्म न तो आत्मा की अमरता को मानते हैं, न मरणोपरान्त जीवन को, न स्वर्ग और नरक को और न ही किसी प्रकार की अंतिम मुक्ति को। किंतु, प्रत्येक प्राणी के मन में अपने अस्तित्व को नित्य बनाए रखने की चाह होती है। यह संतोष पारंपरिक धर्मों में मुक्ति या मोक्ष जैसे विश्वासों में उपलब्ध होता है किंतु मानववादी धर्म में नहीं।
3. मानववादी धर्म की तीसरी सीमा इसमें भावनात्मक या संवेगात्मक पक्ष का कमजोर होना है। मानववादी धर्म जिन मान्यताओं पर टिका है, उनके आधार पर बुद्धिजीवी व्यक्ति चाहे जी सके, सामान्य व्यक्ति नहीं जी सकता। पारंपरिक धर्म का कर्मकाण्डीय पक्ष, पूजा विधि, विभिन्न अनुष्ठान, उत्सव और पर्व इत्यादि जनसाधारण के जीवन में महत्वपूर्ण संवेगात्मक भूमिका निभाते हैं किंतु मानववादी धर्म में यह उपलब्ध नहीं हो पाता।
4. मानववादी धर्म व्यक्ति को सुरक्षा का वह आश्वासन नहीं दे पाता जो पारंपरिक धर्म देते हैं। यह धर्म कहता है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। जब मनुष्य अत्यंत कठिन परिस्थिति में फँसता है जहाँ विज्ञान और तकनीक भी पराजित हो जाते हैं, तब उसे सुरक्षा के आश्वासन की आवश्यकता महसूस होती है। यह सुरक्षा पारंपरिक धर्मों में ईश्वर के प्रतीक के माध्यम से उपलब्ध होती है। इसी आश्वासन की कमी के कारण हीनयानी बौद्ध धर्म उतना सफल नहीं हो सका जितना महायानी धर्म सफल हुआ।

कुल मिलाकर, वस्तुस्थिति यह है कि मानववादी धर्म पारंपरिक धर्म का स्थान लेने में प्रायः विफल ही रहे हैं। सोवियत संघ में पारंपरिक धर्म का लंबे समय तक दमन हुआ किंतु सारे वैज्ञानिक विकास और मानववाद के बावजूद साम्यवादी शासन खत्म होते ही धर्म पुनः उठ खड़ा हुआ। आज विज्ञान तकनीक के विकास के उन्नत दौर में भी पारंपरिक धर्म कमजोर नहीं हुए हैं। सभ्यताओं के संघर्ष की जो प्राक्कल्पना सेमुअल हर्टिग्टन ने प्रस्तुत की है, वह भी पारंपरिक धर्मों के बढ़ते हुए महत्व का उदाहरण है। किंतु, इसके बाद भी इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि जब विज्ञान अंतिम जिज्ञासाओं का समाधान कर देगा और मानव जीवन में व्याप्त असुरक्षा को लगभग समाप्त कर देगा, तो मानववादी धर्म वैश्विक धर्म बन सकता है।

मानवेन्द्र नाथ राय का 'नव्य मानववाद'/'उत्कट मानववाद'

(Manabendra Nath Roy's New Humanism/Radical Humanism)

मानवेन्द्र नाथ राय 1940 ई. तक मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक रहे। 1940-47 ई. तक का काल उनके चिंतन में आमूल परिवर्तनवाद (Radicalism) का है तथा 1947-1954 ई. का काल उत्कट मानववाद (Radical Humanism) का है। उन्होंने अपने इस दर्शन को कहीं नवीन मानववाद (New Humanism), कहीं उग्र/उत्कट/अविकल मानववाद (Radical Humanism) तो कहीं-कहीं वैज्ञानिक मानववाद (Scientific

Humanism) कहा है। इस दर्शन का विवेचन उन्होंने चार पुस्तकों में किया है- 'Scientific Politics', 'New Orientation', 'New Humanism' तथा 'Beyond Communism to Humanism'। इसके अलावा, कहीं-कहीं उनकी अन्य रचनाओं व कुछ लेखों में भी इस दर्शन के सूत्र उपलब्ध होते हैं।

एम.एन. राय ने अपनी पुस्तक 'New humanism' में स्पष्ट रूप से बताया है कि नव्य मानववाद में नया क्या है? उनके अनुसार नव्य मानववाद में मानव की धारणा नई है। वे मानव को तत्त्वतः बौद्धिक प्राणी मानते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले के दार्शनिकों ने ऐसा न माना हो किंतु इसी बात को पहले और अब मानने में अंतर है। पहले के चिंतक इस विश्वास को तार्किक आधार पर मानते थे जबकि आज के चिंतक इसे वैज्ञानिक आधार पर मान सकते हैं। पिछले सौ वर्षों के वैज्ञानिक अनुसंधान ने साबित कर दिया है कि भौतिकवाद ही जगत् और मानव की समुचित व्याख्या कर सकता है। मनुष्य की चेतन क्षमता आत्मा जैसी किसी आध्यात्मिक सत्ता पर आधारित नहीं है। उसकी चेतना बुद्धि पर आधारित है जो भौतिक शरीर के ही मस्तिष्क नामक अंग पर टिकी है। बुद्धि से संपन्न मानव की केन्द्रीयता का विचार इस दर्शन का नया विचार है।

एम.एन.राय ने अपने मानववाद को नवीन सिद्ध करने के लिये पहले के मानववादी विचारों से उसका अन्तर भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्राचीन मानववाद और पुनर्जागरणकालीन मानववाद धर्म व अलौकिक विश्वासों से पर्याप्त रूप से प्रभावित था, इसलिये मानव तात्विक अर्थ में उन दर्शनों के केंद्र में नहीं था। 19वीं शताब्दी के मानववाद ने मानव को इतना अधिक महत्त्व दिया कि मानव खुद ही अति प्राकृतिक सत्ता प्रतीत होने लगा। इसी शताब्दी के मार्क्सवादी मानववाद ने 'मानव' को महत्त्व दिया किंतु व्यवहार में 'व्यक्ति' का महत्त्व पूर्णतः खत्म कर दिया। राय का दावा है कि उनका मानववाद मानव की वही धारणा स्वीकार करता है जो वैज्ञानिक अनुसंधानों से सिद्ध हुई है। यह 'व्यक्ति' के महत्त्व को भी समाप्त नहीं करता। इस अर्थ में यह नव्य-मानववाद है।

नव्य मानववाद की विशेषताएँ

ज्ञानमीमांसा:

1. प्रत्यक्ष मूल प्रमाण है। भ्रम के आधार पर प्रत्यक्ष को खारिज नहीं किया जा सकता क्योंकि हमारे संपूर्ण अनुभवों में भ्रामक अनुभवों की संख्या एक प्रतिशत भी नहीं होती। यदि इनके आधार पर प्रत्यक्ष को खारिज कर दें तो अवैध सामान्यीकरण दोष होगा।
2. प्रत्यक्ष की शक्ति बढ़ाने के लिये वैज्ञानिक उपकरणों का विकास करना चाहिये।
3. अनुमान को भी महत्त्व दिया, क्योंकि अनुभवों के आधार पर अनुमान करने से नया व प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है।
4. शब्द प्रमाण का गौण महत्त्व है। उन्हीं व्यक्तियों के शब्द में प्रामाण्य है जो वैज्ञानिक ज्ञान से युक्त हों।

तत्त्वमीमांसा:

1. राय का मूल दर्शन भौतिकवादी है लेकिन उसका नाम 'भौतिकवादी यथार्थवाद' (Materialistic Realism) है। इसका तात्पर्य है कि अंतिम सत्ता भौतिक है और वह वास्तविक भी है।
2. राय विकासवाद को भी मानते हैं, किंतु उन्होंने उसे 'सृजनात्मक विकासवाद' (Creative Evolutionism) कहा है। इसके अंतर्गत उन्होंने माना कि आरंभ में भौतिक पदार्थ का अस्तित्व रहा होगा, फिर रासायनिक प्रक्रियाएँ हुई होंगी, फिर जैव रसायन बना होगा और उससे क्रमशः वनस्पति जगत्, कीटाणु, पशु-पक्षी और मानवों का विकास हुआ होगा। यह सारी प्रक्रिया 'अस्तित्व के संघर्ष' तथा 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के आधार पर चली होगी।
3. मानव भौतिक विकास से ही निर्मित हुआ है किंतु वह भौतिक विकास का उच्चतम स्तर है। जिस प्रकार भौतिक वस्तुएँ प्राकृतिक नियमों के अनुसार और पशु-पक्षी जैविक प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते हैं, वैसे ही मानव का नियम है-विवेकशीलता। मनुष्य तत्त्वतः विवेकशील प्राणी है।

4. विचारों का विकास भौतिक मस्तिष्क से ही होता है, अतः विचार अस्तित्व के लिये स्वतंत्र नहीं हैं। किंतु, एक बार विचार का जन्म हो जाने के बाद विचारों की दुनिया स्वायत्त हो जाती है। कभी-कभी भौतिक स्थितियाँ बदलने के हजारों वर्ष बाद तक भी विचार बने रहते हैं। इतना ही नहीं, विचारों में आपसी संघर्ष भी होता है।

नीतिमीमांसा:

1. धर्म पर आधारित परंपरागत नैतिकता अब नहीं चल सकती क्योंकि वैज्ञानिक विकास के कारण धर्म का आधार डगमगाने लगा है। कोई भी धर्म ऐसे नैतिक मूल्य प्रस्तुत नहीं करता जो सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत हो सकें। अतः अब वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित नैतिकता ही चल सकती है।
2. राय इस विचार से सहमत हैं कि धर्म आम आदमी के लिये अफीम की तरह काम करता है। किंतु, व्यक्तिगत जीवन में धर्म का निषेध दमनमूलक तरीके से नहीं होना चाहिये। यदि व्यक्ति व्यक्तिगत जीवन में धर्म को स्वीकारना ही चाहे तो उसे अनुमति मिलनी चाहिये। परिपक्व होने पर वह खुद ही धर्म को छोड़ देगा।
3. मानव की स्वतंत्रता उच्चतम नैतिक मूल्य है, इसी के आधार पर किसी समाज के विकास का मूल्यांकन किया जा सकता है।
4. मानव स्वभाव से ही नैतिक है। नैतिक मूल्यों का निर्माण वह स्वयं करता है। पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति मानव के स्वभाव में शामिल है।
5. मानव इतिहास का निर्माता भी स्वयं है। शेष सभी जीवों ने स्वयं को प्रकृति के अनुसार ढाल लिया है, जबकि मानव ने प्रकृति को अपने अनुसार ढाला है। इसलिये वह अपने इतिहास का निर्माता है।
6. नैतिक मूल्य 'प्रबुद्ध स्वहित' पर आधारित हैं। मानव को ईश्वर के प्रति नहीं, अपनी अंतरात्मा के प्रति जवाबदेह होना चाहिये।
7. राय ने 'आध्यात्मिक मुक्ति' (Spiritual Liberation) का विचार भी दिया किंतु इसका अर्थ यहाँ अलौकिक नहीं, लौकिक संदर्भ में है। जब किसी मनुष्य को स्वतंत्र विचारों की आदत पड़ जाती है तो उसमें वैज्ञानिक मनोवृत्ति और प्रश्नाकुलता के गुण विकसित हो जाते हैं। इस वैज्ञानिक स्वभाव से युक्त होना ही 'आध्यात्मिक मुक्ति' है।

मानवेन्द्र नाथ राय द्वारा मार्क्सवाद का खंडन

1. मार्क्स का 'भौतिकवाद' कट्टरपंथी है क्योंकि वह आर्थिक निर्धारणवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद आदि के माध्यम से मानव को वस्तु में तब्दील करके उसकी स्वायत्तता का निषेध कर देता है।
2. एन. बर्डियायीव की तरह राय भी मानते हैं कि द्वंद्वत्मक पद्धति ने मार्क्सवाद में 'प्रत्ययवादी तत्त्व' (Idealistic factor) शामिल कर दिया है। वाद, प्रतिवाद एवं संवाद की प्रक्रिया में आगे बढ़ना भौतिक वस्तु का नहीं, विचार या चिंतन का स्वभाव है। राय ने लिखा भी है कि- "मार्क्स का द्वंद्वत्मक भौतिकवाद केवल नाम के लिये भौतिकवादी है। चूँकि उसका मूल तत्त्व द्वंद्ववाद है, इसलिये तत्त्वतः वह एक प्रत्ययवादी दर्शन है।"
3. मार्क्स का भौतिकवाद वैचारिक या मानसिक पक्षों को अत्यंत गौण स्थान देता है। मार्क्सवाद के अनुसार, विचार भौतिक स्थितियों की गौण उपज है तथा भौतिक स्थितियों के परिवर्तन विचारों को स्वतः परिवर्तित कर देते हैं। राय के अनुसार, यह सही है कि विचारों का जन्म आवश्यक भौतिक स्थितियों के बाद ही संभव है क्योंकि विचार भौतिक शरीर के मस्तिष्क नामक हिस्से के अभाव में पैदा नहीं होते, पर एक बार पैदा हो जाने के बाद विचार अपने विकास के निजी नियम का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार भौतिक और वैचारिक प्रक्रियाएँ समानांतर चलती रहती हैं।
4. मार्क्स का भौतिकवाद आर्थिक अतिवाद का शिकार है। भौतिकवाद तो शक्ति नियतिवाद, जलवायु नियतिवाद इत्यादि के साथ भी संगत हो सकता है। वैसे भी, समाज या सभ्यता के आरंभ की स्थिति में मानव का जीवन आर्थिक पक्षों से कम, जैविक और प्राकृतिक शक्तियों से ज्यादा प्रभावित था।

5. कार्ल मैनहाइम (Karl Manheim) की भाँति राय भी स्वीकार करते हैं कि क्रातियाँ भौतिकवादी प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम नहीं होतीं, बल्कि संकल्पमूलक काल्पनिकता (Romanticism) का परिणाम होती हैं।
6. मार्क्सवाद कुछ अंतर्विरोधों से भी ग्रस्त है। एक ओर, उसके अनुसार इतिहास एवं ब्रह्मांड निर्धारित प्रक्रियाओं के अधीन हैं जबकि दूसरी ओर क्रांति का विचार प्रयोजनवादी धारणा का प्रतिपादन करता है।
7. मार्क्सवाद ने सामाजिक वर्गों के मध्य केवल संघर्ष के संबंध को देखा, जबकि कभी-कभी उनमें सहयोगात्मक संबंध भी पनपते हैं और दिखाई देते हैं।
8. मध्य वर्ग के संबंध में मार्क्स का चिंतन गहन नहीं था। मार्क्स ने मान लिया था कि तकनीकीकरण तथा आर्थिक क्रियाओं का प्रसार बढ़ने से मध्यवर्ग के विलोपन की प्रक्रिया तीव्र होगी किंतु व्यवहार में इसके विपरीत परिणाम दिखाई देता है। वस्तुतः 20वीं शताब्दी में संपूर्ण विश्व में सांस्कृतिक तथा राजनीतिक नेतृत्व मध्यवर्ग के ही हाथों में है।
9. एम.एन. राय मार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत' (Theory of surplus value) को भी असंगत मानते हैं। अपनी पुस्तक New Humanism में वे कहते हैं कि- "यह सिद्धांत कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन पूंजीवाद का विशिष्ट लक्षण है और श्रमिक वर्ग के शोषण का द्योतक है, एक ऐसी आधारभूत भ्रान्ति है जो मार्क्सवादी अर्थशास्त्र में ही नहीं, बल्कि क्रांति के संपूर्ण दर्शन में पाई जाती है। इतिहास के आरंभ से अभी तक जो सामाजिक प्रगति हुई है, विशेषकर उत्पादन के साधनों की प्रगति, वह इस शर्त पर हुई है कि किसी भी समय समाज के संपूर्ण उत्पादन का उपभोग नहीं किया गया।"
10. मार्क्सवाद में भी धार्मिकता के गुण पैदा होने लगे हैं। मार्क्स और एंजेलस ईश्वर के समान हो गए हैं, उनके सिद्धांत 'श्रुति' बन गए हैं तथा उनके समर्थक धर्म के अनुयायियों की तरह चिंतनहीन होने लगे हैं। व्यक्ति के विचारों की स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं रहा है।
11. व्यक्ति स्वातंत्र्य का अभाव मार्क्सवाद की सबसे बड़ी सीमा है। अब मूल समस्या आर्थिक शोषण की नहीं, राजनीतिक तानाशाही से मुक्ति प्राप्त करने की है।

'ईसाई मानववाद अंतर्विरोधी पद है'

(Christian Humanism is contradiction in terms)

मानववाद के विभिन्न प्रकारों में से एक धर्मसंगत मानववाद के अंतर्गत ईसाई मानववाद की चर्चा की जाती है। जहाँ ईसाई धर्मशास्त्रियों का दावा है कि ईसाई मानववाद मानववाद का सर्वोच्च प्रकार है, वहीं धर्मनिरपेक्ष मानववादियों का दावा है कि 'ईसाई मानववाद' एक अंतर्विरोधात्मक पद है।

वस्तुतः मानववाद वह विचारधारा है जिसके केंद्र में मानव है, ईश्वर नहीं। इसकी ज्ञानमीमांसा मानवीय बुद्धि तथा मानवीय अनुभव को ही प्रामाणिक मानती है, न कि किसी धर्मशास्त्रीय या रहस्यात्मक ज्ञान को। इस ज्ञानमीमांसा का स्वाभाविक परिणाम है- इहलोकवादी तत्त्वमीमांसा। नैतिक दृष्टि से मानववाद धर्म में बताए गए कर्तव्यों को नहीं, बल्कि उन कृत्यों को महत्त्व देता है जो प्रत्येक मनुष्य के लौकिक सांसारिक हितों की अभिवृद्धि कर सकें।

यदि ईसाई मानववाद के दावे पर विचार करें तो प्रश्न उठता है कि इसके केंद्र में मनुष्य है या ईश्वर? ईसाई धर्म का दावा है कि ईश्वर संपूर्ण ब्रह्मांड का एकमात्र कारण है तथा सृष्टि एक क्षण भी ईश्वरीय कृपा के बिना अस्तित्ववान नहीं रह सकती। उसका यह भी मानना है कि मानव मूलतः पापी है क्योंकि आदम और ईव ने जो पाप किया था, उसकी विरासत संपूर्ण मनुष्य जाति को मिली है। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य सांसारिक उपलब्धियाँ अर्जित करना नहीं बल्कि आदिम पाप की शुद्धि करते हुए मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति करना है।

स्पष्ट है कि ईसाई धर्म की दार्शनिक मान्यताएँ मानवकेंद्रित नहीं, ईश्वरकेंद्रित हैं। इसी दृष्टि से 'ईसाई मानववाद' एक द्वंद्वात्मक पद है।

धर्मनिरपेक्षतावाद (Secularism)

धर्मनिरपेक्षता की पश्चिमी धारणा (Western Notion of Secularism)

'धर्मनिरपेक्षता' अंग्रेजी शब्द 'Secularism' का अनुवाद है, जो मूलतः लैटिन शब्द 'Seculam' से बना है। 'Seculam' का अर्थ होता है- इहलोक से संबंधित। अतः शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से 'Secularism' का अर्थ हुआ- वह विचारधारा जो मनुष्य को परलोक की चिंता छोड़कर इहलोक से संबंधित होने की प्रेरणा देती है। इसे धर्मनिरपेक्षता इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह विचारधारा पारंपरिक धर्मों की परलोककेंद्रित (That worldly) मानसिकता का विरोध करती है।

धर्मनिरपेक्षता का उदय

धर्मनिरपेक्षतावाद औपचारिक रूप से 19वीं सदी की विचारधारा है किंतु इसके उभरने की प्रक्रिया पश्चिमी इतिहास में काफी पहले से दिखाई पड़ती है। ग्रीक दर्शन में सोफिस्ट विचारकों तथा डिमोक्रिटस जैसे भौतिकवादियों के दर्शन में धर्म का विरोध साफ नज़र आता है। मध्यकाल में संत एन्सेल्म तथा संत एक्वाइनस ने धर्म के भीतर तार्किक दृष्टिकोण विकसित करने पर बल दिया जो आगे बढ़ते-बढ़ते धर्मनिरपेक्षतावाद का आधार बना। इस विचारधारा के स्पष्ट संकेत 16वीं शताब्दी के राजनीतिक दर्शन में दिखाई देने लगते हैं क्योंकि तब कैथोलिकों और प्रोटेस्टैंटों के हिंसक संघर्षों को रोकने के लिये राज्य को धर्म के प्रभाव से निकालकर सर्वोच्च शक्ति देना जरूरी हो गया था। मैकियावेली, बोदाँ और हॉब्स इसी काल के विचारक हैं जिन्होंने राज्य को धर्म से निरपेक्ष बनाने की वकालत की। आगे चलकर बेंथम, मिल और मार्क्स जैसे विचारकों ने भी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रतिपादन किया। इसी शृंखला की परिणति के रूप में इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध विचारक जॉर्ज जैकब होलिओक ने 1851 ई. में औपचारिक रूप से धर्मनिरपेक्षतावाद की स्थापना की। इस प्रयास में उसके साथ कई अन्य दार्शनिक थे जिनमें चार्ल्स ब्रैडलॉफ सबसे प्रमुख माने जाते हैं।

धर्मनिरपेक्षतावाद की अवधारणा पर तत्कालीन यूरोपीय परिस्थितियों का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। यूरोप में लगभग 1000 वर्षों तक मध्यकाल चला जिसमें धर्म के आतंक के कारण सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विकास नहीं हो सका। इसलिये इस काल को अंधकार काल (Dark Age) कहा जाता है। 14वीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण (Renaissance) की शुरुआत हुई तो धीरे-धीरे मनुष्य के महत्त्व में वृद्धि होने लगी। वैयक्तिक स्वतंत्रता (Individual Liberty) की इच्छा ने धर्म में आंतरिक सुधारों का दबाव बनाया जिसके परिणामतः धर्म-सुधार (Reformation) आंदोलन हुआ और उसी की कोख से मार्टिन लूथर तथा जॉन कैल्विन जैसे विचारकों ने प्रोटेस्टैंट धर्म के विभिन्न संप्रदायों को जन्म दिया। प्रोटेस्टैंट संप्रदायों की विचारधारा कैथोलिकों की तुलना में अधिक इहलोक-केंद्रित (This worldly) थी जिसकी चर्चा प्रसिद्ध समाज दार्शनिक मैक्स वेबर ने भी की है। प्रोटेस्टैंट विचारधारा के आधार पर ही वैज्ञानिक और मशीनी क्रांतियाँ हुईं जिससे धीरे-धीरे मनुष्य के सोचने का नज़रिया बदला और वैज्ञानिक मनोवृत्ति (Scientific Temper) का विकास हुआ। इसी के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के आरंभ में मानववाद (ऑगस्ट कॉम्ट) तथा मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स) जैसी इहलोकवादी विचारधाराएँ पनपीं और धर्मनिरपेक्षतावाद के विकास के लिये पर्याप्त पृष्ठभूमि बनी।

धर्मनिरपेक्षतावाद की दार्शनिक विशेषताएँ

धर्मनिरपेक्षतावाद आधुनिक काल का एक भौतिकवादी (Materialist) तथा मानववादी (Humanist) दर्शन है जो वैज्ञानिक मनोवृत्ति (Scientific Temper) के आधार पर इहलोक के महत्त्व की स्थापना करता है।

भौतिकवादी होने के कारण यह भौतिक जगत को अंतिम सत्य मानता है तथा इसके पीछे ईश्वर, आत्मा या स्वर्ग जैसी पारलौकिक सत्ताओं को स्वीकार नहीं करता। मानववादी होने के कारण यह अपने चिंतन के केंद्र में मनुष्य और उसकी सांसारिक समस्याओं को रखता है। इस विचारधारा की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं-

धर्मनिरपेक्षतावाद धर्म का समर्थन नहीं करता क्योंकि धर्म पारलौकिक विश्वासों पर टिका होता है जबकि धर्मनिरपेक्षतावाद ऐसे विश्वासों से तटस्थ रहता है। **धर्म की उपेक्षा या विरोध** का दूसरा कारण यह भी है कि धर्म वैज्ञानिक मनोवृत्ति तथा भौतिक विकास में बाधक बनता है जबकि इन दार्शनिकों के अनुसार भौतिक विकास ही मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य है। यहाँ यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि धर्मनिरपेक्षतावाद मजहब (Religion) वाले अर्थ में ही धर्म का विरोध करता है; भारतीय परंपरा के उस अर्थ में नहीं जिसमें धर्म को नैतिकता का समानार्थक माना गया है। होलिओक और ब्रैडलॉफ में इस मुद्दे पर विवाद है। होलिओक का मानना है कि हमें धर्म का समर्थन या विरोध न करते हुए उसकी उपेक्षा करनी चाहिये जबकि ब्रैडलॉफ के अनुसार, धर्म की उपेक्षा ही पर्याप्त नहीं है, उसका विरोध करना भी ज़रूरी है। ध्यातव्य है कि धर्मनिरपेक्षतावाद निरीश्वरवाद (Atheism) से अलग है। होलिओक का मानना था कि निरीश्वरवाद ईश्वर-विरोध के साथ-साथ नैतिकता के भी विरुद्ध होता है जबकि धर्मनिरपेक्षतावाद में नैतिकता को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। वर्तमान समाज दर्शन में होलिओक द्वारा किये गए इस विभेद को सही नहीं माना जाता।

धर्मनिरपेक्षतावाद की दूसरी प्रमुख मान्यता है- सिर्फ **इहलोक में विश्वास करना**। इस विचार का इतना अधिक महत्त्व है कि इसे कहीं-कहीं इहलोकवाद भी कहा जाता है। होलिओक का स्पष्ट दावा है कि मनुष्य की बुद्धि एवं अनुभव में इतनी क्षमता नहीं है कि वह परलोक से संबंधित प्रश्नों के सटीक उत्तर खोज सके। इसलिये परलोक संबंधी प्रश्नों में समय और ऊर्जा नष्ट करने के स्थान पर मनुष्य को इहलोक को ही अंतिम सत्य मानकर महत्त्व देना चाहिये।

धर्मनिरपेक्षतावादियों ने **विज्ञान और तकनीक के विकास पर अत्यधिक बल** दिया है। उनका दावा है कि मनुष्य का कल्याण और उसके सुखों में वृद्धि ईश्वर की प्रार्थना करने से नहीं बल्कि विज्ञान-तकनीक के विकास से ही संभव है। विज्ञान का अर्थ है- उन नियमों की खोज करना जिनके अनुसार प्रकृति संचालित होती है। तकनीक इसका अगला स्तर है। इसका अर्थ है विज्ञान के नियमों का प्रयोग इस प्रकार करना कि मनुष्य को अधिकतम सुखों की प्राप्ति हो सके। प्रो. फ्लिंट का मानना है कि धर्मनिरपेक्षतावाद वह विचारधारा है जिसके अनुसार मनुष्य का कल्याण विज्ञान-तकनीक के हाथों से संभव है।

धर्मनिरपेक्षतावादी **धर्मनिरपेक्ष नैतिकता (Secular Morality)** पर बल देते हैं। धर्म और नैतिकता के पारस्परिक संबंध को लेकर सामाजिक दर्शन और धर्मदर्शन में हमेशा विवाद रहा है कि नैतिकता धर्म पर निर्भर है या धर्म से स्वतंत्र है। कई पारंपरिक चिंतक मानते हैं कि जो नैतिकता धर्म पर आधारित नहीं होती, वह वस्तुतः नैतिकता होती ही नहीं। प्रो. गैलोवे, दोस्तोवस्की तथा महात्मा गांधी जैसे चिंतक इस विचार के पक्ष में थे। धर्मनिरपेक्षतावादी इस मत का खंडन करते हुए दावा करते हैं कि नैतिकता की पहचान सामाजिक प्रतिबद्धता के आधार पर होनी चाहिये, न कि धार्मिक आधार पर क्योंकि कई धार्मिक कृत्य खुद अनैतिक होते हैं (जैसे- पशुओं की बलि इत्यादि) जबकि कई धर्मनिरपेक्ष कार्य अत्यंत नैतिक होते हैं।

धर्मनिरपेक्षता की भारतीय धारणा (*Indian Notion of Secularism*)

धर्मनिरपेक्षता एक जटिल तथा गत्यात्मक अवधारणा है जिसका प्रयोग भारतीय दार्शनिकों ने पाश्चात्य दार्शनिकों से भिन्न अर्थ में किया है। भारतीय दार्शनिकों ने धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है जिन्हें मोटे तौर पर तीन वर्गों में रखा जा सकता है।

पहले वर्ग में आधुनिक उदारवादी विचारक आते हैं जो 19वीं शताब्दी के अंत व 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में थे। ये विचारक सामाजिक व धार्मिक सुधार आंदोलन से जुड़े थे और सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन में धर्म के विरोधी नहीं थे। इस वर्ग के प्रमुख विचारक थे- **दादा भाई नौरोजी, फिरोज़शाह मेहता तथा राजा राममोहन राय**। इन्होंने धर्मनिरपेक्षता की पश्चिमी विचारधारा को ही स्वीकार किया व राजनीति में किसी भी रूप में धर्म को शामिल न करने की प्रतिबद्धता व्यक्त की। कुल मिलाकर, इनकी धर्मनिरपेक्षता व्यावहारिक प्रकार की थी जिसका तात्पर्य था कि व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में धर्म कुछ सुधारों के साथ स्वीकार कर लिया जाए परंतु उसे राजनीति का हिस्सा न बनाया जाए।

दूसरे वर्ग में वे विचारक आते हैं जो धर्म के पारंपरिक स्वरूप के कट्टर विरोधी माने जाते हैं, जैसे- जवाहरलाल नेहरू, एम.एन. रॉय इत्यादि। इनकी स्पष्ट मान्यता थी कि राजनीति में धर्म शामिल नहीं होना चाहिये। साथ ही, इनकी राय में परंपरागत धर्मों का विरोध करना भी आवश्यक है क्योंकि धर्म व्यक्ति को अंधविश्वासी, यथास्थितिवादी, सांप्रदायिक तथा प्रगतिविरोधी बना देता है। ध्यातव्य है कि नेहरू पारंपरिक धर्मों के विरोधी होते हुए भी 'वैज्ञानिक धर्म' (Scientific Religion) के समर्थक थे। उनका वैज्ञानिक धर्म किसी भी अलौकिक कल्पना या अंधविश्वास को खारिज करता है।

तीसरे वर्ग के चिंतकों ने धर्मनिरपेक्षता की पश्चिमी धारणा को अस्वीकार कर दिया। इनमें मुख्यतः चार विचारक शामिल हैं- महात्मा गांधी, डॉ. आबिद हुसैन, डॉ. राधाकृष्णन व भगवानदास।

गांधीजी का विचार इस दृष्टिकोण का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने धर्मनिरपेक्षता शब्द को ही खारिज कर दिया क्योंकि उनकी दृष्टि में धर्म के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। वेदांत दर्शन से प्रभावित होने के कारण वे मानते थे कि मनुष्य का परम उद्देश्य अपना आध्यात्मिक विकास करना है। वे संप्रदायनिरपेक्ष थे परंतु उनकी राय में धर्म से तटस्थ होना असंभव है। वे सर्वधर्मसमभाव के समर्थक थे जिसका अर्थ सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखना है। कुछ लोगों को यह विचार अव्यावहारिक प्रतीत हो सकता है; परंतु गांधीजी ने स्वयं इस विचार को आत्मसात् किया। उनका संपूर्ण जीवन इस विचार की संभाव्यता का प्रमाण है।

इस वर्ग के शेष चिंतकों ने गांधीजी द्वारा प्रस्तुत अवधारणा को ही स्वीकार किया किंतु धर्मनिरपेक्षता शब्द को खारिज न करते हुए उसकी व्याख्या इसी अर्थ में की।

डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'Recovery Of Faith' में लिखा है कि धर्मनिरपेक्षता का विचार भारत की प्राचीन परंपरा के अनुरूप ही है। इसके अंतर्गत यही प्रयास किया जाता है कि धर्मपरायण व्यक्तियों में सौहार्द्र की भावना हो तथा वैमनस्य न हो। डॉ. भगवानदास ने अपनी पुस्तक 'The Essential Unity Of All Religions' ('सभी धर्मों की तात्त्विक एकता') में यही विचार कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि धर्मनिरपेक्षता का वास्तविक अर्थ यही है कि सभी धर्मों के विरोधी तत्त्वों को हटाकर उस मार्ग पर चला जाए कि जो सभी धर्मों की समानता पर आधारित है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि, 'यह बात सभी मजहब मानते हैं कि खुदा एक है। सबसे बड़ा खुदा अल्लाह-अकबर, महादेव, परमेश्वर, परमात्मा, परब्रह्म- सबका अर्थ एक ही है।'

डॉ. आबिद हुसैन ने अपनी पुस्तक 'The National Culture of India' में स्पष्टतः बताया है कि धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ धर्म का विरोध करना, निरीश्वरवादी होना या इहलोकवादी होना नहीं अपितु सभी धर्मों के समन्वय का प्रयास करना है। उनका कथन है कि 'धर्मनिरपेक्षवाद का अर्थ अधार्मिकता, अनीश्वरवाद या भौतिक सुखों पर बल देना नहीं है। यह आध्यात्मिक मूल्यों की सार्वभौमिकता पर बल देता है, जिन्हें विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।'

स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षता की पश्चिमी तथा भारतीय धारणाएँ भिन्न हैं। आरंभिक उदारवादी चिंतक पश्चिमी अवधारणा से प्रभावित रहे हैं किंतु गांधी तथा अन्य गांधीवादी विचारकों ने इस अवधारणा को भिन्न अर्थ में

प्रस्तुत किया। इसका मूल कारण है कि ये विचारक धर्म की व्यापक अवधारणा के समर्थक हैं। ये मानते हैं कि धर्म मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक जीवन का विरोधी नहीं अपितु सहायक भी हो सकता है। भारत और पश्चिम में धर्म की ऐतिहासिक भूमिका भिन्न रही है। पश्चिमी समाज ने अंधकार युग में धर्म के निषेधात्मक स्वरूप को लंबे समय तक सहा है तथा कैथोलिक व प्रोटेस्टैंट पंथों के आपसी विरोध को भी। इसके विपरीत, भारत में धर्म का अर्थ महज मजहब नहीं रहा है। व्यापक अर्थों में धर्म को नैतिकता तथा स्वकर्तव्यपालन का समानार्थी माना गया है। यह धारणा मनुसंहिता, महाभारत, गीता, रामचरितमानस व गांधी साहित्य में स्पष्टतः विद्यमान है। इसके अतिरिक्त, धर्म का लचीला स्वरूप होने के कारण यहाँ धर्म उस प्रकार से प्रगति का विरोधी नहीं हुआ, जैसे- पश्चिम में। यही कारण है कि इन चिंतकों ने राजनीतिक स्तर पर संप्रदाय-निरपेक्षता या पंथनिरपेक्षता को स्वीकार करते हुए भी धर्मनिरपेक्षता के पश्चिमी अर्थ को स्वीकार नहीं किया।

वस्तुतः कोई भी अवधारणा किसी समाज में तभी सफल हो सकती है जब वह वहाँ की परंपराओं, सामाजिक संरचनाओं, संस्कारों, दर्शन व जीवन पद्धति के अनुकूल हो। धर्मनिरपेक्षता का विचार पश्चिमी समाजों के अनुकूल था तथा वहीं की ऐतिहासिक स्थितियों में निर्मित हुआ था। जब भारत में पश्चिमी सभ्यता का आगमन हुआ तो कई अन्य विचारों की तरह यह विचार भी प्रचलित हुआ। आरंभिक विचारकों ने उससे प्रभावित होकर उसे वैसा ही स्वीकार कर लिया। महात्मा गांधी व डॉ. राधाकृष्णन जैसे विचारकों को यह श्रेय जरूर मिलना चाहिये कि उन्होंने इस विचार को भारतीय समाज के अनुकूल बनाया और सिद्ध किया कि हमारी समस्याओं का समाधान धर्मनिरपेक्षता नहीं अपितु सामाजिक स्तर पर 'सर्वधर्मसमभाव' व राजनीतिक स्तर पर 'संप्रदाय-निरपेक्षता' है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा (*Concept of Secular State*)

किसी राज्य के धर्म के साथ चार प्रकार के संबंध हो सकते हैं जिनके आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। ये चार प्रकार के राज्य हैं- धर्मतंत्र (Theocracy), धर्म प्रभावित राज्य (Religion influenced state), धर्मविरोधी राज्य (Anti-religious state) तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular state)। धर्मतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें राज्य पूर्णतः धर्म के अधीन होता है। सामान्यतः ऐसे राज्यों में धर्म का प्रधान ही राज्य का प्रधान होता है और धार्मिक नियम ही राज्य के विधान होते हैं। वर्तमान में 'वेटिकन सिटी' और 'तिब्बत' धर्मतंत्र के प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं जहाँ क्रमशः पोप तथा दलाई लामा धर्म-प्रधान होने के कारण राज्याध्यक्ष हैं। धर्म प्रभावित राज्य वे हैं जहाँ राज्य धर्म के अधीन तो नहीं होता किंतु किसी धर्म विशेष से प्रभावित होता है। ऐसे राज्यों में सामान्यतः एक राजकीय धर्म होता है तथा राज्य की कुछ नीतियाँ भी इस धर्म के सिद्धांतों से प्रभावित होती हैं। ऐसे राज्यों में पाकिस्तान, सऊदी अरब, इजराइल इत्यादि प्रसिद्ध हैं। धर्म विरोधी राज्य में राज्य धर्म को पूर्णतः खारिज करता है और किसी भी व्यक्ति या समूह को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार नहीं मिलता है। साम्यवादी प्रणाली पर आधारित देशों में अक्सर ऐसा देखा गया है, जैसे भूतपूर्व सोवियत संघ और वर्तमान चीन।

धर्मनिरपेक्ष राज्य इन तीनों प्रकार के राज्यों से अलग होता है। वह न तो धर्म विशेष से प्रभावित होता है और न ही धर्म का निषेध करता है। किसी भी राज्य को धर्मनिरपेक्ष राज्य तभी कहा जा सकता है जब वह निम्नलिखित कसौटियों पर खरा उतरे-

1. धर्मनिरपेक्ष राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया जाता है। धार्मिक स्वतंत्रता में निहित है- अपने धर्म को मानने तथा उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता, धर्मांतरण की स्वतंत्रता, किसी भी धर्म को नहीं मानने की स्वतंत्रता और किसी मौलिक धर्म की स्थापना करने की स्वतंत्रता। यदि ये सभी अधिकार उपलब्ध हों तो उस राज्य को धार्मिक स्वतंत्रता देने वाला राज्य कहा जा सकता है।

2. धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्म तथा राज्य के कार्य-क्षेत्र पृथक् होते हैं और दोनों एक-दूसरे के क्षेत्र में दखल नहीं देते हैं। राज्य धर्म की मान्यताओं, कर्मकांडों तथा आस्थाओं में हस्तक्षेप नहीं करता हालाँकि किसी धार्मिक संस्था के धर्मनिरपेक्ष मामलों (जैसे- संपत्ति, कर आदि मामलों) में वह हस्तक्षेप कर सकता है। उदाहरण के लिये, भारत में कई प्रसिद्ध मंदिरों की व्यवस्था राज्य खुद संचालित करता है, उनके खातों का परीक्षण भी करता है किंतु धार्मिक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करता। इसी प्रकार धर्म से भी अपेक्षा होती है कि वह राज्य के कार्यों में बाधा न पहुँचाए।
3. धर्मनिरपेक्ष राज्य में राज्य की शक्ति धर्म से अधिक होती है। इसका अर्थ यह है कि यदि राज्य और धर्म में किसी मुद्दे पर टकराव हो ही जाए तो राज्य धर्म को नियंत्रित करता है, न कि धर्म राज्य को।
4. अंतिम कसौटी यह है कि राज्य विभिन्न धर्मों के नागरिकों के साथ बिना किसी भेदभाव के समान तरीके से व्यवहार करता है। तात्पर्य यह है कि राज्य और व्यक्ति के संबंधों में धर्म की मध्यस्थता नहीं होती है। इस बात का ख्याल किये बिना कि व्यक्ति किस धर्म का पालन करता है, राज्य उसके साथ एक सामान्य नागरिक के रूप में व्यवहार करता है।

क्या भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है? (Is India a Secular State?)

अब प्रश्न यह है कि क्या भारतीय राज्य को धर्मनिरपेक्ष माना जा सकता है? समाज-दार्शनिकों की औसत राय यही है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है हालाँकि भारतीय राज्य की कुछ विशेषताएँ इस संबंध में कुछ समस्याएँ भी पैदा करती हैं। सर्वप्रथम, ऐसे कुछ लक्षणों की सूची बनाई जा सकती है जो भारतीय राज्य को धर्मनिरपेक्ष सिद्ध कर सकते हैं—

1. भारत के संविधान में किसी भी धर्म को राजकीय धर्म का दर्जा नहीं दिया गया है और न ही राज्य के प्रतीकों, जैसे- राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रगीत इत्यादि में धार्मिक मान्यताओं को शामिल किया गया है।
2. भारत में धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार बेहद प्रभावी ढंग से दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का प्रचार कर सकता है हालाँकि सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि उसे छल-कपट के द्वारा दुष्प्रचार करने की स्वाधीनता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अंतरात्मा के अनुसार धर्मांतरण भी कर सकता है हालाँकि छल-कपट, लालच और भय के द्वारा धर्मांतरण को प्रोत्साहित करने पर रोक लगाई गई है। इतना ही नहीं, यदि कोई व्यक्ति पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष होकर सभी धर्मों का निषेध करना चाहे तो 1954 ई. के विशेष विवाह अधिनियम जैसे प्रावधानों में उसके अधिकारों की रक्षा भी की गई है। कोई व्यक्ति अपना नया धर्म भी बनाना चाहे तो उस पर रोक नहीं है। पिछले कुछ समय में ओशो राजनीश, महेश योगी तथा श्री रविशंकर ने ऐसे प्रयास किये हैं जो आगे चलकर नवीन धर्म का रूप ले सकते हैं।
3. भारत में धर्म और राज्य के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हैं। धर्म से संबंधित धर्मनिरपेक्ष कार्यों में राज्य अपनी भूमिका निभाता है (उदाहरण के लिये, कुम्भ का मेला हो या मुहर्रम का जुलूस, राज्य पूरी व्यवस्था करता है कि शांति व्यवस्था भंग न हो) किंतु, धार्मिक आस्थाओं व विधि-विधानों में राज्य हस्तक्षेप नहीं करता। जब कभी धर्म ने राज्य की शांति-व्यवस्था पर खतरा उत्पन्न किया है, तब राज्य ने अपनी सर्वोच्चता भी साबित की है, जैसे स्वर्ण मंदिर के 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' में।
4. भारतीय राज्य शिक्षा के स्तर पर भी धर्मनिरपेक्षता का ध्यान रखता है। राज्य द्वारा संचालित किसी भी शिक्षण संस्थान में किसी अभ्यर्थी को धार्मिक आधार पर प्रवेश से नहीं रोका जा सकता। इसी प्रकार, राज्य द्वारा सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थानों में किसी धर्म-विशेष की प्रार्थना आयोजित नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त, धार्मिक संस्थाओं द्वारा चलाए जाने वाले विद्यालयों में भी किसी भिन्न धर्म के विद्यार्थी को प्रार्थना में भाग लेने के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता।

5. सामान्यतः भारतीय राज्य सभी नागरिकों के साथ एक समान व्यवहार करता है। संविधान में स्पष्टतः कहा गया है कि किसी भी नागरिक को केवल धर्म, जाति, लिंग के आधार पर भेदभाव का पात्र नहीं बनाया जाएगा। भारत के आपराधिक कानून भी सभी नागरिकों के लिये समान हैं।

किंतु, भारतीय राज्य में कुछ ऐसे लक्षण भी हैं जो इसके धर्मनिरपेक्ष चरित्र पर प्रश्न खड़ा कर देते हैं। ऐसे कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—

1. भारतीय राज्य अल्पसंख्यक धर्मों की शिक्षण संस्थाओं को विशेषाधिकार प्रदान करता है। संविधान के अनुच्छेद 30 में कहा गया है कि यदि राज्य किसी अल्पसंख्यक धर्म की शिक्षण संस्था का अधिग्रहण करता है तो उसे 'क्षतिपूर्ति' (Compensation) देनी होगी। इस प्रावधान में निहित है कि यदि बहुसंख्यकों की शिक्षा संस्था का अधिग्रहण होता है तो राज्य अपने विवेक से कुछ राशि (Amount) देगा, किंतु क्षतिपूर्ति (Compensation) देने के लिये बाध्य नहीं होगा। बहुसंख्यक धर्म के कई समर्थक इसे धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध मानते हैं।
2. भारत में समान आपराधिक संहिता तो लागू है किंतु समान नागरिक संहिता (Uniform Civil Code) नहीं। इस कारण, नागरिक जीवन के प्रमुख विषयों जैसे विवाह, तलाक और उत्तराधिकार आदि का निर्णय प्रत्येक धर्म के अपने विधानों के अनुसार होता है। हिंदू समाज एकमात्र समाज है जिसके लिये संसद में 1955 ई. में 'हिंदू कोड बिल' पारित किया गया, जिससे हिंदू महिलाओं के अधिकार काफी हद तक पुरुषों के बराबर हो गए। बाकी धर्मों, मुख्यतः इस्लाम धर्म के अधिकांश सामाजिक नियम संसद से पारित नहीं हुए हैं बल्कि धार्मिक प्रतिनिधियों द्वारा ही बनाए गए हैं। इसका दुखदायी परिणाम मुस्लिम महिलाओं को झेलना पड़ता है क्योंकि उनका पति उन्हें तलाक दे सकता है, वह उन्हें गुजारा भत्ता देने को बाध्य नहीं है और वह एक साथ चार महिलाओं से विवाह भी कर सकता है। माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने शाह बानो मामले में इस व्यवस्था को खारिज करते हुए आंशिक रूप से समान नागरिक संहिता को लागू कर दिया था किंतु तत्कालीन सरकार ने अपने बहुमत से उस निर्णय को पलट दिया। समान नागरिक संहिता का अभाव सचमुच धर्मनिरपेक्ष चरित्र के लिये एक चुनौती है।
3. पिछले कुछ वर्षों से कुछ राज्य सरकारें अल्पसंख्यक धर्मों के व्यक्तियों को नौकरियों में आरक्षण देने का प्रयास कर रही हैं जो पुनः एक विशेषाधिकार का मामला नज़र आता है। ध्यातव्य है कि भारत की आरक्षण व्यवस्था में सभी धर्मों के पिछड़े लोग आरक्षण के हकदार हैं। उदाहरण के लिये, बहुत से मुसलमान अन्य पिछड़े वर्ग में शामिल हैं और आरक्षण का लाभ उठाते हैं। ऐसी स्थिति में पूरे धर्म को आरक्षण योग्य समुदाय मान लेना धर्मनिरपेक्ष चरित्र के खिलाफ दिखता है। न्यायपालिका ने भी सामान्यतः यही राय प्रस्तुत की है।
4. भारतीय राज्य कुछ धार्मिक यात्राओं के लिये सब्सिडी देता है, जैसे— हज़ यात्रा। धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला होता है, इसलिये राज्य द्वारा धार्मिक यात्राओं के लिये सब्सिडी देना धर्मनिरपेक्षता से सुसंगत नहीं दिखता। हाल ही में, न्यायपालिका ने भी इस व्यवस्था पर गंभीर सवाल खड़े किये हैं।
5. एक अन्य आक्षेप है कि भारतीय राज्य के अधिकांश अवकाश धार्मिक त्यौहारों के अवसरों पर होते हैं जो कि धर्मनिरपेक्षता के खिलाफ है।
6. कुछ आलोचकों के अनुसार भारतीय राजनीति भी धर्म से मुक्त नहीं है। बहुत सारे दल किसी धर्म विशेष को आधार बनाकर राजनीति करते हैं, चुनाव के समय धार्मिक आधार पर मतदाताओं को प्रभावित करते हैं और कई नेता तो सवैधानिक पदों पर रहते हुए भी धार्मिक प्रक्रियाओं में सक्रिय सहभागिता करते हैं।

निष्कर्ष

प्रश्न उठता है कि इन सारी सीमाओं के बावजूद क्या भारतीय राज्य को धर्मनिरपेक्ष कहा जा सकता है? दरअसल, उपरोक्त सीमाओं में कुछ वास्तविक हैं जबकि कुछ भ्रामक। भारतीय राज्य धर्मनिरपेक्ष न होकर

पंथनिरपेक्ष है अर्थात् वह धर्म से दूर नहीं रहता; सिर्फ पंथ विशेष का समर्थन करने से बचता है। जहाँ तक अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं की बात है, वह विशेषाधिकार संरक्षणात्मक भेदभाव (Protective Discrimination) की नीति का हिस्सा है। चूँकि अल्पसंख्यकों के लिये अपनी संस्कृति की रक्षा करना तुलनात्मक रूप से ज्यादा कठिन होता है, इसलिये उन्हें यह छूट दी गई है।

जहाँ तक हज यात्रा का प्रश्न है, इसमें भी विशेष समस्या नहीं है, क्योंकि राज्य किसी एक धर्म का पक्ष नहीं लेता बल्कि सभी धर्मों के गरीब व्यक्तियों को उनकी धार्मिक इच्छाएँ पूरी करने में सहायता करता है। 'मानसरोवर यात्रा' के लिये भी राज्य कई सुविधाएँ प्रदान करता है।

समान नागरिक संहिता का न होना सचमुच एक समस्या है, क्योंकि इसके अभाव के कारण राज्य सभी धर्मों के नागरिकों के साथ बराबरी का व्यवहार नहीं कर पाता है। कोशिश की जानी चाहिये कि जितना जल्दी हो सके इसे लागू किया जाए। शुरुआत में इसे वैकल्पिक तौर पर भी लागू किया जा सकता है।

जहाँ तक आरक्षण का प्रश्न है, यह किसी धर्म विशेष के सभी सदस्यों को नहीं बल्कि सभी धर्मों के पिछड़े लोगों को मिलना चाहिये। पूरे धर्म को आरक्षण देने से एक ओर धर्मनिरपेक्षता खण्डित हो जाएगी तो दूसरी ओर उस धर्म के संपन्न लोग उसका सारा फायदा उठा लेंगे। इसीलिये पिछड़े हुए मुसलमानों के एक संगठन 'पसमांदा महाज' ने खुद धार्मिक आरक्षण का विरोध किया है और इसे पसमांदा (Converted) मुसलमानों तक सीमित करने का तर्क दिया है।

जहाँ तक राजकीय छुट्टियों का प्रश्न है, पाँचवे वेतन आयोग की इस सिफारिश को मान लेना चाहिये कि राष्ट्रीय अवकाश केवल तीन हों। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कर्मचारी को लगभग 15 छुट्टियाँ मिलें जिन्हें वे अपने-अपने त्यौहारों के अनुसार ले सकें और यदि कोई धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति हो तो वह अपने तरीके से छुट्टियाँ का लाभ ले सके।

कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि कुछ सीमाओं के बावजूद भारत दुनिया के सफल धर्मनिरपेक्ष राज्यों में से एक है। हमें ध्यान रखना चाहिये कि इंग्लैंड और नॉर्वे जैसे विकसित देश भी अभी तक धर्मप्रभावित राज्यों की कोटि से बाहर नहीं निकल पाए हैं। इंग्लैंड की महारानी अभी भी वैधानिक तौर पर ऐंग्लिकन चर्च की संरक्षक है जबकि नॉर्वे की संसद में आधे सदस्यों का 'लूथरियन' चर्च से जुड़ा होना अब भी अनिवार्य है। इस दृष्टि से नवस्वाधीन देश के तौर पर भारत की स्थिति प्रशंसनीय है।

राजनीति व धर्म का संबंध

राजनीति और धर्म के संबंधों के बारे में राजनीति दर्शन में दो मत प्रसिद्ध हैं। प्रथम के अनुसार राजनीति में धर्म पूर्णतः निषिद्ध होना चाहिये, जबकि दूसरे मत के अनुसार राजनीति के उचित संचालन हेतु उसका धर्म से संबंध होना अनिवार्य है।

राजनीति से धर्म अलग होना चाहिये, यह मत पश्चिम के चिंतकों में ज्यादा प्रचलित रहा है। मध्यकाल में राजनीति पूरी तरह धर्म के नियंत्रण में थी जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास न हो पाने के कारण मध्यकाल अंधकार काल बन गया। आधुनिक काल में 16वीं सदी में मैकियावली ऐसा दार्शनिक हुआ जिसने राजनीति व धर्म की पृथक्ता का सिद्धांत प्रस्तुत किया। लगभग इसी समय हॉब्स व बोदौ ने तथा 19वीं सदी में ऑस्टिन ने यही विचार दिया। वस्तुतः आधुनिक काल के सभी उदारवादी व समाजवादी दार्शनिक इस बिंदु पर सहमत हैं कि राजनीति में धर्म की भूमिका नहीं होनी चाहिये।

भारतीय राजनीतिक चिंतन में यही मत कुछ आधुनिक विचारकों जैसे जवाहर लाल नेहरू, एम.एन. रॉय तथा सुभाष चन्द्र बोस ने व्यक्त किया है। इनका स्पष्ट मत है कि राजनीति में धर्म की भूमिका अस्वीकार्य है। नेहरू के अनुसार राजनीति का संबंध इहलौकिक तथा भौतिक जीवन से है जबकि धर्म का संबंध पारलौकिक

तथा अभौतिक जीवन से है। राजनीतिक प्रक्रिया मनुष्य की तर्कबुद्धि पर आधारित है जबकि धर्म तर्क के परे हमारी आस्थाओं पर टिका है। नेहरू का मत है कि राजनीति समाज के जीवन पर व्यापक प्रभाव डालती है और यदि धर्म उसमें शामिल होता है तो उसका अनिवार्य परिणाम सांप्रदायिकता के रूप में दिखता है। वस्तुतः स्वाधीनता संग्राम के दौरान नेहरू को कई ऐसे अनुभव हुए थे जहाँ धार्मिक हस्तक्षेप के कारण राजनीति अपने उद्देश्यों से विचलित हो गई थी। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि नेहरू धर्म के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म का संबंध व्यक्तिगत जीवन से होना चाहिये, न कि सामाजिक जीवन से। उन्होंने 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में कई जगह लिखा है कि धर्म मनुष्य के जीवन में बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि मानवीय जीवन की सार्थकता, प्रयोजन जैसे प्रश्नों के उत्तर विज्ञान नहीं, धर्म ही दे सकता है। अतः उन्होंने 'वैज्ञानिक धर्म' की धारणा प्रस्तुत की। यह एक ऐसा धर्म है जो अलौकिक तथा रूढ़िवादी मान्यताओं पर आधारित न होकर वैज्ञानिक मनोवृत्ति पर आधारित है।

दूसरे प्रकार के विचारक मानते हैं कि राजनीति में धर्म की भूमिका वांछनीय है। यह विचार दो प्रकार के चिंतकों का है। कुछ चिंतक ऐसे हैं जो किसी धर्म विशेष में आस्था रखते हैं और मानते हैं कि धर्म का संचालन उस धर्म के अनुकूल होना चाहिये। वेटिकन सिटी, सऊदी अरब, तिब्बत, पाकिस्तान, ईरान आदि राज्यों में राजकीय नीतियों में धर्म की ऐसी ही भूमिका प्रबल रूप में दिखती है।

गांधीजी भी राजनीति में धर्म की भूमिका उचित मानते हैं पर वे उपरोक्त चिंतकों से सहमत नहीं हैं। गांधीजी वेदांती दार्शनिक हैं और उनका मानना है कि संपूर्ण जगत व उसके विभिन्न तत्व परमतत्त्व की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रत्येक प्राणी का अंतिम उद्देश्य आध्यात्मिक विकास की उपलब्धि करना है जो उसके स्वधर्म के अनुकूल ही होना चाहिये। समाज की कोई भी संस्था या व्यवस्था वहीं तक स्वीकार्य है जहाँ तक वह प्रत्येक व्यक्ति की आत्मिक या आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो। अर्थव्यवस्था, राजनीति, समाजव्यवस्था-सभी का मूल्यांकन इसी कसौटी पर हो सकता है। स्पष्ट है कि इस मत के अनुसार राजनीति स्वायत्त नहीं है। उसका उद्देश्य प्रत्येक मानव की आध्यात्मिक उन्नति में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। यह तभी हो सकता है जब धर्म न सिर्फ राजनीति में शामिल हो अपितु राजनीति पूर्णतः धर्म के नियंत्रण में हो। इसी विचार को व्यक्त करने के लिये उन्होंने कहा कि "धर्मविहीन राजनीति मृत देह के समान है जिसे जला देना चाहिये।"

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गांधी व नेहरू में गहरा मतभेद है। नेहरू जिस धर्म का विरोध कर रहे हैं वह 'Religion' या 'मजहब' वाले अर्थ में है। गांधीजी खुद इस बात के पक्ष में थे कि राजनीति में सांप्रदायिकता को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये। सांप्रदायिकता के विरुद्ध तो सबसे बड़ा युद्ध स्वयं उन्होंने लड़ा। वे राजनीति में जिस धर्म को चाहते थे वह धर्म की व्यापक अवधारणा के अनुरूप है। यहाँ धर्म नैतिकता, स्वकर्तव्यपालन या अभ्युदय का समानार्थी है जो भारतीय परंपरा में मनुस्मृति, महाभारत, गीता, रामचरितमानस आदि रचनाओं तथा साधारण जीवन की भाषायी उक्तियों में दिखाई पड़ता है।

धर्मनिरपेक्ष समाज की धारणा (*Notion of Secular Society*)

धर्मनिरपेक्षता एक गतिशील संप्रत्यय है जिसका प्रयोग राजनीतिक, सामाजिक तथा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। जब इस संप्रत्यय का प्रयोग समाज के संबंध में करते हैं तो इसका अर्थ बदल जाता है। कुछ प्रमुख सामाजिक दार्शनिकों ने धर्मनिरपेक्षता के इस पक्ष पर विस्तृत चिंतन किया है जिनमें प्रमुख हैं- हार्वे कौक्स, रॉबर्ट बेला तथा ब्रायन आर. विल्सन। ब्रायन विल्सन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Religion In A Secular Society' तथा हार्वे कौक्स ने अपनी पुस्तक 'The Secular Society' में धर्मनिरपेक्षता के सामाजिक पक्ष का सूक्ष्म विश्लेषण किया और शेष चिंतकों ने भी मोटे तौर पर वैसी ही मान्यताएँ रखी हैं। भारत में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी इस पर विस्तृत चिंतन किया है।

यदि इन सभी विचारकों की धारणाओं का संश्लेषण करें तो धर्मनिरपेक्ष समाज की पहचान के लिये कुछ कसौटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं—

1. ऐसे समाज में धार्मिक संस्थाओं का महत्त्व काफी कम हो जाता है। जैसे- वर्तमान समय में यूरोप में चर्च का महत्त्व सिर्फ प्रतीकात्मक है, न कि वैसा जैसा मध्यकाल में था।
2. व्यक्तियों में इहलौकिक प्रगति के प्रति अधिक रुझान दिखने लगता है। उनके लिये आर्थिक व सामाजिक उद्देश्य पारलौकिक उद्देश्यों से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।
3. यह ज़रूरी नहीं है कि ऐसे देश या समाज के सभी लोग ईश्वर व धर्म में आस्था न रखें। वस्तुतः अमेरिका व इंग्लैंड में एक सर्वेक्षण के अनुसार 90% से अधिक लोग ईश्वर में आस्था रखते हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि धर्म व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन का पक्ष बनकर रहे, न कि उसकी सामाजिक पहचान बन जाए।
4. ऐसे समाज में धार्मिक सहिष्णुता व सर्वधर्मसद्भाव का मूल्य अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। इन समाजों में विभिन्न धर्मों के लोग साथ-साथ रहते हैं व सभी शांतिपूर्ण सहअस्तित्व पर बल देते हैं। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की यह भावना ही धार्मिक बहुलवाद (Religious Pluralism) व धार्मिक सहिष्णुता जैसे मूल्यों को बढ़ाती है।
5. ऐसे समाज में धार्मिक प्रतीकों की पवित्रता व उनके प्रति कट्टरता की भावना काफी कम होती है।
6. ऐसे समाज में विज्ञान व तकनीक के प्रति अधिक रुझान होता है तथा व्यक्तियों की मनोवृत्ति वैज्ञानिक होने लगती है।
7. ऐसे समाज में नैतिक नियमों में धार्मिक तत्त्वों का महत्त्व कम होने लगता है तथा धर्मनिरपेक्ष व उपयोगितावादी कसौटियाँ महत्त्वपूर्ण होने लगती हैं।

क्या भारत धर्मनिरपेक्ष समाज है? (Is India a Secular Society?)

भारत में धार्मिक संस्थाओं का महत्त्व बहुत कम है। यह प्रवृत्ति हमेशा से भारत में रही है। विशेषकर हिंदू धर्म में संगठनात्मक पक्ष बेहद विकेंद्रित है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक लोचशीलता के कारण धर्म का संस्थात्मक पक्ष हमेशा से कमजोर रहा है। यह विशेषता पश्चिम की 'धर्मनिरपेक्षता' के प्रभाव से नहीं आई है बल्कि हमेशा से रही है। तब भी, कुछ हिंदू पंथों व अल्पसंख्यक धर्मों का संस्थात्मक पक्ष मज़बूत बना हुआ है, यथा- अकाल तख़्त (सिक्ख धर्म), देवबंद व मौलवी एवं उलेमा (मुस्लिम धर्म)।

भारत की युवा आधुनिक पीढ़ी, जिसके पास वैज्ञानिक शिक्षा व सांसारिक महत्त्वाकांक्षाएँ हैं, वह पारलौकिक मान्यताओं से मुक्त हो रही है। किंतु, ऐसे व्यक्तियों की संख्या भारत में कम है। भारत की अधिकांश आबादी गाँवों में बसती है जो तकनीकी व वैज्ञानिक शिक्षा से वंचित है तथा धर्म को जीवन की धुरी मानती है।

भारत का सामान्य स्वभाव धार्मिक सहिष्णुता से युक्त है। आधुनिक काल में यद्यपि राजनीतिक कारणों से सांप्रदायिकता को उभारा गया है किंतु यह भारत का मूल स्वभाव नहीं है। हमें यह ज़रूर मानना होगा कि भारतीय समाज मूलतः सर्वधर्मसद्भाव के सिद्धांत पर टिका है। यह पश्चिम से सीखा गया विचार नहीं बल्कि हमारी विरासत है।

धर्म व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक सीमित नहीं है। सामान्यतः व्यक्ति की सामाजिक पहचान, जीवन मूल्य व कभी-कभी सामाजिक ध्रुवीकरण भी उसके धर्म से तय होता है। किंतु बड़े शहरों में, विशेष रूप से आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी शिक्षा से संपन्न क्षेत्रों में धर्म सामाजिक पहचान नहीं बनता है।

धार्मिक प्रतीकों के प्रति पवित्रता का भाव अभी भारतीय समाज में काफी मात्रा में बचा हुआ है।

वैज्ञानिक प्रगति भी सीमित है किंतु यह प्रवृत्ति निरंतर बढ़ रही है। भारती अभी संक्रमण काल से गुज़र रहा है किंतु प्रक्रिया आशानुकूल है।

अभी भारत के पारंपरिक समाज में नैतिकता धर्म से अलग नहीं हो पाती है पर शहरों में, विशेषकर उच्च शिक्षा संपन्न वर्गों में उपयोगितावादी मूल्य नीतिमीमांसा के केंद्र में आने लगे हैं।

कुल मिलाकर, भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। इसका धर्म केंद्रित स्वभाव धीरे-धीरे बदल रहा है पर अभी इसे पूर्णतः 'धर्मनिरपेक्ष' बनने में एक लंबा समय जरूर लगेगा।

विभिन्न धर्मों का पारस्परिक संबंध (*Relation among different Religions*)

समाज दर्शन तथा धर्मदर्शन की एक प्रमुख समस्या है- विभिन्न धर्मों का आपसी विरोध तथा संघर्ष। वर्तमान समय में दर्शन सिर्फ ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा व नीतिमीमांसा के सैद्धांतिक पक्षों तक सीमित नहीं है। अब वह व्यावहारिक दर्शन बन चुका है। इसलिये विश्व में विद्यमान धार्मिक वैमनस्य तथा सांप्रदायिकता जैसी समस्याओं को सुलझाने के लिये वह अपनी ओर से कई समाधान प्रस्तावित करता है। इन समाधानों में 'धर्मनिरपेक्षता' (Secularism) के अतिरिक्त 'धार्मिक सहिष्णुता' (Religious Tolerance), 'सर्वधर्मसद्भाव' (Religious Harmony), 'सर्वधर्मसमभाव' (Equal Treatment to all religions) तथा 'सर्वधर्मसमन्वय' (Religious Synthesis) महत्त्वपूर्ण हैं।

सामान्यतः समाज दार्शनिकों की राय है कि धार्मिक संघर्षों का वास्तविक समाधान 'धर्मनिरपेक्षता' (Secularism) से ही हो सकता है। यदि समाज के सभी सदस्य चेतना के स्तर पर धर्मनिरपेक्ष हो जाए अर्थात् धार्मिक आस्थाओं और विश्वासों से तटस्थ होकर 'वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि' के आधार पर जीवन जियें तो धार्मिक तनाव की समस्या पूर्णतः समाप्त हो सकती है। किंतु, समाज-दार्शनिक इस तथ्य से भलीभाँति वाकिफ हैं कि धर्म को मानवीय चेतना से हटाना सरल नहीं है। यह एक ऐसा उद्देश्य है जिसका पूरा होना यदि संभव है, तो भी एक बहुत लंबे समय में। अतः पूरे समाज के स्तर पर वही समाधान लागू हो सकते हैं जो जनसाधारण की मानसिक स्थिति के अनुकूल हों अर्थात् उनके धार्मिक विश्वासों को बनाए रखते हुए धार्मिक संघर्ष और तनाव को रोकने में सक्षम हों।

इस दृष्टिकोण से सबसे पहला विकल्प 'धार्मिक सहिष्णुता' (Religious Tolerance) का है। सहिष्णुता एक 'नकारात्मक' शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है- 'एक-दूसरे के प्रति सहनशील होना।' इस दृष्टि से धार्मिक सहिष्णुता का अर्थ हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का सम्मान करते हुए अन्य धर्मों के प्रति भी सहनशील रहे ताकि उनमें पारस्परिक टकराव की स्थिति पैदा न हो। सामी धर्मों में धार्मिक सहिष्णुता का विचार इसी रूप में शामिल किया गया है क्योंकि इन धर्मों में 'धार्मिक व्यावर्तवाद' (Religious Exclusivism) के तत्त्व प्रबल हैं। ऐसी मानसिकता में किसी धर्म का अनुयायी दूसरे धर्मों को स्वीकार नहीं कर पाता। वह अधिक-से-अधिक उनके प्रति सहनशील हो सकता है, उनसे प्रेम करना उसे कठिन लगता है। धार्मिक सहिष्णुता का एक व्यापक अर्थ भी है जो मुख्यतः बौद्ध तथा जैन धर्मों में दिखता है। इन दोनों धर्मों में सहिष्णुता पर काफी बल दिया गया है, जिसमें सिर्फ टकराव से बचने का विचार नहीं है बल्कि उसके साथ-साथ पारस्परिक सद्भाव की भावना भी शामिल है।

धार्मिक संघर्षों से बचने के लिये दूसरा विकल्प है- 'सर्वधर्मसद्भाव' (Religious Harmony)। यह धार्मिक सहिष्णुता के व्यापक तथा सकारात्मक अर्थ को ही प्रस्तुत करता है। इसका अर्थ है कि सभी धर्मों के लोग अपने धर्म में आस्था रखते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सम्मान, प्रेम तथा सद्भाव जैसी भावना से युक्त रहें। ध्यातव्य है कि इस विकल्प में अन्य धर्मों का महत्त्व व्यक्ति के अपने धर्म के बराबर नहीं होता, उनके महत्त्व में थोड़ा बहुत अंतर बना रहता है। 'सर्वधर्मसद्भाव' की उपलब्धि का सबसे प्रचलित मार्ग है- 'धार्मिक सहभागिता' (Religious Participation)। इसमें कोशिश की जाती है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने

धार्मिक उत्सवों के साथ-साथ अन्य धर्मों के उत्सवों में भी भाग लें और विभिन्न धार्मिक समूहों में सामाजिक अंतर्क्रियाएँ बढ़ाई जाएँ। इसमें यह विश्वास निहित है कि जब विभिन्न धर्मों के लोगों में परिचय बढ़ेगा, वे एक-दूसरे के धर्म को जान सकेंगे तो उनके कई दुराग्रह अपने आप खत्म होंगे और वे अन्य धर्मों का भी सम्मान करने लगेंगे। भारत सरकार 'सर्वधर्म सद्भाव' के मूल्य पर अधिक बल देती है। विभिन्न धार्मिक त्यौहारों पर राजकीय अवकाश देने के पीछे मूल तर्क यही है कि सभी धर्मों के लोग उस उत्सव से जुड़ाव महसूस कर सकें।

'सर्वधर्म समभाव' (Equal Treatment with all Religions) महात्मा गांधी का विचार है। गांधीजी ने धर्मनिरपेक्षता की धारणा को खारिज करते हुए इस विचार को प्रासंगिक माना। 'सर्वधर्म समभाव' का अर्थ है- सभी धर्मों को समान समझने का भाव या सभी धर्मों को समान भाव से देखने की दृष्टि। यह 'सर्वधर्मसद्भाव' से अलग है क्योंकि इसमें व्यक्ति जितना सम्मान अपने धर्म का करता है, ठीक उतना ही सम्मान अन्य धर्मों का करता है। वह मानता है कि सभी धर्म ईश्वर की ओर जाने वाले मार्ग हैं और वे सभी समान रूप से उचित व महान हैं। वह किस धर्म से जुड़ा है, यह सिर्फ संयोग का विषय है। यदि वह किसी और धर्म में होता तो भी उसके लिये ईश्वर की उपलब्धि उतनी ही सहज होती। गांधीजी ने स्पष्टतः घोषणा करते हुए कहा है कि "जैसे मैं गीता पर विश्वास रखता हूँ, वैसे ही बाइबिल और कुरान में विश्वास रखता हूँ।" ध्यातव्य है कि सर्वधर्मसमभाव के समर्थक 'धर्मांतरण' (Conversion or Proselytization) का निषेध करते हैं क्योंकि इनका दावा है कि यदि सभी धर्म समान हैं तो धर्मांतरण निरुद्देश्य है। गांधीजी ने अपनी लघु पुस्तिका "यदि मैं तानाशाह होता" में साफ लिखा है कि "यदि मैं तानाशाह होता तो मैं पहले ही दिन ईसाई मिशनरियों को देश से बाहर निकाल देता क्योंकि मैं धर्मांतरण का पूर्णतः विरोधी हूँ।"

धार्मिक संघर्ष की समाप्ति का एक अन्य विकल्प **'सर्वधर्म समन्वय' (Religious Synthesis)** है। इसका उद्देश्य है एक या एक से अधिक धर्मों को मिलाकर एक ऐसा धर्म तैयार करना जिसे विश्व के सभी लोग स्वीकार कर लें। इसका तर्क है कि यदि विश्व में सिर्फ एक धर्म रहेगा तो धार्मिक संघर्ष और तनाव अपने आप समाप्त हो जाएंगे। समाज दर्शन में 'सर्वधर्म समन्वय' के अंतर्गत सामान्यतः तीन विकल्पों पर चर्चा की जाती है जो निम्नलिखित हैं-

- 1. एकवादी या एकाधिपत्यवादी सिद्धांत (Monistic Principle):** इस सिद्धांत के समर्थक मानते हैं कि विश्व धर्म का निर्माण तभी हो सकता है जब सभी धर्मों के अनुयायी एक धर्म की सर्वोच्चता या श्रेष्ठता को स्वीकार कर लें और अपने धार्मिक विश्वासों को त्यागकर उसमें शामिल हो जाएँ। यह विचार मूलतः दो सामी धर्मों- ईसाई व इस्लाम के रूढ़िवादी विचारकों का है हालाँकि कहीं-कहीं अन्य धर्मों में भी झलक जाता है। जॉन हिक ने अपने 'धार्मिक बहुलवाद' (Religious Pluralism) संबंधी लेख में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है और पारंपरिक ईसाइयत तथा इस्लाम में इसके अनेक उदाहरण दिखाए हैं।
- 2. एकशिलात्मक सिद्धांत (Monolithic Principle):** इस सिद्धांत के समर्थक मानते हैं कि विश्व धर्म तभी बन सकता है जब विश्व के अधिकांश धर्मों के विश्वासों को आपस में समन्वित किया जाए। किंतु, ये विचारक सभी धर्मों को समान महत्त्व नहीं देते। इनका मानना है कि एक धर्म को मूल आधार बनाया जाना चाहिये तथा शेष धर्मों की प्रासंगिक विशेषताओं को उसके साथ शामिल कर लेना चाहिये। इस विचार का समर्थन कुछ ईसाई व कुछ हिंदू विचारकों ने किया है। ईसाई धर्म को विश्व धर्म का आधार बनाने का विचार मुख्यतः एफ.एस. फरे व डब्ल्यू.ई. हॉकिंग ने दिया है। फरे के अनुसार ईसाई धर्म में निहित 'प्रेम' व 'करुणा' के तत्त्व ऐसे हैं जो विश्व धर्म का आधार बन सकते हैं। इसके विपरीत, हॉकिंग के अनुसार ईसाई धर्म को प्राथमिकता इसलिये मिलनी चाहिये, क्योंकि इसी धर्म ने आधुनिक सभ्यता की चुनौतियों को सहा है और अत्यधिक विकसित होने के कारण यह भविष्य में विकास की संभावनाओं

को धारण करता है। हॉकिंग के अनुसार अन्य धर्मों जैसे हिंदू धर्म के कुछ सिद्धांत भी यदि इसमें जुड़ जाएँ तो यह विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म बन सकता है। इस विचार के अन्य समर्थकों में रुडोल्फ औटो, हाइलर तथा प्रो. गैलोवे शामिल हैं।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने हिंदू धर्म के आधार पर एकशिलात्मक सिद्धांत का विचार दिया है। उन्होंने अद्वैत वेदांत को आधार बनाकर कहा कि हमें मान लेना चाहिये कि परमतत्त्व निर्गुण (जिसकी गुणों के आधार पर व्याख्या नहीं हो सकती अर्थात् गुणातीत) है। सभी धर्मों के आपसी विरोध उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याओं की वजह से हैं। यदि हिंदू धर्म के इस विचार को मान लिया जाए तो सभी धर्मों में पारस्परिक सहयोग का संबंध स्थापित किया जा सकता है। ध्यातव्य है कि जॉन हिक, पॉल टिलिक, स्मिथ आदि ने इसी विचार को 'धार्मिक बहुलवाद' (Religious Pluralism) कहा है।

3. **तात्त्विक या एकधर्मत्व सिद्धांत (Essentialistic Principle):** डॉ. भगवानदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सभी धर्मों की तात्त्विक एकता' (Essential Unity of all Religions) में यह विचार दिया है। इस सिद्धांत के अनुसार सभी धर्मों में समन्वय करने के लिये विभिन्न धर्मों की विशेषताओं का मिश्रण करने की जरूरत नहीं है बल्कि सिर्फ यह समझ लेना जरूरी है कि अंतिम रूप से सभी धर्म एक ही हैं। भगवानदास के अनुसार प्रत्येक धर्म के दो पक्ष- 'बाह्य' (Extrinsic) तथा 'आंतरिक' (Intrinsic) होते हैं। बाह्य पक्ष के अंतर्गत सारी मिथकीय धारणाएँ तथा कर्मकांड शामिल होते हैं जबकि आंतरिक पक्ष में आस्था, धार्मिकता की भावना तथा पवित्रता जैसे तत्त्व होते हैं। उनका दावा है कि सभी धर्मों के आपसी अंतर बाहरी स्तर पर ही हैं, न कि आंतरिक स्तर पर। यदि सभी धर्मों के अनुयायियों को यह बात समझायी जा सके तो धार्मिक तनाव की समस्या स्वतः समाप्त हो जाएगी। उनका कथन है- "यह बात सभी मजहब वाले मानते हैं कि खुदा एक है। सबसे बड़ा खुदा, अल्लाह, अकबर, महादेव, परम् ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म- इन सबका अर्थ एक ही है।"

विभिन्न विकल्पों का मूल्यांकन

प्रश्न है कि धार्मिक तनाव और संघर्ष की समस्या का समाधान करने के लिये उपरोक्त विकल्पों में से किसे सर्वाधिक उपयुक्त माना जा सकता है?

जहाँ तक 'धार्मिक सहिष्णुता' (Religious Tolerance) का प्रश्न है, यह विकल्प व्यावहारिक रूप से तो संभव है किंतु इसे नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। यदि सभी व्यक्ति अपने धर्म का गहराई से सम्मान करें तथा अन्य धर्मों के प्रति सिर्फ सहनशीलता का स्तर बना पाएँ तो इससे विभिन्न धर्मों का संबंध बहुत बेहतर नहीं होगा। ऐसी स्थिति में तनाव कभी भी पुनः भड़क सकता है और धार्मिक सौहार्द्र कभी भी खंडित हो सकता है।

जहाँ तक 'सर्वधर्मसमभाव' (Equal Treatment to all Religions) का प्रश्न है, यह विकल्प नैतिक रूप से बेहद आदर्श है किंतु व्यावहारिक रूप से अत्यंत कमजोर। जब भी कोई व्यक्ति अन्य धर्मों को सम्मान देना चाहता है तो कहीं-न-कहीं वह उन्हें अपने धर्म के बराबर नहीं रख पाता, क्योंकि बाल्यावस्था के दौरान उसके अपने धार्मिक विश्वास संस्कार के रूप में उसके मूल व्यक्तित्व का हिस्सा बन चुके होते हैं जो अन्य धर्मों के साथ नहीं हो सकता। महात्मा गांधी जैसे महापुरुष अपवाद हो सकते हैं किंतु जन सामान्य के लिये यह विकल्प लगभग असंभव है।

जहाँ तक 'सर्वधर्म समन्वय' (Religious Synthesis) का प्रश्न है, यह विकल्प न तो नैतिक दृष्टि से बेहतर है और न ही व्यावहारिक दृष्टि से। 'एकवादी सिद्धांत' (Monistic Principle) पूर्णतः निरर्थक है क्योंकि सभी धर्मों के लोग अपने धर्म को छोड़कर किसी एक ही धर्म को मान लेंगे- यह कोरी कल्पना है। 'एकशिलात्मक

(Monolithic) सिद्धांत' की समस्या यह है कि यह एक धर्म को प्रमुख व अन्य धर्मों को गौण मानता है। शायद ही किसी धर्म के अनुयायी अपने धर्म को गौण मानने के लिये तैयार होंगे। 'तात्त्विक (Essentialistic) सिद्धांत' अति-तार्किक या अति-बौद्धिक लोगों के लिये चाहे कारगर हो लेकिन सामान्य समाज के लिये अनुपयोगी है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति धर्म के बाह्य तथा मूर्त (Concrete) पक्षों से ही जुड़ पाता है, वह आंतरिक तथा अमूर्त (Abstract) पक्षों के आधार पर धार्मिक जीवन नहीं जी सकता। उदाहरण के लिये, जैन संप्रदाय की अहिंसा तथा शाक्त संप्रदाय के पशु-बलि के विचार को देखकर यह कैसे माना जा सकता है कि भीतर से दोनों धर्म समान हैं? इसी प्रकार, जैनों के निरीश्वरवाद तथा सामी धर्मों के ईश्वरवाद को आंतरिक रूप से समान कैसे माना जा सकता है?

वस्तुतः इन सभी विकल्पों में 'सर्वधर्म सद्भाव' (Religious Harmony) ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह नैतिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों में संतुलन स्थापित करता है। इसमें माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के प्रति जैसी आस्था व प्रतिबद्धता रखता है, ठीक वैसी ही आस्था और प्रतिबद्धता अन्य धर्मों के प्रति नहीं आ सकती। यह इसकी व्यावहारिकता है। दूसरी ओर, यह विभिन्न धर्मों के संबंधों को सिर्फ सहिष्णुता तक लाकर नहीं छोड़ता बल्कि उससे आगे बढ़कर पारस्परिक प्रेम, सम्मान और सद्भाव के बिंदु तक पहुँचाता है। यह इसका नैतिक पक्ष है।

धर्मनिरपेक्षता व पंथनिरपेक्षता में अंतर

'धर्मनिरपेक्षता' और 'पंथनिरपेक्षता' दो भिन्न धारणाएँ हैं और इस भिन्नता के कारण ही भारतीय संविधान में 'Secularism' का अनुवाद 'पंथनिरपेक्षता' किया गया है, न कि 'धर्मनिरपेक्षता'।

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है धर्म से तटस्थ हो जाना या धर्म का विरोध करना। सामान्यतः किसी व्यक्ति या समाज के दृष्टिकोण में धर्मनिरपेक्षता को खोजा जा सकता है। इसके विपरीत, पंथनिरपेक्षता या संप्रदायनिरपेक्षता का विचार धर्म का विरोध नहीं करता बल्कि विभिन्न पंथों या समुदायों के विवादों से बचते हुए किसी एक के पक्ष में न होने को इंगित करता है। सामान्यतः राज्य के संबंध में यह धारणा लागू होती है।

उदाहरण के लिये, भारत धर्मनिरपेक्ष नहीं, पंथनिरपेक्ष राज्य है। यह धर्मनिरपेक्ष नहीं है क्योंकि यह धर्म से पूर्णतः दूरी बनाकर नहीं रखता। यह विभिन्न धर्मों के संरक्षण के लिये सुविधाएँ प्रदान करता है, यहाँ तक कि अल्पसंख्यक धर्मों को विशेष अधिकार भी देता है। इसके बाद भी यह पंथनिरपेक्ष है क्योंकि यह किसी धर्म विशेष के पक्ष में झुका हुआ नहीं है, इसका कोई राजकीय धर्म नहीं है और न ही इसकी नीतियों पर किसी विशेष पंथ का प्रभाव है।

संविधान में एक और कारण से भी 'धर्मनिरपेक्ष' के स्थान पर 'पंथनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'धर्म' शब्द का व्यापक अर्थ है 'स्वकर्तव्यपालन'। यह अर्थ भारतीय समाज में तथा हिंदू धर्म के प्रमुख ग्रंथों में व्यापक रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ में देखें तो धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य अपने नैतिक कर्तव्यों से तटस्थ हो जाना निकलता है। इस संशय से बचने के लिये भी 'पंथनिरपेक्षता' शब्द अधिक प्रासंगिक माना गया है।

लोकतंत्र व धर्मनिरपेक्षता में संबंध

(Relation Between Democracy & Secularism)

लोकतंत्र विश्व की सबसे प्रचलित राजनीतिक प्रणाली है जिसे दुनिया के लगभग सभी राष्ट्र किसी न किसी रूप में स्वीकार कर चुके हैं। यह प्रणाली सभी व्यक्तियों की समानता, स्वतंत्रता, न्याय व बंधुत्व जैसे मूल्यों को आधार बनाकर चलती है। धर्मनिरपेक्षता के समर्थकों का मत है कि कोई भी लोकतंत्र वस्तुतः तभी सफल होता है जब वह राज्य को धर्मनिरपेक्षता के मूल्य से जोड़े।

भारत जैसे देश इन दोनों के गहरे संबंध के प्रमाण हैं। भारत धर्मनिरपेक्ष तथा लोकतांत्रिक राज्य होने के कारण न सिर्फ सभी धर्मों के व्यक्तियों को समान अधिकार देता है बल्कि स्वतंत्रता के मूल्य को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार भी देता है जिसमें धर्म का प्रचार व धर्मांतरण जैसे अधिकार भी शामिल हैं। सीधी सी बात है कि यदि राज्य विभिन्न धर्मों के नागरिकों को समानता व धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों से वंचित करता है तो वह लोकतंत्र के मूल्यों से विचलित हो जाता है।

विरोधी पक्ष के विचारक कह सकते हैं कि दुनिया में ऐसे बहुत देश से हैं जहाँ धर्मनिरपेक्ष राज्य के अभाव में भी लोकतांत्रिक प्रणाली कार्य करती है, यथा- पाकिस्तान, इज़राइल इत्यादि। किंतु, यहाँ ध्यान रखना होगा कि इन देशों में लोकतांत्रिक प्रणाली चाहे जितनी भी सफल हो, ये राज्य विभिन्न धर्मों के प्रति समानता का भाव न रख पाने के कारण मूल्यों के स्तर पर उतने लोकतांत्रिक नहीं हो सकते जितने भारत या अमेरिका जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य। इतना ही नहीं, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि कोई राज्य धर्म से गहरा संबंध रखता है तो वह धर्मतंत्र (Theocracy) हो जाता है जिसके साथ लोकतंत्र की संगति ही नहीं है। इसी प्रकार, जो साम्यवादी देश राजकीय स्तर पर धर्म का विरोध करते हैं, उन्हें भी तानाशाही का ही चयन करना पड़ता है क्योंकि लोकतंत्र इससे सुसंगत नहीं है।

स्पष्ट है कि कोई भी लोकतंत्र सच्चा लोकतंत्र तभी बन सकता है जब वह धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को धारण करे व व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के धार्मिक स्वतंत्रता के साथ जीने का मौका दे।

धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्मांतरण पर प्रतिबंध होना चाहिये? (टिप्पणी)

धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्मांतरण पर प्रतिबंध होना चाहिये- यह मत कई विचारकों का है, जैसे- गांधीजी व कुछ धार्मिक संगठनों के नेता। गांधीजी का मत था कि सभी धर्म पूर्णतः समान हैं, इसलिये धर्मांतरण निरर्थक है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि-“यदि मैं तानाशाह होता तो पहले ही दिन ईसाई मिशनरियों को भारत से बाहर निकाल देता।” कुछ धर्मों के समर्थक इस विचार के समर्थक इसलिये हैं, क्योंकि उनकी राय में धर्मांतरण से उनके धर्म के अनुयायियों की जनसंख्या कम हो जाती है, क्योंकि वे खुद धर्मांतरण का आंदोलन नहीं चलाते जबकि शेष धर्म ऐसे आंदोलन चलाते हैं। कुछ अन्य विचारक राष्ट्रीय सुरक्षा के मद्देनजर भी यह बात कहते हैं, क्योंकि उनके अनुसार सीमावर्ती क्षेत्रों का जनाकिकीय अनुपात व्यापक रूप से बदल जाने पर आंतरिक व बाह्य सुरक्षा के समक्ष कड़ी चुनौतियाँ खड़ी हो जाती हैं।

किंतु, धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता उपलब्ध हो। व्यक्ति किस धर्म में जन्म लेगा, यह चयन वह स्वयं नहीं करता बल्कि संयोग से तय होता है। यदि कोई विचारवान व्यक्ति अपने ज्ञान, विचार व अनुभव के स्तर पर महसूस करे कि कोई दूसरा धर्म उसके धर्म से बेहतर है तो धार्मिक स्वतंत्रता के अंतर्गत उसे धर्मांतरण की सुविधा मिलनी चाहिये।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि विश्व के अधिकांश धर्म धर्मांतरण की प्रक्रिया से ही बने हैं। उदाहरण के लिये, ईसा मसीह अपना धर्म न त्यागते तो ईसाई धर्म न विकसित होता; गौतम बुद्ध, महावीर और नानक देव अपने धर्म न छोड़ते तो बौद्ध, जैन व सिख धर्म भी विकसित न हो पाते।

वास्तविक बात यह है कि धर्मनिरपेक्ष देश में धर्मांतरण का अधिकार तो अवश्य होना चाहिये किंतु उसे इस बात की ठोस व्यवस्था करनी चाहिये कि यह प्रक्रिया सिर्फ अंतरात्मा की आवाज़ पर आधारित हो, न कि किसी लालच, छल, दबाव या दुष्प्रचार के आधार पर। ऐसा ही मत संत स्टेनिस्लास मामले में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी प्रस्तुत किया था।

बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism)

बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) या सांस्कृतिक बहुलवाद (Cultural Pluralism) वह विचार है जिसके अनुसार एक ही समाज में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों को अपना वैविध्य बनाए रखते हुए साथ-साथ रहने का मौका मिलना चाहिये। विल काइम्लिका (Will Kymlicka) जैसे बहुसंस्कृतिवाद के समर्थकों ने माना है कि भारतीय समाज में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से रही है किंतु पश्चिमी समाज के लिये यह नया विचार है जो 20वीं शताब्दी में ही विकसित हुआ है।

20वीं सदी के आरंभ में अर्थक्रियावाद (Pragmatism) के समर्थकों विलियम जेम्स, जॉन ड्यूवी तथा चार्ल्स सेंडर्स पीयर्स जैसे विचारकों ने बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। जेम्स ने 1909 ई. में एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी 'Pluralistic Universe'। इस पुस्तक में उसने प्रथम बार 'बहुलवादी समाज' की धारणा स्पष्ट की। जार्ज सांटायना ने भी ऐसे ही विचारों का समर्थन किया।

लगभग इसी समय मानवशास्त्र (Anthropology) का तीव्र विकास हुआ जिसमें संस्कृति के अध्ययन से संबंधित नए-नए दृष्टिकोण उभरने लगे। एक दृष्टिकोण था 'स्वजातिकेंद्रवाद' (Ethnocentrism) जिसमें अध्ययनकर्ता अपनी संस्कृति को बेहतर मानकर उसके मूल्यों के आधार पर अन्य संस्कृतियों का मूल्यांकन करता था। इसका विरोधी दृष्टिकोण था 'परजातिकेंद्रवाद' (Xenocentrism) अर्थात् अन्य संस्कृति को बेहतर मानकर उसके दृष्टिकोण से अपनी संस्कृति का मूल्यांकन करना। धीरे-धीरे यह पाया गया कि ये दोनों दृष्टिकोण पूर्वाग्रहों पर आधारित हैं। यहाँ आकर एक नया दृष्टिकोण सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Cultural Relativism) विकसित हुआ। इसमें माना गया कि हर संस्कृति अपने दृष्टिकोण से श्रेष्ठ होती है। उसका मूल्यांकन उसी के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये। इस दृष्टिकोण से यह विचार स्थापित हुआ कि विभिन्न संस्कृतियों में ऊँच-नीच का स्तरण नहीं है बल्कि सभी संस्कृतियाँ एक ही स्तर की हैं। यही दोनों वैचारिक आधार बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) की पृष्ठभूमि बने।

संस्कृतियों के पारस्परिक संबंध (Relations among Cultures)

यदि किसी स्थान पर एक से अधिक संस्कृतियाँ साथ-साथ रहती हैं तो उनके पारस्परिक संबंध तीन प्रकार के हो सकते हैं:

(क) **एकसंस्कृतिवाद (Monoculturalism):** यह वह विचारधारा है जो एक संस्कृति को बाकी सभी से श्रेष्ठ मानती है व सांस्कृतिक वैविध्य की जगह समरूपता (Homogeneity) पर बल देती है। इसकी स्पष्ट धारणा है कि अल्पसंख्यक सांस्कृतिक समूहों को अपनी पृथक् पहचान छोड़कर बहुसंख्यकों की संस्कृति में आत्मसात् (Assimilate) हो जाना चाहिये। पश्चिम में 19वीं सदी तक प्रायः यही विचारधारा दिखती है क्योंकि मध्यकाल में विभिन्न धर्मों में श्रेष्ठता का संघर्ष चलता रहा तो 19वीं सदी में राष्ट्र-राज्य की धारणा इसी विचार को बढ़ाती रही। राष्ट्र-राज्य की धारणा में माना गया कि एक सांस्कृतिक समूह के लोग ही एक राष्ट्र बन सकते हैं चाहे इनकी एकता धर्म पर आधारित हो, नस्ल पर या भाषा पर। यह विचार इजराइल, सऊदी अरब तथा पाकिस्तान जैसे राष्ट्रों में भी दिखाई पड़ता है क्योंकि ये देश सामी धर्मों की विचारधारा में निहित धार्मिक व्यावर्तवाद (Religious Exclusivism) का समर्थन करते हैं। जापान व दक्षिण कोरिया भी एकसंस्कृतिवाद (Monoculturalism) के उदाहरण हैं, क्योंकि इन देशों में मंगोलॉयड नस्ल को राष्ट्रीय एकता का आधार माना गया है व गैर-मंगोलॉयड नस्ल को अशुद्ध (Polluted) माना जाता है।

- (ख) **गलन पात्र संस्कृति (Melting Pot Culture):** विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक संबंध का दूसरा विकल्प अमेरिका में दिखता है जो एकसंस्कृतिवाद व बहुसंस्कृतिवाद के बीच में है। इसे गलन पात्र संस्कृति (Melting Pot Culture) कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न देशों के मूल निवासी जब अमेरिका में बसे तो उनके सामने सांस्कृतिक समरूपता के अभाव की समस्या थी। इसके उत्तर में सभी समूहों ने अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को छोड़कर उस सामान्य संस्कृति को अपना लिया जिसे अमेरिकी संस्कृति कहा जाता है। गलन पात्र एक रूपक है जिसका अर्थ है कि सभी समूहों ने अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ एक पात्र में डाल दीं व जब वे सब विशेषताएँ गलकर एक बन गईं तो उसे ही अमेरिकी संस्कृति कह दिया गया। ध्यातव्य है कि अमेरिकी संस्कृति अंततः एकसंस्कृतिवाद के ही नजदीक है क्योंकि इसमें भी सांस्कृतिक समरूपता पर ही बल दिया गया है। वैसे भी कई लोग आक्षेप करते हैं कि गलन पात्र में सिर्फ अंग्रेजीभाषी यूरोपीय लोगों की ही संस्कृतियाँ शामिल की गई हैं, अमेरिका के मूल आदिवासियों तथा गैर-यूरोपीय आप्रवासियों को इसमें शामिल नहीं किया गया है।
- (ग) **बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism):** यह तीसरा विकल्प है जो विभिन्न संस्कृतियों के सहअस्तित्व की स्थिति में पैदा होता है। इसमें सांस्कृतिक वैविध्य की समस्या नहीं अपितु समाज की संपत्ति या विरासत माना जाता है व उसकी रक्षा की जाती है। ऐसे समाजों में विभिन्न समूहों को अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को बनाए रखने की पूरी आजादी दी जाती है। भारत सदा से इसका उदाहरण है। पश्चिमी जगत में 1970 के बाद यह नीति दिखाई पड़ती है। वस्तुतः 19वीं सदी में हीगेल, नीत्शे व बर्नहार्डी जैसे विचारकों ने एकसंस्कृतिवादी (Monoculturalistic) विचारधारा को जैसा संरक्षण दिया था, उसका स्वाभाविक परिणाम था 20वीं शताब्दी में फासीवाद व नाजीवाद का उदय। फासीवाद एकसंस्कृतिवाद (Monoculturalism) का चरम स्तर है जहाँ अन्य समूहों को अपनी संस्कृति में आत्मसात् करने के स्थान पर उन्हें सामूहिक नरसंहार (Genocide) के माध्यम से समाप्त ही कर दिया जाता है। इसकी प्रतिक्रिया में राजनीति-दर्शन में बहुलवादी विचारधारा पनपी जिसने समाज के स्तर पर भी बहुलवाद की पृष्ठभूमि बनाई। 1960 के बाद तीव्रता से भूमंडलीकरण बढ़ा और श्रम के मुक्त संचरण के कारण पश्चिमी देशों में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों की उपस्थिति बढ़ने लगी। इससे पश्चिमी देशों की सांस्कृतिक एकरूपता भंग हुई। चूँकि मानवाधिकार व लोकतंत्र जैसे मूल्य दुनिया भर में फैल चुके थे, अतः अब यह संभव नहीं था कि सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों का दमन किया जा सके। इसके अतिरिक्त इन सभी देशों में सक्रिय वामपंथी दल बहुसंस्कृतिवाद को एकसंस्कृतिवाद से बेहतर मानते थे। अतः 1970 के बाद पश्चिम के कई देशों ने बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) की नीति को अपनाया।

बहुसंस्कृतिवाद के प्रकार (Types of Multiculturalism)

बहुसंस्कृतिवाद को विभिन्न आधारों पर कई वर्गों में विभाजित किया जाता है जिनमें से प्रमुख वर्ग इस प्रकार हैं—

- 1. उदार व कठोर बहुसंस्कृतिवाद:** उदार (Liberal) बहुसंस्कृतिवाद का अर्थ है सांस्कृतिक वैविध्य का सम्मान करना तथा अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेना। इसमें इस बात पर बल नहीं दिया जाता कि विभिन्न समूहों की सांस्कृतिक अंतर्क्रियाओं में बराबरी का संबंध है या नहीं। यदि इस बात पर भी ध्यान दिया जाए कि सांस्कृतिक अंतर्क्रिया में समानता है या नहीं तो इसे कठोर (Critical) बहुसंस्कृतिवाद कहा जाता है। भारत में कठोर बहुसंस्कृतिवाद के ज्यादा नजदीक स्थिति दिखाई पड़ती है। ऑस्ट्रेलिया व ब्रिटेन में उदार बहुसंस्कृतिवाद प्रचलित है।
- 2. वैधानिक तथा वास्तविक बहुसंस्कृतिवाद:** वैधानिक (Official or De-Jure) बहुसंस्कृतिवाद का अर्थ है कि राज्य अपनी नीतियों के माध्यम से इसे समर्थन देता है। इसे औपचारिक या राजकीय बहुसंस्कृतिवाद भी कहते हैं। इसके विपरीत, वास्तविक (Unofficial or De-facto) बहुसंस्कृतिवाद वह है, जहाँ बिना राजकीय समर्थन के समाज अपने स्तर पर सांस्कृतिक बहुलता की रक्षा करता है। इसे अनौपचारिक या गैर-राजकीय बहुसंस्कृतिवाद भी कहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही देश में दोनों प्रकार साथ-साथ उपलब्ध हों। ऐतिहासिक

रूप से भारत गैर-राजकीय बहुसंस्कृतिवाद का उदाहरण है, जबकि वर्तमान काल में यहाँ दोनों ही प्रकार दिखते हैं। ऑस्ट्रेलिया जैसे देश केवल राजकीय बहुसंस्कृतिवाद के उदाहरण हैं।

3. **बहुलवादी तथा विशिष्टतावादी बहुसंस्कृतिवाद:** डिएन रैविच (Diane Ravitch) ने बहुसंस्कृतिवाद को बहुलवादी (Pluralistic) व विशिष्टतावादी (Particularistic) वर्गों में विभाजित किया है। बहुलवादी बहुसंस्कृतिवाद में भिन्नताओं के संरक्षण पर बल दिया जाता है ताकि यह वैविध्य सदा बना रहे। इसके विपरीत, विशिष्टतावादी बहुसंस्कृतिवाद वैविध्य का सम्मान तो करता है किंतु विभेदक विशेषताओं को बनाए रखने की कोशिश नहीं करता।

पश्चिम में बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism in West)

पश्चिमी देशों में 19वीं शताब्दी तक सामान्यतः एकसंस्कृतिवाद का ही प्रभुत्व रहा है किंतु पिछले कुछ वर्षों में कई देशों ने बहुसंस्कृतिवाद को स्वीकार किया है। सबसे पहला कदम कनाडा ने 1971 में उठाया और क्यूबेक (Quebec) प्रांत के फ्रेंचभाषी समुदाय की समस्याओं को देखते हुए बहुसंस्कृतिवाद को राजकीय नीति के तौर पर घोषित किया। 1972 ई. में इस नीति को संविधान में शामिल कर लिया गया। इसके तुरंत बाद यह नीति ऑस्ट्रेलिया में दिखाई दी। ऑस्ट्रेलिया इससे पहले तक 'श्वेत ऑस्ट्रेलिया नीति' (White Australia Policy) पर चल रहा था जिसके अंतर्गत कॉकेशॉयड प्रजाति के अंग्रेजी भाषी आप्रवासियों का ही स्वागत किया जाता था। 1973 ई. में ऑस्ट्रेलिया ने बहुसंस्कृतिवाद को राजकीय नीति के तौर पर स्वीकार किया। इसके तुरंत बाद 1975 में स्वीडन में यह नीति लागू हुई व इसके साथ ही लगभग बाकी पूरे यूरोप में। ब्रिटेन में 1979 ई. से 1997 ई. तक कंज़र्वेटिव दल की सरकार थी जो इस नीति के विरोध में थी। 1997 ई. में लेबर पार्टी के सरकार में आने के साथ ही इस नीति का प्रभाव दिखने लगा। इन सभी देशों में राजकीय नीति के तहत जिन बातों पर बल दिया गया, वे इस प्रकार हैं—

1. आप्रवासियों को दोहरी नागरिकता की अनुमति देना, यदि उनका मूल देश भी इसे स्वीकार करता हो।
2. अल्पसंख्यकों की भाषा का संरक्षण करना, उनकी भाषा हेतु विद्यालयों, पुस्तकों आदि को सब्सिडी देना।
3. अल्पसंख्यकों के त्यौहारों, अवकाशों तथा उत्सवों को राजकीय मान्यता प्रदान करना।
4. विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, सरकारी भवनों में अल्पसंख्यकों की पारंपरिक तथा धार्मिक वेशभूषा को स्वीकार करना।
5. अल्पसंख्यकों की संस्कृति तथा संगीत आदि को प्रोत्साहन देना।
6. राजनीति, शिक्षा व प्रशासन में उनका प्रतिनिधित्व बढ़ाने हेतु संरक्षणात्मक भेदभाव (Protective Discrimination) की व्यवस्था करना।

किंतु, पश्चिमी जगत में बहुसंस्कृतिवाद ज्यादा सफल नहीं हो सका। सभी देशों में दक्षिणपंथ के समर्थकों व कई विचारकों ने इस नीति पर सवाल उठाने शुरू किये। सर्वप्रथम कनाडा में ही समस्या उठी। क्यूबेक (Quebec) के अल्पसंख्यकों ने तो इसका विरोध किया ही, बाकी अल्पसंख्यक भी इसका विरोध करने लगे। क्यूबेक के फ्रेंचभाषी चाहते थे कि कनाडा में द्विसंस्कृतिवाद (Biculturalism) लागू हो किंतु बहुसंस्कृतिवाद लागू होने से उनकी स्थिति एक सामान्य अल्पसंख्यक वर्ग की हो गई। शेष अल्पसंख्यकों को यह चिंता थी कि क्यूबेक (Quebec) के फ्रेंचभाषियों को ज्यादा महत्त्व दिया जा रहा है। इसी समय एक विचारक कॅनेथ मैक्रोबर्ट्स (Kenneth Mcroberts) ने स्पष्टतः कहा कि बहुसंस्कृतिवाद कनाडा के राष्ट्रवाद को नष्ट कर देगा। अमेरिका में कंज़र्वेटिव दल के समर्थकों ने बहुसंस्कृतिवाद का विरोध किया। ऑस्ट्रेलिया में 1990 के आस-पास तीव्र विरोध होने लगा व एक नए दल 'एक राष्ट्र पार्टी' (One Nation Party) की स्थापना हुई जिसने एकसंस्कृतिवाद का पुरजोर समर्थन किया। 1996 में प्रधानमंत्री हार्वर्ड की सरकार के आते ही बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) की नीति को गौण बना दिया गया व 2007 ई. में तो इस सरकार ने संबंधित मंत्रालय का नाम बदलकर उसमें से बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) शब्द को ही हटा दिया। जर्मनी में बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) के विरुद्ध सबसे तीव्र प्रतिक्रिया हुई। ब्रिटेन का कंज़र्वेटिव दल लगातार इसका विरोध कर रहा है तथा जापान व कोरिया जैसे देश इस नीति को स्वीकार करने के पक्ष में हरगिज़ नहीं हैं।

इन विरोधों के कारण पश्चिमी देशों की राजकीय नीतियों में तेजी से परिवर्तन आया है व राष्ट्रीय समरूपता स्थापित करने हेतु कई प्रयास प्रारंभ हो गए हैं, जैसे— राष्ट्रीय भाषा का अनिवार्य पाठ्यक्रम तथा अनिवार्य जाँच परीक्षाएँ होनी लगीं; अल्पसंख्यकों को धार्मिक वेशभूषा के अधिकार से वंचित किया गया इत्यादि। फ्रांस में पिछले कुछ वर्षों में सिखों तथा मुसलमानों की वेशभूषा पर प्रतिबंध लगाने के मामले सामने आए हैं। कई देशों ने राष्ट्रीय इतिहास, संस्कृति तथा मूल्यों से संबंधित परीक्षाएँ आयोजित करनी शुरू कर दीं, जैसे— ब्रिटेन में 'Life in the United Kingdom Test' होने लगा है। जर्मनी में तो 'Muslim Test' नाम से परीक्षा शुरू हुई जिसमें पूछा जाता है कि 'यदि आपका बेटा समलैंगिकता पसंद करता है तो आप की क्या प्रतिक्रिया होगी।' यह माना जाता है कि जो व्यक्ति समलैंगिकता को स्वीकार नहीं करता, वह जर्मन समाज में समायोजन के लिये अपेक्षित मूल्यों को धारण नहीं करता। कुछ देशों में तो राष्ट्रभक्ति की शपथ दिलवाने के प्रस्ताव आए हैं जिसमें अल्पसंख्यकों से राष्ट्रद्रोह न करने की शपथ दिलवाई जाएगी।

वस्तुतः ये सभी कदम अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद से संबंधित हैं। पिछले कुछ वर्षों में जो आतंकवाद की बड़ी घटनाएँ अमेरिका एवं ब्रिटेन में घटीं, उनसे पश्चिमी देशों की जनता मुस्लिम देशों के लोगों के प्रति पूर्वाग्रह ग्रस्त हो गई है तथा उन्हें आतंकवाद का समर्थक मानने लगी है। ब्रिटेन में एक नए सर्वेक्षण के अनुसार लगभग 75% नागरिकों का ऐसा ही मत था। परिणामतः इन देशों में अल्पसंख्यक (Minorities) अलग-थलग होते गए हैं। इसी की प्रतिक्रिया में उनका बाल्कनीकरण (Balkanisation) होने लगा। वर्तमान समय में पश्चिमी जगत इस समस्या का कोई समाधान नहीं खोज पा रहा कि तेजी से बढ़ते हुए सांस्कृतिक वैविध्य का समायोजन वह किस प्रकार करे।

आलोचना

1. प्रसिद्ध नारीवादी विचारक सुसान मोलर ओकिन (Susan Moller Okin) ने अपने प्रसिद्ध लेख 'Is Multiculturalism Bad for Women' में बताया कि बहुसंस्कृतिवाद विभिन्न संस्कृतियों के संरक्षण के नाम पर उनमें विद्यमान लिंगभेद को नज़रअंदाज़ कर देता है, जैसे— फ्रांस में एक-विवाह ही वैध है किंतु फ्रेंच सरकार ने बहुसंस्कृतिवाद के नाम पर इस्लामी समूह को बहुपत्नी विवाह की अनुमति दे दी। वर्तमान समय में सिर्फ पेरिस में दो लाख बहुविवाही मुस्लिम परिवार रहते हैं।
2. ब्रायन बैरी (Brian Barry) तथा ऐन रैंड (Ayn Rand) का दावा है कि बहुसंस्कृतिवाद सांस्कृतिक उग्रता तथा बाल्कनीकरण (Balkanisation) को बढ़ावा देता है जिससे न सिर्फ औद्योगिक समाज का विकास अवरुद्ध होता है अपितु व्यक्ति का संकल्प-स्वातंत्र्य भी समाप्त हो जाता है क्योंकि समूह के दबाव के सामने व्यक्ति का स्वातंत्र्य नहीं बचता।
3. पॉल क्लाइटियर (Paul Cliteur) ने सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Cultural Relativism) के सिद्धांत को चुनौती दी है जो बहुसंस्कृतिवाद का वैचारिक आधार है। उसका कहना है कि सभी संस्कृतियों को बराबर नहीं माना जा सकता। पश्चिमी संस्कृति पुनर्जागरण, मानववाद व धर्मनिरपेक्षतावाद के मूल्यों पर आधारित होने से निश्चय ही अन्य संस्कृतियों से बेहतर है। उसका प्रश्न है कि क्या हम सापेक्षवाद के नाम पर कुछ जनजातियों में प्रचलित नरबलि जैसी प्रथाओं को स्वीकार कर सकते हैं?
4. पॉल शेफर (Paul Scheffer) ने अपने निबंध 'The Multicultural Drama' में व्यंग्य करते हुए कहा है कि कोई भी देश व राज्य तभी बच सकता है जब वहाँ सामाजिक समरूपता हो। बहुसंस्कृतिवाद इस समरूपता को नष्ट करके अराजकता की स्थिति पैदा करता है।

भारत में बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism in India)

भारत अकेला देश है जिसके लिये बहुसंस्कृतिवाद आधुनिक न होकर परंपरागत विषय है। बहुसंस्कृतिवाद के पश्चिमी सिद्धांतकारों ने स्पष्टतः माना है कि भारतीय समाज लंबे समय से बहुसंस्कृतिवाद का उदाहरण रहा है जबकि पश्चिमी जगत के लिये यह एक नवीन विचार है। भारत के इतिहास व वर्तमान के कुछ उदाहरणों के आधार पर हम भारतीय बहुसंस्कृतिवाद को समझ सकते हैं।

बहुसंस्कृतिवाद के सामान्यतः दो भेद किये जाते हैं— अनौपचारिक (या सामाजिक) बहुसंस्कृतिवाद तथा औपचारिक (या राजकीय) बहुसंस्कृतिवाद। जिन देशों में बहुसंस्कृतिवाद सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित होता है वहाँ वह सामाजिक

स्तर पर झलकता है। इसके विपरीत जब किसी देश की सरकार सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की रक्षा करने हेतु या सांस्कृतिक वैविध्य को बचाने हेतु राजकीय स्तर पर कुछ नीतियाँ बनाती हैं तो इसे औपचारिक या राजकीय बहुसंस्कृतिवाद कहते हैं। भारत बहुसंस्कृतिवाद के दोनों ही प्रकारों का संश्लिष्ट उदाहरण है।

जहाँ तक सामाजिक बहुसंस्कृतिवाद का प्रश्न है, यह भारतीय संस्कृति में सदा से दिखता है। इसके बुनियादी सूत्र उपनिषदों में दिखते हैं, जैसे 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' इत्यादि। इसके बाद बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय हुआ। इन धर्मों ने भी सहिष्णुता व सहअस्तित्व की भावना पर अत्यधिक बल दिया। फिर, यवन, शक तथा हूण संस्कृतियाँ भारत में आईं। यद्यपि ये समूह अपना पृथक् अस्तित्व बचाकर नहीं रख सके, तब भी इनकी कई सामाजिक विशेषताएँ भारतीय संस्कृति में आत्मसात् हो गईं।

बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) का ज्यादा महत्वपूर्ण चरण तब से शुरू हुआ जब इस्लाम का भारत में आगमन हुआ। इस्लामी समूह सत्ता के साथ-साथ धर्म को लेकर भी सचेत था, वह भारतीय संस्कृति में घुलकर अस्तित्वहीन होने को तैयार नहीं था। यहाँ से धीरे-धीरे वह विशेषता पैदा हुई जिसमें दोनों समाजों ने पारस्परिक विरोध को पार करके पहले शांतिपूर्ण सहअस्तित्व तथा फिर साझी संस्कृति के मूल्य को सीखा। हिंदुओं ने स्थापत्य, शिल्प, संगीत, वेशभूषा और खाद्य पदार्थों में मुसलमानों से बहुत कुछ लिया तो हिंदुओं की धार्मिक सहिष्णुता और जाति व्यवस्था इस्लामी समाज में शामिल हो गई। यही संस्कृति गंगा-जमुनी संस्कृति कहलाई जो मध्यकाल में बहुसंस्कृतिवाद का सबसे अनूठा उदाहरण है।

ईसाइयत के आगमन के बाद बहुसंस्कृतिवाद अगले स्तर पर पहुँचा। हिंदुओं व मुस्लिमों की साझा संस्कृति अध्यात्मप्रिय थी जबकि ईसाइयों की संस्कृति पुनर्जागरण, धर्म सुधार, वैज्ञानिक क्रांति आदि प्रभावों से युक्त होने के कारण आधुनिक तथा इहलोकवादी मूल्यों को प्रश्रय देती थी। भारत ने इस संस्कृति से समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व जैसे मूल्य सीखे; धर्मनिरपेक्षता, मानववाद व वैज्ञानिक मनोवृत्ति जैसे विचार प्राप्त किये व बदले में अपनी वेदांती आध्यात्मिकता दी जो बहुत से पश्चिमी दार्शनिकों तथा साहित्यकारों को प्रभावित करती रही। स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति का विकास सामाजिक संस्कृति के रूप में हुआ जिसमें विभिन्न समूहों को अपना वैविध्य बनाए रखने की अनुमति मिलती है। इसी आदर्श को पश्चिम में 'मोजाइक संस्कृति' (Mosaic Culture) कहा जाता है।

भारत में सामाजिक ही नहीं, राजकीय स्तर पर भी बहुसंस्कृतिवाद दिखाई देता है। प्राचीन इतिहास में अशोक की नीतियों में जो धार्मिक सहिष्णुता व सद्भाव दिखता है वह बहुसंस्कृतिवाद का अनूठा उदाहरण है। मध्यकाल में अकबर की राजकीय नीतियाँ भी बहुसंस्कृतिवाद को ही प्रतिबिंबित करती हैं। स्वाधीनता के बाद भारत में जो संविधान स्वीकार किया गया, वह स्पष्ट तौर पर बहुसंस्कृतिवाद के मूल्यों को आधार बनाकर चलता है। अल्पसंख्यक समूहों के लिये इसमें विशेष प्रावधान भी किये गए हैं। इसमें न सिर्फ धार्मिक बल्कि भाषायी, नस्लीय तथा जनजातीय अल्पसंख्यकों को भी स्वायत्तता तथा सुरक्षा प्रदान की गई है।

वर्तमान भारत में बहुसंस्कृतिवाद के लक्षण

वर्तमान भारत में सामाजिक व राजकीय बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) के कई प्रमाण दिखते हैं—

1. भारत धार्मिक बहुलवाद (Religious Pluralism) का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसकी चर्चा जॉन हिक जैसे धर्म दार्शनिकों ने भी विस्तारपूर्वक की है। संख्या की दृष्टि से यहाँ हिंदुओं की बहुलता है किंतु राजकीय नीतियाँ सभी धर्मों को संरक्षण प्रदान करती हैं। यहाँ तक कि अनुच्छेद 30 में अल्पसंख्यक वर्ग की शिक्षा संस्थाओं को कुछ ऐसे विशेषाधिकार दिये गए हैं जो बहुसंख्यकों के पास भी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, प्रायः सभी धर्मों को सिविल मामलों में अपनी धार्मिक संहिता के अनुसार चलने का अधिकार दिया गया है।
2. भारत में भाषायी बहुलवाद भी अनूठा है। पश्चिम में राष्ट्र-राज्यों के लिये भाषागत समरूपता का होना आवश्यक माना गया है किंतु भारत इसके एकदम विपरीत है। भारत में छोटी-बड़ी कुल लगभग 1700 भाषाएँ बोली जाती हैं जिनमें से 22 को आठवीं अनुसूची (8th Schedule) के तहत राष्ट्रीय भाषाओं का

दर्जा दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य के विधानमंडल को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति की अनुमति से राज्य में बोली जाने वाली किसी भाषा या भाषाओं को राजकीय भाषा का दर्जा दे सके।

3. भारत में नस्लीय या प्रजातीय वैविध्य भी दिखता है। उत्तर-पूर्वी भारत में मंगोलायड प्रजाति की बहुलता है, उत्तर भारत में काकेशॉयड प्रजाति के तत्व कुछ अधिक हैं व दक्षिणी भारत में नीग्रोयड तो नहीं पर उससे मिलते-जुलते तत्व दिख जाते हैं। मानवशास्त्रियों का दावा है कि भारत में तीनों प्रमुख नस्लों का इतना अधिक संश्लेषण हुआ है कि प्रजातीय दृष्टि से भारतीय समाज को छः-सात वर्गों में बाँटा जा सकता है। भारतीय राज्य ने इस बात को समझा है कि उत्तर-पूर्वी भारत के लोग प्रजातीय भिन्नताओं के कारण देश की मुख्यधारा से नजदीकी महसूस नहीं कर पाते। इसीलिये उत्तर-पूर्वी राज्यों के साथ सांस्कृतिक अंतर्क्रिया बढ़ाने के लिये सरकार कई कदम उठाती रही है। अभी इसी वर्ष एक विशेष कदम के तहत सरकारी कर्मचारियों को उत्तर-पूर्व की यात्रा हेतु यात्रानुदान देने की घोषणा की गई।
4. भारत में बहुत-सी जनजातियाँ भी रहती हैं जिनकी जनसंख्या लगभग 7% के आस-पास है। जनजातीय समुदाय अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के प्रति आग्रही होते हैं, इसलिये उनकी संस्कृति में दखल देना भारतीय राज्य की नीति नहीं रही है। अरुणाचल प्रदेश वह राज्य है जहाँ प्रसिद्ध मानवशास्त्री वैरियर एल्विन की राष्ट्रीय उद्यान नीति (National Park Approach) का प्रयोग किया गया व वहाँ की जनजातियों के सांस्कृतिक मामलों में अहस्तक्षेप की नीति रखी गई। अन्य राज्यों में नेहरू की नीति लागू की गई, जिसका सार था 'सांस्कृतिक स्वायत्तता के साथ राष्ट्रीय एकीकरण'। अभी भी सामान्यतः यही कोशिश की जा रही है कि जनजातियों के भूमि तथा वन अधिकारों को सुरक्षा प्रदान की जाए ताकि धीरे-धीरे वे समाज की मुख्यधारा से सहजतापूर्वक जुड़ सकें। नेहरू की प्रसिद्ध नीति 'जनजातीय पंचशील' (Tribal Panchseel) भी इस दृष्टि से बहुसंस्कृतिवाद का महत्वपूर्ण प्रमाण है।

इन प्रमुख प्रमाणों के अतिरिक्त भारतीय राज्य की कुछ और नीतियों में भी बहुसंस्कृतिवाद के संकेत मिलते हैं। भारत का कोई राजकीय धर्म नहीं है। राष्ट्रगान, राष्ट्रगीत व राष्ट्रध्वज में धार्मिक प्रतीक नहीं हैं। एक बार मुस्लिम समाज के कुछ व्यक्तियों ने राष्ट्रगान की कुछ पंक्तियों को अपने धर्म की मान्यताओं के विरुद्ध पाया तो माननीय सुप्रीम कोर्ट ने यह व्यवस्था दी कि राष्ट्रगान व राष्ट्रगीत गाना अनिवार्य नहीं है। भारतीय राज्य विभिन्न धर्मों के त्यौहारों पर राजकीय अवकाश रखता है तथा सभी धर्मों को अपने प्रचार-प्रसार का अधिकार देता है। इसके अतिरिक्त एक विशिष्ट अल्पसंख्यक समुदाय एंग्लो इंडियन के पर्याप्त प्रतिनिधित्व हेतु लोक सभा में 2 स्थान आरक्षित किये गए हैं। जनजातियों हेतु भी इसी उद्देश्य से आरक्षण लागू किया गया है।

भारत में बहुसंस्कृतिवाद से संबंधित समस्याएँ

पिछले कुछ समय में भारतीय बहुसंस्कृतिवाद कुछ कारणों से कमजोर हुआ है। इसके कुछ कारण व्यावहारिक हैं व कुछ सैद्धांतिक। प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

1. 20वीं शताब्दी के आरंभ से ही भारत में सांप्रदायिकता का उद्भव होने लगा जो मुख्यतः अंग्रेजों की 'फूट डालो व राज करो' की नीति का परिणाम था। मध्यकाल में सांप्रदायिकता सिर्फ राज्य की नीति थी किंतु आधुनिक काल में वह सामाजिक समस्या बन गई। आजादी के बाद भी यह कम नहीं हुई क्योंकि लोकतांत्रिक प्रणाली में धार्मिक समुदाय जब एक मतदाता समूह (Vote Bank) बन जाता है तो सांप्रदायिकता को रोकना मुश्किल हो जाता है। पिछले 20 वर्षों में अयोध्या की समस्या, भागलपुर, गुजरात, मुंबई के दंगों की घटनाएँ सांप्रदायिकता के प्रमुख उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त सिमी जैसे संगठनों का उभरना, कश्मीर व पंजाब में धर्म के सहारे आतंकवाद का पनपना और उड़ीसा में कुछ पादरियों व ननों के साथ दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं का घटना इसी प्रवृत्ति के लक्षण हैं।
2. भाषायी बहुसंस्कृतिवाद भी काफी कमजोर होने लगा है। आजादी के कुछ ही समय बाद भारत सरकार भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन को स्वीकार कर लिया। भाषायी राज्यों के अस्तित्व में आने के कारण भाषा अत्यधिक महत्वपूर्ण पहचान चिह्न बन गई। बहुसंख्यकों की भाषाएँ अल्पसंख्यकों की भाषाओं

का दमन करने लगीं। हिन्दी के सवाल पर बांग्ला व तमिल के समर्थकों ने काफी विरोध किया। धीरे-धीरे हालत यह हुई कि भाषा के नाम पर हिंसा व आतंक की घटनाएँ भी घटने लगीं। वर्तमान में असमी-बिहारी तथा मराठी-हिन्दी विवाद मुख्यतः भाषा के सवाल पर ही हो रहे हैं।

3. 1960 के दशक से भारत में क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति तेज़ी से बढ़ी और उसने बहुसंस्कृतिवाद को चुनौती दी। इसी समय मुंबई में शिवसेना जैसे दल 'मराठी मानुस' तथा 'भूमिपुत्र' का नारा लेकर आए व मुंबई जैसे बहुसंस्कृतिवादी शहर को उन्होंने एकसंस्कृतिवाद में रँगने का प्रयास किया। वर्तमान में ऐसा ही प्रयास महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना की तरफ से किया जा रहा है। दिल्ली में गैर-पंजाबियों विशेषतः बिहार व दक्षिण भारत के निवासियों के प्रति अनुकूल माहौल नहीं दिखता है तो चेन्नई में उत्तर भारतीयों के प्रति।
4. प्रजातीय आधार पर भी हमारा बहुसंस्कृतिवाद कमज़ोर हुआ है। यूरोपीय देशों में जब किसी भारतीय के साथ नस्लवादी व्यवहार होता है तो भारतीय समाज तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, किंतु भारत में गोरे व काले का भेद, उत्तर-पूर्व के व्यक्तियों के प्रति भेदभाव तथा दक्षिण भारत के निवासियों को भिन्न मानने की मानसिकता साफ दिखाई पड़ती है।

भारतीय बहुसंस्कृतिवाद की आलोचनाएँ

1. डॉ. अबेडकर तथा अन्य दलित चिंतकों का प्रश्न है कि क्या बहुसंस्कृतिवाद में समाज के निम्न तबकों का कोई महत्त्व नहीं है? उन्होंने उपनिषदों, गीता तथा अन्य धर्मशास्त्रों के आधार पर साबित किया कि भारतीय समाज न तो धर्म के मामले में सहिष्णु रहा है, न वर्ण के मामले में और न लिंग के मामले में। यदि वह धर्म के मामले में सहिष्णु होता तो बौद्ध धर्म को भारत से पलायन क्यों करना पड़ता? यदि यह वर्ण व नारी के मामले में सहिष्णु होता तो शूद्रों व सभी वर्णों की नारियों को हजारों वर्षों तक मानवाधिकारों से क्यों वंचित होना पड़ता?
2. बहुसंख्यकों के दक्षिणपंथी संगठनों का आरोप है कि बहुसंस्कृतिवाद सिर्फ अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति है जो लोकतांत्रिक खेल में वोट बैंक को आकर्षित करने का तरीका है।
3. कुछ नारीवादियों का आक्षेप है कि बहुसंस्कृतिवाद के नाम पर महिलाओं के अधिकारों को नज़रअंदाज किया जा रहा है। उदाहरण के लिये, समान नागरिक संहिता का लामू न होना महिलाओं के प्रति विषमता को बनाए रखने का प्रयास ही है जो बहुसंस्कृतिवाद के नाम पर होता है। शाह बानो प्रकरण इसी प्रवृत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण है।
4. बहुसंस्कृतिवाद जब लोकतंत्र के साथ मिल जाता है तो यह सभी संस्कृतियों की चिंता नहीं करता, सिर्फ उनकी चिंता करता है जिनके पास राजनीतिक उठापटक की शक्ति होती है, जैसे- भारतीय राज्य में पारसियों, यहूदियों व जैनों की सुरक्षा हेतु कोई विशेष प्रेरणा नहीं दिखती, क्योंकि उनकी संख्या इतनी कम है कि वे चुनावी राजनीति पर कोई विशेष असर नहीं डाल सकते।

प्रश्न- बहुसंस्कृतिवाद अच्छा है या बुरा, विचार करें।

बहुसंस्कृतिवाद वह अवधारणा है जो समाज के बहु-सांस्कृतिक स्वरूप पर बल देती है। एक बहु-सांस्कृतिक समाज वह है जो दो या दो से अधिक सांस्कृतिक समूहों को करता है। इसमें सांस्कृतिक विविधता को समस्या नहीं, बल्कि समाज की संपत्ति या विरासत माना जाता है तथा उसकी रक्षा की जाती है।

बहुसंस्कृतिवाद को समाज के संदर्भ में अच्छे व बुरे दोनों पक्षों के रूप में देखा जा सकता है-

सकारात्मक पक्ष

1. बहुसंस्कृतिवाद में समाज द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण किया जाता है ताकि ये वर्ग अन्य वर्गों से किसी भी आधार पर पिछड़े न रह जाएँ, जैसे- भारतीय संविधान में धर्म व भाषा के आधार पर अल्पसंख्यकों को संस्कृति के संरक्षण की व्यापक सुविधा प्रदान की गई है।
2. मनुष्य यह समझता है कि उसका जन्म एक विशिष्ट संस्कृति में हुआ है। वह अपने जीवन व सामाजिक संबंधों को अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं तथा मूल्यों के आधार पर विकसित कर पाता है। वह आस-पास के जगत को अपनी संस्कृति की दृष्टि से देखता व समझता है। इस रूप में समाज में वास्तविक या सकारात्मक समानता का भाव विभिन्न संस्कृतियों में बना रहता है।

3. बहुसांस्कृतिक समाज में हर संस्कृति का महत्त्व होता है। इस स्थिति में अल्पसंख्यकों की तथा लुप्त होती संस्कृतियों को समाज में अधिक संरक्षण प्राप्त होता है तथा उन्हें अपनी मूल संस्कृति की पहचान बनाए रखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। किसी भी संस्कृति को अपनी पहचान बनाए रखने के लिये जूझना नहीं पड़ता है।
4. बहुसांस्कृतिक समाज में हर व्यक्ति को समान दृष्टि से देखा जाता है तथा समानता पर बल दिया जाता है और यह समानता समाज के हर व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के आधार पर ही संभव है।
5. विभिन्न संस्कृतियाँ, धर्म, समुदाय आदि जीवन के भिन्न-भिन्न मूल्यों व दर्शनों का प्रतिनिधित्व करती हैं व समाज में अंतर्क्रिया करती हैं। परिणामतः समाज में धार्मिक, सांस्कृतिक वैविध्य बना रहता है जो अंततः मानव समाज के हित में ही है।
6. बहुसांस्कृतिवाद के कारण सामासिक या मोजाइक संस्कृति का विकास हुआ है जिसमें प्रत्येक संस्कृति अपने आप में कई छोटी-छोटी संस्कृतियों के मिलने से बनती है। इस प्रकार, किसी समाज में विभिन्न संस्कृतियों के रंग देखे जा सकते हैं; अर्थात् समाज में कई संस्कृतियों का सहअस्तित्व बना रहता है।

नकारात्मक पक्ष

1. नारीवादियों का आरोप है कि बहुसांस्कृतिवाद विभिन्न संस्कृतियों के संरक्षण के नाम पर उनमें विद्यमान लिंग-भेद को नज़रअंदाज कर देता है। सामान्यतः ऐसे समाजों में भी महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं रह पाती है। जैसे- फ्रांस में एक-विवाह ही वैध है लेकिन फ्रांस सरकार ने बहुसांस्कृतिवाद के नाम पर इस्लामी समूह को बहुपत्नी विवाह की अनुमति दे दी जिसके कारण महिलाओं की स्थिति में अत्यधिक गिरावट देखी गई।
2. किसी समाज की स्थिरता व दीर्घजीविता के लिये आवश्यक है कि नागरिकों में किसी समान उद्देश्य या आदर्श के प्रति सर्व-सहमति हो। बहुसांस्कृतिक समाज में यह सर्व-सहमति किसी जाति, धर्म या सांस्कृतिक तत्व के आधार पर नहीं हो सकती क्योंकि ऐसे समाज में अनेक संस्कृतियों, जातियों व धर्मों की उपस्थिति होती है जिनके विचार आपस में मेल नहीं खाते हैं।
3. यह धर्मनिरपेक्षता की स्थिति को लाने में भी बाधा उत्पन्न करता है, क्योंकि धार्मिक विविधता के कारण धर्मों की अतार्किक मान्यताओं का विरोध करना भी संभव नहीं रहता।
4. बहुसांस्कृतिक समाज में बने रहने के लिये आवश्यक है कि लोगों की सांस्कृतिक विभिन्नताओं का सम्मान किया जाए लेकिन राष्ट्रीय एकता व अखंडता को प्राप्त करना सामान्यतः बहुसांस्कृतिक समाज में मुश्किल कार्य है, जैसे- सोवियत यूनियन व यूगोस्लाविया इस कार्य को नहीं कर पाए, परिणामतः विघटन के शिकार हुए।
5. सांस्कृतिक सापेक्षवाद का सिद्धांत जो बहुसांस्कृतिवाद का वैचारिक आधार है, में सभी संस्कृतियों को बराबर माना जाता है। कुछ मानवशास्त्रियों के अनुसार यह सिद्धांत ही अनुचित है, क्योंकि यदि किसी संस्कृति का कोई हिस्सा गलत है तो उसे चुनौती दी जानी चाहिये।
6. बहुसांस्कृतिवाद विभिन्न संस्कृतियों के विशिष्ट तत्त्वों पर बल देने के कारण सांस्कृतिक आग्रहों तथा सांस्कृतिक उग्रता को बढ़ावा देता है जिससे न सिर्फ औद्योगिक समाज का विकास अवरुद्ध होता है, बल्कि व्यक्ति का संकल्प-स्वातंत्र्य भी समाप्त हो जाता है क्योंकि समूह के दबाव के सामने व्यक्ति का स्वातंत्र्य नहीं बचता।

इस प्रकार बहुसांस्कृतिवाद सकारात्मक व नकारात्मक दोनों पक्षों को साथ में लेकर चलता है। इसके बावजूद, बहु-सांस्कृतिक समाज अपने वर्तमान स्वरूप में भूमंडलीकरण के दौर के वांछित समाज का परिचायक है।

अपराध (Crime)

भ्रष्टाचार (Corruption)

भ्रष्टाचार के दो अर्थ लिये जाते हैं— व्यापक तथा संकीर्ण। व्यापक अर्थ में किसी भी ऐसे कृत्य को भ्रष्टाचार कहा जाता है जो अनैतिक आचरण में शामिल किया जाता हो, जैसे— झूठ बोलना, अवैध संबंधों में लिप्त होना आदि। किंतु, राजनीति-दर्शन में भ्रष्टाचार का यह नीतिमीमांसीय अर्थ नहीं, बल्कि एक विशेष पारिभाषिक अर्थ लिया जाता है। इस अर्थ के अनुसार किसी राजकीय कर्मचारी द्वारा निजी स्वार्थ के लिये सत्ता का दुरुपयोग करना या सत्ता का उचित उपयोग न करना भ्रष्टाचार है।

भ्रष्टाचार की समस्या किसी काल विशेष की न होकर सार्वकालिक प्रकृति की है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह मनुष्य की मूल पाशविक प्रवृत्तियों की ही उपज है जबकि कुछ अन्य के अनुसार इसका उद्भव समाज के उद्भव के साथ हुआ जब विभिन्न व्यक्तियों ने सामाजिक संसाधनों पर कब्जे की होड़ शुरू कर दी। बहुत से प्राचीन ग्रंथों में भ्रष्टाचार के संकेत मिलते हैं। प्लेटो ने कहा था कि यदि “राज्य वासना के प्रतिनिधि ‘उत्पादक वर्ग’ के हाथ में आ जाएगा तो शासन भ्रष्ट हो जाएगा, अतः दार्शनिक राजा का होना ज़रूरी है।” इस विचार में भ्रष्टाचार की चिंता साफ दिखाई पड़ती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में बेहद साफ शब्दों में भ्रष्टाचार की चर्चा की है और इसके विभिन्न प्रकार भी बताए हैं। हज़रत मूसा ने ‘ओल्ड टेस्टामेंट’ में जो ‘दस आदेश’ संकलित किये हैं, उनमें से भी कुछ भ्रष्टाचार का संकेत करते हैं, जैसे— ‘पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो’ इत्यादि। कालिदास की प्रसिद्ध रचना ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ में भी एक राजकीय कर्मचारी के भ्रष्ट आचरण के माध्यम से ही दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा सुखात्मक अंत की ओर बढ़ती है। मध्यकाल में अकबर जैसे राजा वेश बदलकर अपने ही कर्मचारियों का निरीक्षण करते थे। ब्रिटिश शासन तो भ्रष्टाचार का उच्चतम उदाहरण माना जाता है। विशेषतः क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स दो ऐसे व्यक्ति हैं जिन पर आरोप भी लगा कि उन्होंने सत्ता का दुरुपयोग करके अकूत संपदा इकट्ठी की।

बहुत से राजनीति-दार्शनिकों ने भ्रष्टाचार का राजनीतिक विवेचन भी किया है। ‘सदरलैंड’ ने अपनी विश्व विख्यात पुस्तक ‘व्हाइट कॉलर क्राइम’ में उच्च वर्ग के अपराधों में भ्रष्टाचार को शामिल किया है। कई उदारवादी तथा मार्क्सवादी चिंतकों ने भी इस पर विचार किया है। उदारवादी इसे मनुष्य की मूल प्रकृति का परिणाम मानते हैं। उनकी धारणा है कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी होता है, इसलिये अवसर मिलने पर वह राज्य की शक्ति का दुरुपयोग अपने पक्ष में करता है। मार्क्सवादी इसकी व्याख्या भिन्न नज़रिए से करते हैं। विलियम चैबलिस तथा फ्रैंक पियर्स ने मार्क्सवादी नज़रिये से भ्रष्टाचार की व्याख्या की है। पियर्स ने अपनी पुस्तक ‘क्राइम ऑफ द पॉवरफुल’ में दावा किया है कि भ्रष्टाचार का मूल कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व में नहीं, पूंजीवाद के भीतर छिपा है। पूंजीवादी व्यवस्था में निम्न वर्ग इतना मजबूर होता है कि भ्रष्टाचार उसके लिये ज़रूरी हो जाता है। उच्च वर्ग सारे कानून इस तरह बनाता है कि उसका भ्रष्ट-से-भ्रष्ट आचरण भी कानून की नज़र में गलत नहीं होता। इसके अतिरिक्त, पूंजीवाद का आधारभूत मूल्य है— अधिक-से-अधिक धन-संपदा का संग्रहीकरण। जो समाज व्यक्तिवाद को जन्म देता हो और व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को सबसे महत्वपूर्ण मानता हो, वहाँ सांस्कृतिक मूल्य स्वयं भ्रष्टाचार पैदा करने लगते हैं। मनुष्य तो मूलतः अच्छा है, वह समाज के काम भी करना चाहता है किंतु गलत राजनीतिक व्यवस्थाएँ उसे उसकी मूल प्रकृति से अलग करके भ्रष्टाचार में लिप्त कर देती हैं। अराजकतावादियों ने भी लगभग ऐसी व्याख्या स्वीकार की है। वे मानते हैं कि राज्य का अस्तित्व ही भ्रष्टाचार के लिये उत्तरदायी है।

भ्रष्टाचार के स्वरूप और प्रकृति

भ्रष्टाचार एक संक्रामक बीमारी की तरह है जो निरंतर फैलती जा रही है। लोक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार वर्तमान में समाज की बहुत बड़ी समस्या बन चुकी है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र और समाज का लगभग प्रत्येक वर्ग (उदाहरण: चपरासी, क्लर्क, अफसर, राजनेता, मंत्री आदि) इससे ग्रसित हैं। भ्रष्टाचार के इस व्यापक स्वरूप और प्रकृति को निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है।

1. भ्रष्टाचार मूल रूप से व्यक्तिगत क्रिया है परंतु अब इसका क्षेत्र व्यापक हो गया है। इसका स्वरूप अब संस्थागत होने लगा है तथा इसमें सामूहिक क्रिया का रूप ले लिया है।
2. भ्रष्टाचार का संबंध व्यक्ति अथवा समूह द्वारा अपने निर्धारित कर्तव्यों की उपेक्षा करने से है। व्यक्ति द्वारा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा आर्थिक लाभ या अन्य लाभ के लिये की जाती है।
3. भ्रष्टाचार में पक्षपात तथा प्रलोभन के तत्त्व जैसे न्यायाधीश द्वारा पक्षपातपूर्ण निर्णय, लाभ के लिये ब्लैकमेल करना, टैक्स चोरी, रिश्वत/पैसे लेकर रिपोर्ट को छापना आदि तत्त्व शामिल होते हैं।
4. भ्रष्टाचार वर्तमान में सामाजिक समस्या का रूप ले चुका है, क्योंकि इसका क्षेत्र समाज के अधिकांश वर्गों की सामान्य कार्य प्रणाली से संबंधित हो गया है। परिणामस्वरूप समाज में नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का विघटन भी हो रहा है।

भ्रष्टाचार के कारण (Causes of Corruption)

भ्रष्टाचार के कारणों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है- सांस्कृतिक कारक तथा व्यवस्थागत कारक।

सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors)

1. वर्तमान में भ्रष्टाचार समाज की मूल्य-व्यवस्था (Value-System) में शामिल हो गया है। इसलिये भ्रष्टाचारी को अनैतिक या बुरा व्यक्ति नहीं माना जाता। यह इसके विकास का महत्वपूर्ण कारण है।
2. आज के उपभोक्तावादी समाज में व्यक्ति की आर्थिक हैसियत उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के मूल्यांकन का पैमाना बन गई है। उसकी नैतिकता, कर्मठता, ईमानदारी, निष्पादन क्षमता- ये सब आर्थिक हैसियत के सामने गौण हैं।
3. बढ़ती हुई उपभोक्तावादी चेतना के कारण व्यक्ति स्वयं अपनी परिभाषा अपने उपभोग स्तर के आधार पर करता है। डेकार्ट ने कहा था “मैं सोचता हूँ, इसलिये मैं हूँ” जबकि उपभोक्तावाद के समर्थकों का कथन है- ‘मैं भोग करता हूँ, इसलिये मैं हूँ।’
4. समाजीकरण (Socialisation) की प्रक्रिया कमजोर होने के कारण भ्रष्टाचार पनपता है। इसके दो कारण हैं। कई घरों में माता-पिता बच्चों को इतना समय नहीं दे पाते कि उनमें नैतिक मूल्यों का विकास हो सके। कई अन्य घरों में माता-पिता समय देते हैं किंतु वे स्वयं नहीं समझ पाते कि कौन-से मूल्य सिखाने योग्य हैं और कौन से नहीं। इसी प्रकार, कई माता-पिता बच्चों को बचपन से ही बहुत अधिक समृद्ध होने का सपना दिखाते हैं, कानून तोड़ने की घटना को उनके साहसी होने का लक्षण बताते हैं। ये सभी मूल्य बच्चे को अंततः भ्रष्टाचार की ओर बढ़ते हैं।
5. भारत जैसे समाज में, जहाँ व्यक्ति से ज्यादा महत्व परिवार, जाति, बिरादरी तथा धार्मिक समूहों का होता है, वहाँ व्यक्ति चौतरफा दबावों में घिरा होता है। ऐसा व्यक्ति जब कर्मचारी बनता है तो उसके लिये इन दबावों को नकारना कठिन होता है, क्योंकि इन दबावों को नकारने का अर्थ है अपने ही समाज से पूर्णतः बहिष्कृत व अलगावग्रस्त हो जाना।

6. समाज में ऐसे व्यक्ति कम नज़र आते हैं जो अपनी ईमानदारी के कारण जनता की नज़र में प्रतिष्ठित बने हों। मीडिया भी अक्सर ऐसे व्यक्तियों को महत्त्व देता है जो अपने धन, संपदा इत्यादि में बहुत ऊपर हैं, न कि चारित्रिक रूप से श्रेष्ठ हैं।
7. जिन समाजों में सामाजिक व आर्थिक अस्थायित्व होता है, वहाँ व्यक्ति सोचता है कि जब अवसर मिले, वह भविष्य की असुरक्षाओं से लड़ने का प्रबंध कर ले। यह मानसिकता भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है।

व्यवस्थागत कारक (Systemic Factors)

1. कभी-कभी व्यक्ति की आय सचमुच इतनी कम होती है कि वह अपने पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह नहीं कर पाता। वेतन मांग-पूर्ति के अंशानियम तथा योग्यता के अनुसार निर्धारित होता है, न कि व्यक्ति की मानवीय ज़रूरतों के आधार पर। इसलिये सबको समान रूप से मिलने वाला वेतन वस्तुतः किसी के लिये ज़रूरत से ज़्यादा होता है जबकि किसी के लिये कम। उदाहरण के लिये, एक निम्न श्रेणी के कर्मचारी के घर में यदि सदस्यों की संख्या अधिक हो और कोई सदस्य किसी खतरनाक बीमारी से जूझ रहा हो तथा राज्य से चिकित्सा सुविधा न मिलती हो, तो भ्रष्टाचार अपरिहार्य होने लगता है।
2. लोकतंत्र (तथा अन्य व्यवस्थाओं में भी) में प्रायः भ्रष्टाचार को राजनीतिक समर्थन हासिल होता है। स्वतंत्र भारत में भी भ्रष्टाचार के सारे शुरुआती मामले उच्चस्तरीय राजनीतिज्ञों से जुड़े थे, चाहे वह वी. के. कृष्ण मेनन का मामला हो, चाहे प्रताप सिंह कैरों का या नागरवाला का।
3. प्रशासनिक व्यवस्था में भी कई कमियाँ ऐसी होती हैं जो भ्रष्टाचार को बढ़ाती हैं, जैसे— पारदर्शिता का अभाव, जटिल नियम, लंबी प्रक्रिया, भ्रष्टाचार से लड़ने के कमजोर उपाय तथा विशेष कानूनों का अभाव इत्यादि।
4. यदि लोकतंत्र में जनसाधारण अपने राजनीतिक अधिकारों तथा प्रशासन की पारदर्शिता के प्रति सचेत न हो तो भ्रष्टाचार बढ़ता रहता है। भारत जैसे देशों में जहाँ जनसंख्या का बड़ा हिस्सा अशिक्षित है और राजनीतिक अधिकारों की चेतना से वंचित है, वहाँ अक्सर ऐसा होता है।
5. जो लोग भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ते हैं, यदि राज्य उन्हें पर्याप्त सुरक्षा प्रदान न करे तो भ्रष्टाचार से लड़ने की संभावना समाप्त हो जाती है। प्रशासन में अधिकतर देखा जाता है कि यदि कोई अधिकारी ईमानदारी से काम करे तो शेष अधिकारियों में हड़कंप मच जाता है व वे उसे हटाकर ही दम लेते हैं। उदाहरण के लिये, कुछ वर्ष पूर्व जब प्रसिद्ध समाजसेवक अन्ना हजारे ने महाराष्ट्र सरकार के दो भ्रष्ट मंत्रियों के विरुद्ध अनशन किया तो सरकार ने कदम उठाया लेकिन रिपोर्ट में दोनों अधिकारियों के साथ-साथ अन्ना हजारे पर भी भ्रष्टाचार का आरोप लगाया।

भ्रष्टाचार के प्रभाव (Impacts of Corruption)

1. प्रशासन का कमजोर होना, विशेषतः राज्य की कल्याणकारी गतिविधियों का कमजोर होना।
2. प्रशासनिक कार्यकुशलता में कमी आती है।
3. काले धन की समानांतर अर्थव्यवस्था के कारण सरकार को नुकसान तथा आर्थिक विकास की गति पर भी विपरीत प्रभाव।
4. विदेशी तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा उस देश का बहिष्कार, क्योंकि भ्रष्टाचारमूलक प्रशासनिक व्यवस्था आर्थिक गतिविधियों के लिये बाधक होती है।
5. आर्थिक संसाधनों का गलत तरीके से प्रयोग। जो आर्थिक संसाधन कम गति से खर्च होने चाहियें, वे भी भ्रष्टाचार के कारण तीव्र गति से समाप्त होते हैं।

6. समाज के नैतिक आधार पर चोट।
7. ईमानदार व प्रतिबद्ध लोगों के प्रोत्साहन में कमी।
8. पूरे विश्व में समाज या देश की छवि का खराब होना।
9. सामाजिक विषमताओं में वृद्धि।

भारत की स्थिति (India's Position)

भारत दुनिया के बहुत अधिक भ्रष्ट देशों में गिना जाता है। 'ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल' (Transparency International) ने बार-बार इस तथ्य को स्थापित किया है। भारत के भीतर राज्यों के स्तर पर देखें तो बिहार सर्वाधिक भ्रष्ट, फिर जम्मू-कश्मीर, फिर मध्य प्रदेश, फिर कर्नाटक तथा फिर राजस्थान हैं। इस सूचि में केरल सबसे नीचे है। जिन 11 लोक सेवाओं के आधार पर यह रिपोर्ट बनाई जाती है, उन 11 के 11 मानकों में केरल भ्रष्टाचार के सबसे निचले पायदान पर है।

समाधान (Solution)

सामाजिक स्तर पर सुझाव

1. सत्ता का अधिक-से-अधिक विकेंद्रीकरण होने से सत्ता का दुरुपयोग कम होता है। उदाहरण के लिये, केरल के सभी सामाजिक-आर्थिक सूचकांक न केवल भारत के सभी राज्यों से बेहतर हैं बल्कि चीन के सभी राज्यों से भी बेहतर हैं।
2. शिक्षा का विस्तार इस तरह से होना चाहिये कि शिक्षा केवल कुशलताएँ व दक्षताएँ ही न सिखाए बल्कि सामाजिक-राजनीतिक दायित्व बोध भी पैदा करे। केरल की सफलता का एक कारण यह भी है।
3. यदि समाज के वंचित वर्ग जैसे महिलाएँ, अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ भी प्रशासन में बराबरी के दर्जे पर हों तो पारस्परिक संतुलन के कारण भ्रष्टाचार की संभावना कम होती है। ऐसा देखा गया है कि जिन व्यवस्थाओं में जनजातियों और महिलाओं की पर्याप्त भागीदारी है, वहाँ भ्रष्टाचार मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों दृष्टिकोण से कम है।
4. मीडिया के माध्यम से ऐसे सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा दिया जाना चाहिये जो लोक जीवन में नैतिकता की स्थापना करें। मीडिया को ऐसे 'रोल मॉडल्स' बनाने चाहियें जो अपनी ईमानदारी के कारण समाज के लिये अनुकरणीय हैं।
5. सूचना तकनीक का बेहतर उपयोग किया जाए तो भ्रष्टाचार नियंत्रित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये— सारे सरकारी फॉर्म इंटरनेट पर उपलब्ध हों; कोई फाइल कहाँ पहुँची है, यदि कहीं रुकी है तो क्यों रुकी है आदि सूचनाएँ इंटरनेट पर उपलब्ध होनी चाहियें। कैमरा आदि उपकरणों का सही उपयोग किया जाए तो जहाँ भ्रष्टाचार की संभावना हो, वहाँ उसे कारगर तरीके से रोका जा सकता है।

व्यवस्थागत स्तर पर सुझाव

1. संसद को एक ऐसा कानून बनाना चाहिये, जिसके माध्यम से भ्रष्टाचार की शिकायत करने वालों को सुरक्षा मिले तथा उनसे संबद्ध सूचनाएँ गोपनीय रखी जा सकें।
2. जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को भी सरकारी कर्मचारी मानकर भ्रष्टाचार का दोषी मानना चाहिये।
3. सभी निर्वाचित प्रतिनिधियों तथा सरकारी कर्मचारियों द्वारा अपनी संपत्ति का खुलासा करना अनिवार्य बनाया जाना चाहिये। इसके अलावा, देश भर में अचल संपत्ति के ब्यौरे को कंप्यूटरीकृत करना चाहिये ताकि बेनामी संपत्ति की समस्या हल हो सके।

4. सूचना के अधिकार तथा 'सिटिजन चार्टर' जैसी व्यवस्थाओं का नियमित पालन होना चाहिये।
5. भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के तहत रिश्वत देने वाले व्यक्ति को भी अपराध में शामिल माना जाना चाहिये। इससे रिश्वत देने पर भी अंकुश लगेगा।
6. लोकपाल और लोकायुक्त की व्यवस्था दुरुस्त होनी चाहिये तथा यह पूरी संवैधानिक सुरक्षा के साथ कार्यात्मक होनी चाहिये।
7. यदि कोई अधिकारी भ्रष्ट पाया जाए तो उसकी संपत्तियों पर कब्जा करके उसके द्वारा भरपाई की जानी चाहिये।
8. सतर्कता आयुक्त की शक्तियों पर अनुचित नियंत्रण की कोशिश नहीं की जानी चाहिये।

भ्रष्टाचार के लिये उचित दंड

1. यदि भ्रष्टाचार बहुत कठिन परिस्थितियों के दबाव में हुआ हो, पहली बार किया गया हो और उसके कारण हुए सामाजिक नुकसान की मात्रा बहुत अधिक न हो तो सिर्फ इतना दंड मिले कि व्यक्ति उसकी यथासंभव भरपाई करे व व्यक्ति को सुधरने का मौका मिले।
2. यदि अपराध का कारण लालच है और समाज में नुकसान ज्यादा है, तब प्रतिशोधात्मक के साथ निर्वर्तन दंड का भी प्रयोग होना चाहिये। ऐसे व्यक्ति को न सिर्फ नौकरी से निकालना चाहिये बल्कि आपराधिक मामला भी दर्ज किया जाना चाहिये।
3. यदि मामला ऐसा है जो राष्ट्रीय हित के विरुद्ध है, जैसे- हथियारों की खरीद या जीवन-रक्षक दवाओं के मामले में रिश्वत लेकर गुणवत्ता से समझौता करना या रिश्वत लेकर मादक पदार्थों के व्यापार को नहीं रोकना या मानवीय अंगों की खरीद-फरोख्त को नज़रअंदाज़ करना- ऐसे मामलों में निर्वर्तन सिद्धांत का प्रयोग होना चाहिये। इनके लिये कठोर कारावास तो हो ही, दुर्लभतम मामलों में प्राणदंड भी दिया जाना चाहिये।

निष्कर्ष

भ्रष्टाचार हमारे नैतिक जीवन मूल्यों पर सबसे बड़ा प्रहार है। भ्रष्टाचार से जुड़े लोग अपने स्वार्थ में अंधे होकर राष्ट्र और समाज को पीछे ढकेलने का कार्य करते हैं। भ्रष्टाचार के स्वरूप की विविधता तथा इसके चरित्र की व्यापकता का एक निश्चित कारण खोजना कठिन है। ऐसे में संभव है कि भ्रष्टाचार से निटपने के लिये कोई भी एक उपाय पर्याप्त नहीं होगा। अतः अगर इसको पूर्णतः समाप्त करना है तो इसे समग्रता के दृष्टिकोण से देखते हुए सभी सुधार के कारकों को एक साथ लाकर एक हथियार के रूप में प्रयोग करके ही भ्रष्टाचार को समूल रूप से समाप्त किया जा सकता है।

जाति संहार/जीनोसाइड (Genocide)

जीनोसाइड क्या है? (What is Genocide?)

जीनोसाइड दो शब्दों से मिलकर बना है- 'Geno' तथा 'Cide'। 'Geno' ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'समूह', 'जाति' या 'नस्ल'। 'Cide' लैटिन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'मारना'। इस प्रकार Genocide का शाब्दिक अर्थ है- एक समूह या नस्ल की हत्या करना। राजनीति दर्शन में इसका सामान्य अर्थ है- 'किसी जातीय, धार्मिक, प्रजातीय या राष्ट्रीय समूह को जान-बूझकर तथा व्यवस्थित रूप से मारना।' इसी से संबंधित एक प्रसिद्ध अवधारणा 'जातीय उच्छेदन' (Ethnic Cleansing) है जिसका तात्पर्य है किसी समूह को जड़ से ही समाप्त कर देना। सामान्यतः जीनोसाइड को जातीय उच्छेदन का साधन माना जाता है।

जीनोसाइड शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग राफेल लैमकिन (Raphael Lamkin) नामक अंतर्राष्ट्रीय विधि विशेषज्ञ ने 1944 ई. में किया जब हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ऐसी ही नीतियाँ चला रहा था। राफेल खुद जर्मनी द्वारा नियंत्रित पोलैंड में था किंतु, वह अमेरिका भागने में सफल रहा और उसने इस अपराध के विरुद्ध मुहिम छेड़ी। लेमकिन के अनुसार यह जरूरी नहीं है कि जीनोसाइड में एक समूह को एक साथ या तुरंत मारा जाए। सामान्यतः यह एक लंबी और सुनियोजित प्रक्रिया होती है जिसके अंतिम परिणाम के तौर पर उस समूह का उच्छेदन हो जाता है।

लेमकिन ने जीनोसाइड को अंतर्राष्ट्रीय विधि में अपराध घोषित कराने के लिये एक विस्तृत प्रारूप तैयार किया जिसे संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा ने 9 दिसंबर, 1948 को स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव के अनुसार कोई भी ऐसी कार्यवाही जो किसी राष्ट्रीय, जातीय, नस्लीय या धार्मिक समूह को 'समग्रतः' या 'अंशतः' नष्ट करने के उद्देश्य से की जाती है, वह जीनोसाइड है। इस प्रस्ताव के अनुसार निम्नलिखित में से कोई भी कार्यवाही जीनोसाइड में शामिल होती है-

1. समूह के सदस्यों की हत्या करना।
2. समूह के सदस्यों को गंभीर शारीरिक या मानसिक नुकसान पहुँचाना।
3. जान-बूझकर ऐसी स्थितियाँ निर्मित करना कि उस समूह का जीवन 'समग्रतः' या 'अंशतः' समाप्त हो जाए।
4. ऐसी नीतियाँ जबरन लागू करना जो उस समूह में शिशुओं के जन्म को रोकती हों।
5. बल-प्रयोग के माध्यम से उस समूह के बच्चों को अन्य समूहों में स्थानांतरित करना।

जीनोसाइड का ऐतिहासिक विकास (Historical Development of Genocide)

जीनोसाइड कोई नई समस्या नहीं है। यह मानव इतिहास में मध्यकाल से ही दिखाई देती है। 11वीं सदी में ईसाई धर्म योद्धाओं द्वारा यहूदियों और मुसलमानों का जो नरसंहार हुआ वह इसी का उदाहरण था। 13वीं शताब्दी में चंगेज खाँ व 14वीं सदी में तैमूर ने अपने क्षेत्र को बढ़ाने के लिये इस नीति का पर्याप्त प्रयोग किया। 16वीं सदी में यूरोप के धर्मसुधार के दौरान कई राजाओं ने कैथोलिक या प्रोटेस्टेन्ट संप्रदाय के विरुद्ध इस नीति का प्रयोग किया। 17वीं सदी में अमेरिका के पूर्वी तट से अमेरिका के मूल निवासियों का पूर्ण विनाश भी इसी का उदाहरण है।

जीनोसाइड जिस शताब्दी में सबसे भयानक रूप में सामने आया, वह 20वीं सदी है। संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार आयुक्त मैरी राबिन्सन ने 1998 में दावा किया कि 20वीं शताब्दी में जीनोसाइड के कारण लगभग 21 करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु हुई और इनमें से लगभग 80% अर्थात् 17 करोड़ सामान्य नागरिक थे। इस शताब्दी के प्रमुख जीनोसाइड इस प्रकार हैं-

1. शताब्दी के पहले दशक में जर्मन उपनिवेशवादियों ने वर्तमान नामीबिया के हेरेरो (Herero) समुदाय के लोगों का संहार किया।
2. 1915 में तुर्कों ने लगभग 15 लाख आर्मेनियाई नागरिकों को मारा।
3. 1930 के दशक में स्टालिन ने कृषि सुधारों के नाम पर लाखों किसानों की हत्या की। यह दुनिया का पहला राजनीतिक या विचारधारात्मक जीनोसाइड था।
4. 1930-45 के बीच जर्मनी जीनोसाइड का सबसे बड़ा केंद्र बन गया। हिटलर तथा नाजीदल के अन्य समर्थकों ने यहूदियों, स्लावों तथा जिप्सी समुदायों के लोगों को चुन-चुन कर मारना शुरू किया। इन्होंने कई ऐसे चैंबर बनाए जिसमें जाइक्लोन (Zyklon) गैस का प्रयोग करके एक साथ हजारों यहूदियों को मारा जाता था। इसके अतिरिक्त जोसेफ मिंगेल (Joseph Mengele) के नेतृत्व में 'नाजी चिकित्सा' (Nazi Medicine) से संबंधित दर्दनाक प्रयोग किये गए जिनका उद्देश्य यह साबित करना था कि जर्मन नस्ल बाकी सभी नस्लों से बेहतर है।

5. 1960 के दशक में नाइजीरिया में इबो (Ibo) समुदाय के लाखों सदस्यों की हत्या हुई।
6. रवांडा का उदाहरण सबसे भयानक उदाहरणों में से एक है। 1960 तथा 1970 के दशक तथा 1994 में हुतु और तुत्सी समुदायों के संघर्ष में लाखों लोग मारे गए।
7. 1966 में इंडोनेशिया में कम्यूनिस्टों का नरसंहार हुआ और 1970 के दशक में कंबोडिया में ख्मेर रुज नामक कम्यूनिस्ट पार्टी के सत्ता में आने पर पोल पोट ने लगभग 20 लाख राजनीतिक विरोधियों की हत्या की।
8. 1975-2000 तक इंडोनेशिया ने पूर्वी तिमोर में दमन किया जिसमें जीनोसाइड का तौर-तरीका भी शामिल था।

जीनोसाइड की अवस्थाएँ (Stages of Genocide)

‘जीनोसाइड वॉच’ (Genocide Watch) नामक संस्था के अध्यक्ष ग्रेगोरी स्टैंटन (Gregory Stanton) ने 1996 में एक प्रसिद्ध लेख लिखा- 'The Eight Stages of Genocide'। इसमें इन्होंने बताया कि किसी भी समाज में जीनोसाइड सामान्यतः 8 क्रमिक अवस्थाओं के माध्यम से होता है। पहली अवस्था है- ‘वर्गीकरण’ (Classification)। इसके अंतर्गत लक्ष्य समूह को एक ‘समूह’ के रूप में परिभाषित किया जाता है। दूसरी अवस्था है- ‘प्रतीकीकरण’ (Symbolisation)। इसमें दूसरे समूह से घृणा व्यक्त करने के लिये कुछ प्रतीक बनाए जाते हैं। तीसरी अवस्था है- ‘अमानवीयकरण’ (Dehumanisation)। इसमें यह विचार फैलाया जाता है कि दूसरे समूह के लोग सामान्य मनुष्य नहीं बल्कि मनुष्य से निम्न हैं। चौथी अवस्था ‘संगठनीकरण’ (Organisation) है जिसमें जीनोसाइड करने वाला समूह कुछ हिंसक व्यक्तियों का चयन व प्रबंधन करता है ताकि वे व्यवस्थित रूप से संहार कर सकें। पाँचवी अवस्था है ‘ध्रुवीकरण’ (Polarisation)। इसमें घृणा फैलाने वाला समूह इतना दुष्प्रचार करता है कि दोनों समूहों के लोग भीतर-ही-भीतर ध्रुवीकृत हो जाते हैं। अगली अवस्था ‘तैयारी’ (Preparation) है। इसमें दूसरे समूह के उन लोगों को चुन लिया जाता है जिनकी हत्या की जानी है। सातवीं अवस्था ‘विध्वंस’ (Extermination) है जिसमें बड़े पैमाने पर रक्तपात होता है। आठवीं अवस्था ‘अस्वीकृति’ (Denial) की है जिसमें रक्तपात करने वाले लोग यह दावा करते हैं कि उन्होंने कोई अपराध नहीं किया।

जीनोसाइड के प्रकार (Types of Genocide)

जीनोसाइड के मुख्यतः दो प्रकार माने गए हैं- **सांस्कृतिक जीनोसाइड (Cultural Genocide)** तथा **विचारधारा पर आधारित जीनोसाइड (Ideology based Genocide)**। सांस्कृतिक जीनोसाइड में किसी धार्मिक या नस्लीय समूह को मारा जाता है। उदाहरण के लिये, नाजी जर्मनी में ऐसा ही हुआ। इस प्रकार के जीनोसाइड को कुछ विचारक ‘**एथनोसाइड**’ (Ethnocide) भी कहते हैं। दूसरा प्रकार है विचारधारात्मक या राजनीतिक जीनोसाइड। इसमें राजनीतिक उद्देश्यों के लिये समूह का संहार किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र की जीनोसाइड की परिभाषा में स्टालिन के दबाव के कारण इसे शामिल नहीं किया जा सका किंतु विचारक इसे जीनोसाइड मानते हैं। इस वर्ग को आर.जे. रुमेल (R.J. Rummel) ने ‘**डीमोसाइड**’ (Democide) तथा हार्फ (Harff) तथा गर (Gurr) ने ‘**पोलिटीसाइड**’ (Politicide) कहा है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं- सोवियत संघ में स्टालिन तथा कंबोडिया में पोल पोट का शासन। इंडोनेशिया में जो कम्यूनिस्टों का संहार हुआ, वह भी इसी का उदाहरण है।

कुछ विचारकों ने जीनोसाइड को दो अन्य वर्गों में बाँटा है- **राज्य समर्थित जीनोसाइड** तथा **राज्य द्वारा असमर्थित जीनोसाइड**। सामान्यतः जीनोसाइड राज्य द्वारा समर्थित ही होता है क्योंकि किसी समूह का इतने बड़े पैमाने पर विनाश बिना राज्य के सहमति के नहीं हो सकता। हिटलर, स्टालिन और पोल पोट के जीनोसाइड

इसी के उदाहरण हैं। कभी-कभी दो समूहों में घृणा इतनी बढ़ जाती है कि सामाजिक स्तर पर जीनोसाइड होता है। यह तब होता है जब राज्य कमजोर हो या गृहयुद्ध जैसी स्थिति पैदा हो जाए। रवांडा में हुतु और तुत्सी समुदायों में होने वाला संघर्ष हमेशा राज्य द्वारा समर्थित नहीं रहा।

जीनोसाइड के कारण (Causes of Genocide)

जीनोसाइड कुछ निश्चित कारणों पर आधारित होता है। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं-

1. यह मुख्यतः कठिन सामाजिक परिस्थितियों की उपज होता है। कभी-कभी किसी आर्थिक संकट या राजनीतिक अस्थिरता के कारण समाज बेहद तनावग्रस्त होता है और इस तनाव का कारण किसी समूह को मान लेता है। यह समूह बलि का बकरा (Scape goat) बन जाता है। यही कारण है कि अधिकांश जीनोसाइड सामाजिक संक्रमण के समय ही होते हैं।
2. जिन समाजों में बहुलवाद या बहुसंस्कृतिवाद पर आधारित मूल्य प्रचलित नहीं होते, उनमें सारे मूल्य सामान्यतः एकसंस्कृतिवादी होते हैं तथा एक समूह को अन्यो से बेहतर मानते हैं। ऐसे समाजों में जीनोसाइड की संभावना बढ़ जाती है क्योंकि सभी समूहों के प्रति बराबरी का नज़रिया नहीं होता।
3. कुछ समाजों में सत्ता व शक्ति को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। ऐसे समाज सामान्यतः वे हैं जहाँ आधुनिक तथा मानववादी विचारधारा का प्रचलन कम है। इन समाजों में जीनोसाइड का खतरा हमेशा मंडराता रहता है।
4. कुछ समाजों में मानवीय जीवन का महत्त्व कम होता है। विशेष तौर पर, प्राचीन या सामंतवादी समाजों में व्यक्ति के जीवन का विशेष मूल्य नहीं होता। ऐसे समाजों में जीनोसाइड की संभावना ज्यादा प्रबल होती है।
5. जिन देशों में सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये हिंसा के प्रयोग का लंबा इतिहास रहा है, वहाँ सामाजिक मूल्य ऐसे बन जाते हैं जो हिंसा की मानसिकता को प्रश्रय देते हैं और जीनोसाइड का आधार बन जाते हैं।
6. यदि किसी समाज में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के मध्य आर्थिक या राजनीतिक असंतुलन हो और बहुसंख्यक समुदाय के मन में तुलनात्मक वंचन (Relative Deprivation) की भावना पैदा हो जाए तो जीनोसाइड की संभावना प्रबल हो जाती है।

20वीं सदी में जीनोसाइड के तीव्र उभार के कारण (Causes of Heavy Presence in 20th Century)

20वीं शताब्दी में जीनोसाइड पर आधारित हिंसा इतनी अधिक हुई कि इससे पहले की सारी शताब्दियों में मिलाकर भी संभवतः इतनी नहीं हुई। यदि मैरी रोबिन्सन के दावे को ठीक मान लें तो मानना होगा कि सिर्फ 100 वर्षों में 21 करोड़ व्यक्ति इस हिंसा के शिकार हुए हैं। सामाजिक-राजनीतिक दार्शनिकों ने इसके कारणों का गंभीर विवेचन किया है। प्रमुख कारण इस प्रकार हैं-

1. संचार माध्यमों में तीव्र प्रगति होने से न सिर्फ संगठित और व्यवस्थित हिंसा को अंजाम देना आसान हो गया बल्कि जातीय विद्वेष की भावना फैलाना भी आसान हो गया।
2. परिवहन के साधनों की प्रगति ने भी इसमें काफी योगदान दिया। आमतौर पर जीनोसाइड किसी छोटे स्थान तक ही सीमित नहीं होते। परिवहन के साधनों ने भी इन्हें संभव बनाने में योगदान किया।
3. पारंपरिक हथियार व्यापक स्तर पर नरसंहार नहीं कर सकते थे। आधुनिक हथियारों के विकास ने एक साथ सैंकड़ों-हज़ारों व्यक्तियों को मारना संभव बना दिया।

4. औद्योगिक क्रांति से पहले सभी समाज सामान्यतः सरल समाज थे जिनमें सामुदायिक समरूपता दिखती थी। औद्योगिक क्रांति ने श्रम की गतिशीलता बढ़ाकर सरल समाजों को जटिल बना दिया जिसमें एक साथ विभिन्न धर्मों, नस्लों व जातियों के लोग रहने लगे। ऐसी स्थिति में जब भी कोई समूह थोड़ा आगे बढ़ने लगा, बाकी समूहों में तुलनात्मक वंचन की भावना पैदा होने लगी।
5. 19वीं सदी में हीगेल, नीत्शे, बर्नहार्डी और ऑस्टिन जैसे दार्शनिकों ने पूर्णसत्तावादी राज्य की वकालत की जिसकी शक्तियाँ अनियंत्रित होती हैं। इसी का परिणाम था कि 20वीं सदी के आरंभ में एक ओर नाजीवाद व फासीवाद पर आधारित सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) राज्य अस्तित्व में आए तो दूसरी ओर सोवियत संघ व चीन जैसे साम्यवादी राज्य भी इसी रास्ते पर चले। अफ्रीका में तो सांस्कृतिक विकास की ऐसी ही स्थितियाँ थीं कि वहाँ पूर्णसत्तावाद उभरे। यह संयोग नहीं है कि जीनोसाइड के अधिकांश उदाहरण ऐसे ही राज्यों में दिखते हैं।
6. 20वीं सदी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों की सदी है। पिछले 300-400 वर्षों से जो उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद चला आ रहा था, वह इस सदी में समाप्त होने लगा। अपनी शक्ति को हाथ से निकलता हुआ देखकर साम्राज्यवादी ताकतों ने हिंसा का भरपूर सहारा लिया। कई बार जीनोसाइड उनकी ऐसी नीतियों के कारण ही हुआ।

वैधानिक स्थिति : समस्याएँ तथा उपाय (Legal Situation: Problems and Solutions)

वर्तमान में जीनोसाइड अंतर्राष्ट्रीय विधि के तहत अपराध माना जाता है चाहे वह शांति काल में किया गया हो या युद्ध काल में। लेमकिन ने जो पहला प्रस्ताव तैयार किया था उसमें राजनीतिक हत्याओं को भी शामिल किया था, किंतु स्टालिन के दबाव के कारण उसे छोड़ देना पड़ा। 9 दिसंबर, 1948 को यह कानून बना और 1951 में जब इसके लिये आवश्यक न्यूनतम 20 देशों ने इसे स्वीकार कर लिया तो यह लागू हो गया। 1951 से 1990 तक इसका विशेष प्रयोग नहीं हो सका क्योंकि कई ताकतवर देश इसके पक्ष में नहीं थे। सोवियत संघ ने 1954 में, ब्रिटेन ने 1970 में और संयुक्त राज्य अमेरिका ने तो इसे 1988 में स्वीकार किया। 1990 के बाद से इसका वास्तविक प्रयोग शुरू हुआ। युगोस्लाविया के जीनोसाइड पर अंतर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायाधिकरण नियुक्त किया गया तथा कई दोषियों को सजा दी गई। रवांडा के जीनोसाइड पर भी एक विशेष न्यायाधिकरण नियुक्त किया गया है जिसने कुछ अभियुक्तों को दोषी करार दे दिया है तथा कुछ के संबंध में कानूनी प्रक्रिया चल रही है। किंतु, समग्रता में कहें तो यह वैधानिक स्थिति बहुत प्रभावशाली नहीं है।

वैधानिक स्थिति के कमजोर होने के दो-तीन प्रमुख कारण हैं। पहला यह कि इस कानून में राजनीतिक हत्याएँ शामिल नहीं हैं। अतः कई महत्वपूर्ण मामलों में यह कानून लागू नहीं होता। दूसरा, बहुत सारे देशों जैसे भारत, अमेरिका, वियतनाम, बांग्लादेश, मलेशिया व सिंगापुर आदि ने इस शर्त पर यह प्रस्ताव स्वीकार किया है कि उनकी सहमति के बिना कोई भी ऐसा मामला अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में नहीं लाया जाएगा जिसमें वे भी एक पक्ष हों। तीसरी समस्या जीनोसाइड की परिभाषा को लेकर है। इसकी परिभाषा में एक वाक्यांश शामिल है- 'समग्रतः या अंशतः', जिसका तात्पर्य है कि यह अपराध तभी माना जाएगा जब एक समूह को समग्र या आंशिक तौर पर नष्ट करने का प्रयास किया जाए। यूगोस्लाविया के मामले की जाँच कर रहे प्राधिकरण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की कि यदि समूह के किसी अंश की समाप्ति का आरोप लगाया गया है तो यह तभी माना जाएगा जब इस अंश से 'तात्त्विक रूप से' पूरे समूह की स्थिति निर्णायक रूप से प्रभावित होती हो। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि एक समूह के कम लोगों को मारा जाएगा तो उसे जीनोसाइड नहीं माना जाएगा।

दंड के सिद्धांत (Theories of Punishment)

दंड किसी किये गए अपराध की सजा है। जब हम किसी नियम का उल्लंघन करते हैं तो जो हमें शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा दी जाती है वही दंड है। दंड का सिद्धांत उचित और अनुचित के विचार पर टिका होता है। दंड सभी लोगों पर शासन करता है तथा सभी लोगों का परिरक्षण करता है। दंड के शासन से अभिप्राय राज्य में विधि/कानून की सर्वोच्चता है। राज्य की सीमाओं के अंतर्गत मनुष्यों पर विधि के नियमों तथा सिद्धांतों के आधार पर शासन करने का एक रूप है। सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में न्याय की आदर्श की प्राप्ति हेतु सुचारु शासन व्यवस्था से स्थापित करने हेतु दंड व्यवस्था का होना अवश्य है। दंड की व्यवस्था राज्य की अंतरिक संप्रभुता का द्योतक है और एक संदर्भ में राज्य की संप्रभुता को साकारित करने का एक रूप है। राज्य के प्रत्येक क्षेत्र में शांति एवं सुरक्षा दंड के भय के द्वारा ही स्थापित हो सकती है। व्यक्ति दंड के भय से अवैधानिक, असामाजिक कार्यों को करने से बचता है इस प्रकार दंड प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लोगों का परिरक्षण करता है।

विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में दंड की विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हैं जो राजनीति दर्शन में विचारित दंड की प्रमुख संकल्पनाओं पर आधारित हैं। दंड के संबंध में मुख्यतः आदर्शवादी (Idealist), अराजकतावादी (Anarchist), मार्क्सवादी (Marxist) तथा उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारकों ने चिंतन किया है व अपने वैचारिक आधारों पर दंड के औचित्य, दंड की मात्रा जैसे प्रश्नों का समाधान किया है।

प्रमुख रूप से दंड के तीन सिद्धांत माने जाते हैं— प्रतिशोधात्मक, निवारक तथा सुधारात्मक।

प्रतिशोधात्मक सिद्धांत (Retributive Theory)

प्रतिशोधात्मक सिद्धांत दंड के प्राचीनतम सिद्धांतों में से एक है। इसका सरलतम अर्थ यही है कि अपराधी से अपराध का बदला लिया जाना चाहिये। इसे दंड का परिणामनिरपेक्षवादी (De-ontological) सिद्धांत भी कहते हैं, क्योंकि इसके अंतर्गत दंड का उद्देश्य किसी अन्य लक्ष्य की उपलब्धि करना नहीं होता बल्कि दंड देना अपने आप में ही उद्देश्य होता है।

प्रतिशोधात्मक सिद्धांत का समर्थन मुख्यतः आदर्शवादी (Idealist) विचारक करते हैं, जैसे- अरस्तू, कांट, हीगेल, ब्रैडले व बोसांके जैसे दार्शनिकों ने इसका समर्थन किया है। आदर्शवादियों की मान्यता है कि दंड इसलिये दिया जाना चाहिये क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों के लिये स्वयं जिम्मेदार होता है। यदि उसने कोई गलत कार्य किया है तो इसमें निहित है कि वह उस गलत कार्य के परिणाम का हकदार है। यह तर्क मुख्यतः कांट ने प्रस्तुत किया है। ब्रैडले ने भी इसी तर्क को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “हम दंड इसलिये भुगतते हैं क्योंकि हम इसके पात्र हैं। इसका कोई दूसरा कारण नहीं है।” भारतीय दार्शनिकों में कौटिल्य ने भी इसका समर्थन किया है।

प्राचीन काल के बहुत से धर्मग्रंथों में भी प्रतिशोधात्मक सिद्धांत का समर्थन मिलता है। उदाहरण के तौर पर, यहूदियों के धर्मग्रंथ 'Old Testament' में स्पष्ट रूप से कहा गया है- 'आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत'। भारतीय दर्शन के अधिकांश संप्रदाय 'कर्म सिद्धांत' के समर्थक हैं। कर्म सिद्धांत भी इसी मान्यता पर टिका है कि व्यक्ति को अपने कर्मों के बराबर फल भुगतना पड़ता है। इस्लाम के शरीयत कानून तथा हम्मूराबी की संहिता में भी प्रतिशोधात्मक सिद्धांत का समर्थन किया गया है।

उपयोगितावादी दार्शनिक सामान्यतः प्रतिशोधात्मक सिद्धांत के समर्थक नहीं हैं क्योंकि वे दंड की व्याख्या परिणामसापेक्षवादी (Teleological) आधार पर करना चाहते हैं व इसकी कसौटी है- अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख। किंतु, बेंथम ने अपने दंड के व्यापक सिद्धांत के अंतर्गत सीमित रूप से प्रतिशोध सिद्धांत को

भी स्वीकार किया है। उसका तर्क है कि यदि किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति या समाज को चोट पहुँचाई है तो उसे चोट पहुँचाने से पीड़ित व्यक्ति या समाज को प्रतिहिंसा का सुख प्राप्त होता है। यदि यह सुख सुख व दुःख के कुल अनुपात में सुख का पलड़ा भारी करने में सहायक होता है तो इसे भी स्वीकार किया जा सकता है।

प्रतिशोधात्मक सिद्धांत को दंड का समानुपातिक सिद्धांत (Proportional Theory) भी कहते हैं क्योंकि इसमें अपराध व दंड के मध्य समान अनुपात (Equal Proportion) की स्थापना का प्रयास किया जाता है। ध्यातव्य है कि यह अनुपात प्रतीकात्मक तौर पर स्थापित होता है। न्यायाधीश यह अनुमान करता है कि अपराधी के कार्य से कितना नैतिक अशुभ (Moral Evil) उत्पन्न हुआ है व दंड की किस मात्रा से वह उसी अनुपात में नैतिक अशुभ का भोग कर सकता है।

आनुपातिकता की दृष्टि से प्रतिशोधात्मक सिद्धांत के दो रूप हैं— कठोर (Rigid) सिद्धांत तथा मृदु (Soft) सिद्धांत। कठोर प्रतिशोधात्मक सिद्धांत के अनुसार दंड की मात्रा सिर्फ अपराधिक कार्य के समानुपातिक होनी चाहिये; इस बात पर ध्यान देना वांछनीय नहीं है कि अपराध किन परिस्थितियों में किया गया है। प्रतिशोधात्मक सिद्धांत का यह रूप प्राचीन इस्लामी विधि, हम्मूराबी की संहिता आदि में दिखता है। मृदु सिद्धांत के अनुसार दंड की मात्रा का निर्धारण करते हुए अपराधी के कृत्य के साथ-साथ उसकी परिस्थितियों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। यदि अपराध कठोर परिस्थितियों के कारण हुआ हो तो दंड की मात्रा कम कर देनी चाहिये। यह सिद्धांत ईसाई दंडशास्त्र के अतिरिक्त आधुनिक राज्यों की दंड संहिताओं में दिखाई पड़ता है।

आलोचना

1. लेस्ली स्टीफेन और जे.एस. मिल का दावा है कि प्रतिशोधात्मक सिद्धांत बदला लेने की भावना पर आधारित होने के कारण औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। उनका तर्क है कि बदला लेने की मनःस्थिति में व्यक्ति तर्कशून्य व्यवहार करता है, अतः यह उचित नहीं है।
2. महात्मा गांधी व ईसाई धर्मशास्त्रियों ने भी बदला लेने की मानसिकता पर चोट की है। बाइबिल में ईसा मसीह ने स्वयं कहा है कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मार दे तो दूसरा गाल उसकी ओर बढ़ा दो। इसी कथन का प्रयोग महात्मा गांधी ने भी किया। बाइबिल का एक अन्य कथन है “वे लोग धन्य हैं जो अपराधी को मारते नहीं बल्कि उसे सुधारने का प्रयास करते हैं।”
3. यह सिद्धांत मानकर चलता है कि अपराध अपराधी के संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of Will) का परिणाम है अर्थात् उसने सोच-समझ कर अपराध करने का निर्णय लिया है। वास्तविकता यह है कि अधिकांश अपराधी शारीरिक दोष, आर्थिक वंचन या सामाजिक समस्याओं के शिकार होते हैं। अतः वे प्रतिशोध के नहीं बल्कि सहानुभूति, सहायता व चिकित्सा के हकदार होते हैं।
4. यह दंड अपराध के मूल कारणों पर चोट नहीं करता बल्कि अपराध के बाह्य लक्षणों पर चोट करता है। अतः इससे मूल समस्या का समाधान नहीं हो पाता।
5. टी.एच. ग्रीन व हेस्टिंग्स रैशडेल ने आनुपातिकता के दावे पर प्रश्न उठाया है। ग्रीन का दावा है कि अपराध के समानुपात में दंड का निर्धारण करना ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वस्तुनिष्ठता (Objectivity) नहीं आ सकती। रैशडेल ने इसी तर्क को बढ़ाते हुए कहा कि कभी-कभी इस आत्मनिष्ठता (Subjectivity) के कारण दंड की मात्रा अपराध से ज़्यादा हो जाती है व यह अपने आप में एक दूसरा अपराध है।
6. उपयोगितावादियों का दावा है कि प्रतिशोधात्मक सिद्धांत समाज के अधिकतम हित के मूल्य पर आधारित नहीं है, इसलिये यह व्यापक महत्त्व धारण नहीं करता। यह सिर्फ पीड़ित व्यक्ति की संतुष्टि तक सीमित होकर रह जाता है।

निवारक या निवर्तनवादी सिद्धांत (Preventive Theory)

दंड का एक प्रमुख सिद्धांत निवारक या निवर्तनवादी सिद्धांत है। इसका सरलतम अर्थ है कि अपराधी को ऐसा दंड दिया जाए कि दंड को देखकर भविष्य में हो सकने वाले अपराधों की रोकथाम हो। यह एक

परिणामसापेक्षवादी (Teleological) सिद्धांत है जिसके अनुसार दंड देना स्वयं में साध्य नहीं है बल्कि दंड के माध्यम से भविष्य के अपराधों को रोकना साध्य है। इसके संबंध में प्रसिद्ध राजनीति-दार्शनिक मैकेंजी का कथन है कि “तुम्हें दंड इसलिये नहीं दिया जा रहा कि तुमने भेड़ चुराई है बल्कि इसलिये दिया जा रहा है कि कोई भेड़ न चुराए।”

निवारक सिद्धांत का समर्थन मुख्यतः उपयोगितावादी चिंतकों ने किया है। उनका दावा है कि निवारक दंड के कारण कई संभावित अपराधी भयभीत होकर अपराध करने से रुक जाते हैं। अपराधों के रुक जाने से सुख व दुःख में सुख का पलड़ा भारी होता है व इस कारण अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख सधता है। बेंथम ने अपने दंड के व्यापक सिद्धांत में निवारक सिद्धांत का समर्थन भी किया है।

उपयोगितावादियों के अतिरिक्त कई अन्य विचारक भी इसका समर्थन करते रहे हैं। मनु व कौटिल्य दोनों ने इसका समर्थन किया है। मनु का कथन है कि केवल दंड के भय से ही संसार न्याय-पथ से विचलित नहीं होता है। कौटिल्य ने अपनी दंड व्यवस्था में 17 प्रकार के निवारक दंडों की व्यवस्था की है। पारंपरिक धर्मतंत्रों, राजतंत्रों तथा तानाशाहीपरक प्रणालियों में भी इसका प्रयोग होता रहा है ताकि जनता पर दबाव बनाया जा सके। 20वीं शताब्दी में साम्राज्यवादियों ने स्वाधीनता संघर्षों को कुचलने के लिये व सोवियत संघ तथा कम्बोडिया जैसे राज्यों ने समाजवाद विरोधियों को कुचलने के लिये इसका काफी प्रयोग किया है।

निवारक सिद्धांत कुछ दृष्टियों से प्रतिशोध सिद्धांत से मिलता-जुलता है। यह भी मानता है कि प्रत्येक अपराध अपराधी के संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of Will) की अभिव्यक्ति होता है, इसलिये अपराधी नैतिक दृष्टि से दंड का अधिकारी है। यह भी पारंपरिक राज्यों तथा पिछड़े समाजों में ज्यादा प्रचलित होता है जहाँ व्यक्ति का महत्त्व राज्य व समाज के सामने अत्यंत कम होता है।

आलोचना

1. इसकी सर्वप्रमुख आलोचना यह है कि इसमें मनुष्य को साधन बना दिया जाता है क्योंकि उसे दंड देकर अन्य व्यक्तियों को अपराध करने से रोका जाता है। कांट व सार्त्र जैसे चिंतक जो मनुष्य को स्वतःसाध्य मानते हैं, ऐसी विचारधारा का कठोर खंडन करते हैं।
2. इसमें दंड का अनुपात अपराध से अधिक होता है अर्थात् किसी-न-किसी मात्रा में बिना अपराध के दंड भुगतना पड़ता है। रैशडेल के अनुसार यह तो स्वयं में एक अपराध है।
3. यह सिद्धांत मानकर चलता है कि व्यक्ति भयभीत होकर नैतिक मार्ग का अनुसरण करता है जबकि सच यह है कि भय पर आधारित नैतिकता बेदह कमजोर व दिखावटी होती है। स्थितियाँ बदलते ही ऐसी नैतिकता समाप्त हो जाती है।
4. इसकी अन्य आलोचनाओं में निर्दोष को भी दंड दे दिया जाना, अपराध के बाहरी लक्षणों पर ही चोट करना तथा मानववादी मूल्यों का निषेध करना आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

वर्तमान समय में आधुनिक व धर्मनिरपेक्ष राज्यों में यह सिद्धांत प्रायः अप्रचलित हो गया है क्योंकि यह मानववादी नीतिमीमांसा से सुसंगत नहीं है। तब भी, कुछ पारंपरिक देशों, मुख्यतः मध्य-पूर्व के देशों व कुछ जनजातीय व्यवस्थाओं में यह अभी भी प्रचलित है। आतंकवाद व जीनोसाइड जैसी समस्याओं को देखते हुए आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों के कई लोग भी पुनः इसके पक्ष में सोचने लगे हैं।

सुधारात्मक सिद्धांत (Reformative Theory)

यह दंड का सबसे प्रसिद्ध सिद्धांत है जो वर्तमान समय में अधिकांश राज्यों द्वारा पूर्णतः या अंशतः स्वीकार किया जाता है। इसका समर्थन मुख्यतः उपयोगितावादी तथा मानववादी विचारकों ने किया है। इस विचार के समर्थकों की स्पष्ट मान्यता है कि दंड प्रणाली का उद्देश्य व्यक्ति का सुधार करना है, न कि उसे प्रताड़ित करना। महात्मा गांधी व टी.एच. ग्रीन जैसे कुछ आदर्शवादियों ने भी इसका समर्थन किया है।

सुधारात्मक सिद्धांत के समर्थक मूलतः इस विचार को मानते हैं कि व्यक्ति के कृत्य सिर्फ उसके संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of Will) पर आधारित नहीं होते बल्कि उसकी परिस्थितियों से भी गहरे तौर पर प्रभावित होते हैं। इसलिये यदि कोई व्यक्ति अपराध करता है तो उसके मूल कारण की खोज उसकी परिस्थितियों में होनी चाहिये। इतना ही नहीं, यदि उसकी परिस्थितियाँ सुधार दी जाएँ तो वह स्वयं समाज का एक बेहतर सदस्य बन सकता है। महात्मा गांधी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि “प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का अंश छिपा होता है; उसे उपयुक्त परिस्थितियाँ दो- वह देवता बन जाएगा।” उनका एक अन्य कथन कि “घृणा पाप से करो, पापी से नहीं” इसी दृष्टिकोण का समर्थन करता है।

सुधारात्मक सिद्धांत यूँ तो कुछ प्राचीन धर्मग्रंथों में भी दिखता है किंतु इसका अधिक प्रचलन आधुनिक काल में हुआ है। प्राचीन काल में बौद्ध व ईसाई धर्म में इसके संकेत मिलते हैं। बुद्ध ने हृदय-परिवर्तन के मूल्य पर अत्यधिक बल दिया जो अंगुलिमाल की कथा जैसे प्रसंगों में स्पष्टतः दिखता है। बाइबिल में ईसा मसीह ने ‘आँख के बदले आँख’ सिद्धांत का विरोध करते हुए साफ तौर पर कहा है कि “वे लोग धन्य हैं जो अपराधी को सुधारते हैं, न कि उसका अंत करते हैं।”

सुधारात्मक सिद्धांत आधुनिक काल में ज्यादा प्रभावशाली बना क्योंकि कई शरीरवैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों व समाजशास्त्रियों ने अपराध के कारण के रूप में परिस्थितियों के महत्त्व को स्पष्ट किया। लांब्रोसो जैसे शरीर-वैज्ञानिकों ने प्रमाणित किया कि अपराध का एक बड़ा कारण व्यक्ति की आनुवंशिक संरचना में छिपा होता है। सिग्मंड फ्रॉयड व जॉन बौल्बी जैसे मनोवैज्ञानिकों ने बताया कि आरंभिक समाजीकरण में भावनात्मक संबंधों की कमी या नैतिक मूल्यों पर पर्याप्त बल न मिलने के कारण व्यक्ति अपराधी बनता है। रॉबर्ट मर्टन जैसे समाजशास्त्रियों ने दावा किया कि अपराध सामाजिक संरचना से ही पनपते हैं क्योंकि हर समाज व्यक्तियों को जो सपने दिखाता है, उनकी पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन नहीं दे पाता। इनके अतिरिक्त, विलियम चेम्बलिस तथा फ्रैंक पियर्स ने मार्क्सवादी दृष्टि से अपराधों की व्याख्या करते हुए बताया कि अपराध पूंजीवाद की मूल्य संरचना से उत्पन्न होते हैं, साम्यवाद जैसी व्यवस्थाओं में अपराध की संभावना बनती ही नहीं। इन सभी विचारों के प्रकाशन के फलस्वरूप विकसित देशों में यह विचार तेजी से उभरा कि अपराध करने वाला व्यक्ति अपने संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of Will) के माध्यम से अपराध नहीं करता, उसकी परिस्थितियाँ उसे अपराध करने के लिये बाध्य करती हैं। ऐसा विचार उत्पन्न होते ही यह दृष्टिकोण उभरा कि यदि अपराधी स्वयं दोषपूर्ण परिस्थितियों से पीड़ित है तो उसे शारीरिक दंड की नहीं अपितु चिकित्सा व सहानुभूतिपूर्ण माहौल की आवश्यकता है ताकि उसके मनोविकार नष्ट हो जाएँ व वह समाज का सामान्य सदस्य बन सके।

मानववाद (Humanism) व व्यक्तिवाद (Individualism) जैसे विचारों के तीव्र उभार के कारण भी सुधारात्मक सिद्धांत सफल हुआ क्योंकि इन सिद्धांतों में व्यक्ति को साध्य माना गया है। उदारवाद (Liberalism) के समर्थकों ने राज्य के यांत्रिक सिद्धांत (Mechanical Theory) पर बल दिया जिससे राज्य की शक्तियाँ इतनी नहीं बचीं कि वह व्यक्ति के जीवन पर दावा कर सके। इसने भी सुधारात्मक सिद्धांत को बल प्रदान किया।

सुधारात्मक सिद्धांत के समर्थक प्राणदंड (Capital Punishment) का स्पष्ट विरोध करते हैं। उनका दावा है कि प्रत्येक व्यक्ति विवेकशील (Rational) होता है व उपयुक्त परिस्थितियों में उसकी विवेकशीलता पुनः उभर सकती है। यदि अपराधी को प्राणदंड ही दे देंगे तो उसके सुधरने का मौका कहाँ बचता है? फिर, इस बात की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि प्राणदंड का निर्णय गलत हुआ हो। ऐसी स्थिति में गलत फैसले के संशोधन का अवसर भी खत्म हो जाता है।

कई विचारकों ने सुधारात्मक सिद्धांत के व्यावहारिक पक्ष पर भी विचार किया है। उदाहरण के तौर पर, जेरेमी बेंथम ने अपने दंड के व्यापक सिद्धांत के अंतर्गत एक विशेष कारागृह की रूपरेखा तैयार की जिसे उसने पानेप्टिकोन (Panaopticon) कहा। यह एक सैलुलर कारागृह की कल्पना है जिसमें कारागृह का अधीक्षक एकदम बीच में स्थित कमरे में होता है व उसके कमरे से सभी कैदियों के कक्ष नजर आते हैं। इस कमरे में ऐसे शीशे का प्रयोग किया जाता है जिसके कारण अधीक्षक तो जब चाहे कैदियों को देख सकता है किंतु

कैदी अधीक्षक को नहीं। उन्हें यह पता भी नहीं होता कि अधीक्षक उन्हें देख रहा है। बंथम की योजना थी कि ऐसे कारागार में कैदियों के सुधार का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया जा सकता है। भारत में भी ऐसे कई व्यावहारिक उदाहरण मिलते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तिहाड़ जेल में सुश्री किरण बेदी द्वारा किये गए ऐसे ही प्रयोग बेहद सफल रहे हैं।

आलोचना

1. यह सिद्धांत उन अपराधियों के लिये तो उपयुक्त है जो परिस्थितिवश अपराध कर बैठते हैं, किंतु अभ्यस्त अपराधियों (साइकोपैथ्स) के लिये पूर्णतः अनुपयुक्त है।
2. कई मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से सिद्ध हुआ है कि सुधारात्मक सिद्धांत दीर्घकालिक रूप में सफल सिद्ध नहीं होता। ब्रिटेन के अपराधियों से संबंधित एक अध्ययन में पाया गया है कि जितने लोग कारागार में रहकर बाहर निकले, उनमें से 60% पुनः वैसे ही अपराधों में लिप्त पाए जाने पर पुनः कारागृह भेजे गए।
3. यह सिद्धांत समय, ऊर्जा व धन की दृष्टि से बेहद खर्चीला है क्योंकि अपराधी को मिलने वाली शारीरिक व मानसिक चिकित्सा तो महँगी होती ही है, इसमें कई बार कई वर्षों का समय खर्च हो जाता है।
4. यदि अपराधी मनोविज्ञान के सिद्धांतों की जानकारी रखता हो तो उसके लिये छल करना काफी आसान हो जाता है। वह बिना आंतरिक सुधार के भी प्रदर्शित कर सकता है कि वह सुधर गया है परंतु मुक्त होने पर पुनः अपराधों में लिप्त हो सकता है।
5. अत्यंत गरीब देशों में तो यह सिद्धांत स्वयं अपराध की प्रेरणा बनने लगता है। कारागृह की स्थितियाँ यदि उसके बाहर की स्थितियों से ज़्यादा बेहतर हों तो गरीब लोगों में यह इच्छा स्वभाविक रूप से पनप सकती है कि वे कारावास में ही रहें व इसके लिये वे अपराध भी कर सकते हैं।

आधुनिक अपराधों के संदर्भ में दंड का समुचित सिद्धांत

अपराधों की दुनिया में आधुनिक अपराध के नाम से उन अपराधों को जाना जाता है जिनका विकास तकनीकी विकास के साथ हुआ है। ये अपराध परंपरागत अपराधों से केवल इस अर्थ में भिन्न होते हैं कि उनके क्रियान्वयन में तकनीक और बुद्धि का बहुतायत से प्रयोग होता है।

अपनी प्रकृति के ही अनुसार आधुनिक अपराधों की उतनी ही श्रेणियाँ संभव हैं जितनी श्रेणियाँ तकनीकी विकास की संभव हैं। इस आधार पर वर्गीकृत करें तो सर्वाधिक नवाधुनिक अपराध 'साइबर क्राइम' का कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत पहली श्रेणी 'हैकिंग' है। हैकिंग उन अपराधों को कहा जाता है जिनमें अपराधी अवैधानिक तरीके से जनसामान्य या अतिमहत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठानों के कंप्यूटर या वेबसाइट को नियंत्रित करके उसमें से आँकड़ों की चोरी करता है। इसमें 'पासवर्ड क्रैकिंग' का अपराध भी शामिल होता है। वायरस भेजना भी एक अपराध है। इसमें अपराधी अपनी मानसिक संतुष्टि या फिर किसी द्वेषपूर्ण उद्देश्य के कारण इंटरनेट के माध्यम से एक प्रोग्राम संप्रेषित करता है जो प्राप्त करने वाले कंप्यूटर की कार्य प्रणाली को पंगु बना देता है। कंप्यूटर से ही संबंधित साइबर श्रेणी का तीसरा अपराध है-स्पैमिंग, जिसमें अनपेक्षित ई-मेल भेजे जाते हैं। चौथा अपराध 'पोर्नोग्राफिक साइट्स' का है जिसके अंतर्गत कई लोग अश्लील वेबसाइट्स का निर्माण करते हैं।

तकनीकी विकास के साथ जैसे-जैसे स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है वैसे-वैसे स्वास्थ्य से जुड़े अपराधों की दुनिया में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया है। स्वास्थ्य संबंधी ये अपराध अत्यंत जघन्य होते हैं, जैसे- भ्रूण परीक्षण द्वारा लिंग निर्धारण व भ्रूण की हत्या। बिना जानकारी दिये गुर्दों व अन्य अंगों को निकालना भी एक पेशेवर तकनीकी अपराध बन गया है।

तकनीकी विकास के कारण विकसित जैविक तथा रासायनिक हथियारों से संबंधित अपराधों को एक अलग श्रेणी में रखा जा सकता है। इनका उत्पादन, विक्रय तथा प्रयोग सभी अपराध हैं। ये अपराध तो मानव अस्तित्व के लिये ही प्रश्न बन गए हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है कि तकनीकी अपराधों की दुनिया से ही संबंधित कुछ ऐसे पुरातन अपराध हैं जिन्होंने तकनीक का समावेश कर अपने स्वरूप को अधिक खतरनाक तथा संगठित रूप में तब्दील कर दिया है। आधुनिक अपराधों की इस श्रेणी के तहत आतंकवाद, वेश्यावृत्ति, सांप्रदायिक तथा जातीय हिंसा व महिलाओं के साथ होने वाले अपराधों का नाम लिया जा सकता है।

मानव सभ्यता के समक्ष ज्वलंत प्रश्न यह है कि इन अपराधों का उचित निवारण क्या हो और इनके निवारण के लिये कौन-सा दंड सिद्धांत अपनाया जाए? जैसा कि स्पष्ट है कि ये अपराध अलग-अलग प्रकृति और गंभीरता लिये हुए हैं, इनके लिये लागू दंड सिद्धांत भी अलग-अलग ही होने चाहियें। जहाँ तक साइबर क्राइम का प्रश्न है, ये अपराध मानव सभ्यता को ज़्यादा हानि नहीं पहुँचाते तथा ऐसे अपराधियों में सुधार की संभावना भी पर्याप्त होती है। अतः ऐसे अपराधों में सुधार का मौका देते हुए पुनरावृत्ति के आधार पर दंड की मात्रा बढ़ाए जाने की ज़रूरत है।

स्वास्थ्य से की गई खिलवाड़ मानव के साथ किया गया जघन्यतम अपराध है जिससे अपूरणीय मानसिक, शारीरिक तथा आर्थिक क्षति होती है। अतः ऐसे अपराधों में दंड का निवर्तनात्मक सिद्धांत लागू किया जाना चाहिये ताकि पीड़ित को मानसिक क्षतिपूर्ति तो हो ही, समाज में निवारक वातावरण भी कायम हो सके। जैविक तथा रासायनिक हथियारों का निर्माण एवं प्रयोग भी घोर अमानवीय है, अतः ऐसे मामलों में भी दंड का निवारक सिद्धांत प्रयुक्त होना चाहिये।

सबसे जटिल मुद्दा उन अपराधों के लिये दंड प्रक्रिया के चयन का है जो परंपरागत हैं पर अब उन्होंने तकनीक का सहारा लेकर अपना स्वरूप और प्रभाव क्षेत्र कई गुना बढ़ा लिया है। ऐसे अपराधों में आतंकवाद और सांप्रदायिक या जातिवादी हिंसा को एक ही वर्ग में रखा जाता है। आतंकवाद और सांप्रदायिक हिंसा एक ऐसी वैचारिक जंग है जो मानव के मनोमस्तिष्क में जन्म लेकर लड़ी जाती है और उसका भौतिक रूप हिंसा के रूप में सामने आता है। आतंकवादी व सांप्रदायिक हिंसा में शामिल व्यक्तियों को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वे जो अपने स्वार्थनिहित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हिंसा का सहारा लेते हैं और दूसरे वे जो इन स्वार्थी तत्वों का शिकार होकर गुमराह होते हैं। एक अन्य वर्ग भी बनाया जा सकता है— ऐसे व्यक्ति जो शोषित और वंचित हैं तथा अपने अधिकारों के लिये हथियार उठाने के सिवाय उनके सामने कोई विकल्प शेष नहीं रहता। सबसे पहले वर्ग के स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा अपराध चूँकि सचेतन, सायास किये जाते हैं तथा ये अपराध केवल संकल्प-स्वातंत्र्य का परिणाम होते हैं, अतः ऐसे व्यक्तियों को कठोरतम दंड देते हुए दंड के निवारक सिद्धांत का अनुपालन किया जाना चाहिये। दूसरे वर्ग के गुमराह व्यक्तियों को वापस समाज की मुख्य धारा में लाने के लिये उनके अपराधों को क्षमा प्रदान करते हुए उन्हें सही सोच विकसित करने का मौका तथा माहौल दिया जाना चाहिये। ध्यान रहे कि वे अपराधी इसलिये नहीं बने कि वे ऐसा चाहते थे बल्कि इसलिये कि उन्हें गुमराह किया गया। तीसरे वर्ग में आने वाले शोषित पीड़ित व्यक्तियों को शीघ्रातिशीघ्र उनके अधिकारों की पूर्ति की जानी चाहिये तथा उनके साथ किये जा रहे शोषण रूपी अपराध को तत्काल बंद किया जाना चाहिये।

अंतिम वर्ग महिलाओं के साथ जुड़े आधुनिक अपराधों का है। चूँकि महिलाएँ दलित तथा शोषित वर्ग से आती हैं, अतः इनके साथ किये गए अपराध अति निंदनीय हैं। जिस प्रकार हाल के वर्षों में छोटी तथा असहाय, अपंग बच्चियों के साथ बलात्कार तथा हत्या की घटनाओं में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है, उसे देखते हुए दंड का अति कठोर निवारक सिद्धांत उपयोगी साबित होगा।

अंततः कहा जा सकता है कि मानवीय सभ्यता के तकनीकी विकास के साथ उपजे आधुनिक अपराध तथा तकनीक की सहायता से अपना रूप बदलते परंपरागत अपराध अधिकांश मात्रा में अति गंभीर हैं तथा शेष कुछ साधारण कोटि के हैं। अतः उनकी प्रकृति का अध्ययन अति आवश्यक है ताकि दंड के स्थापित सिद्धांतों में से उचित सिद्धांत का प्रयोग किया जा सके।

दंड की आनुपातिकता का सिद्धांत

दंड के सिद्धांतों के संबंध में एक समस्या उठती है कि अपराध और दंड की मात्रा में कैसा अनुपात होना चाहिये? जहाँ निर्वतन सिद्धांत के समर्थक अपराध की मात्रा से अधिक दंड की वकालत करते हैं, वहीं प्रतिकारात्मक सिद्धांत के समर्थन अपराध व दंड को समानुपातिक बनाने के समर्थक हैं। तात्पर्य यह है कि अपराध से पीड़ित व्यक्ति को जितनी क्षति हुई है, उतनी ही क्षति अपराधी को पहुँचनी चाहिये या अपराधी द्वारा उतनी ही क्षतिपूर्ति की जानी चाहिये। समानुपातिकता पर बल देने के कारण ही प्रतिकारात्मक सिद्धांत को दंड का आनुपातिक सिद्धांत भी कहा जाता है।

आदर्शवादी दार्शनिकों ने आनुपातिकता की धारणा का समर्थन किया है। इसका समर्थन न सिर्फ प्लेटो, अरस्तू, कांट, हीगेल और ब्रेडले के दर्शन में दिखता है, बल्कि यहूदी और इस्लाम धर्मों तथा भारत के कर्म सिद्धांत में भी दिखता है। यहूदियों के धार्मिक ग्रंथ ओल्ड टैस्टामेंट (Old Testament) में स्पष्टतः कहा गया है- “आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत”। इस्लामी विधि और हम्मूराबी की संहिता में भी यही विचार मिलता है। कर्म सिद्धांत के अनुसार इसका दार्शनिक औचित्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार फल मिलने ही चाहियें। अतः दंड उसके बुरे कर्म का समानुपातिक फल ही है। आदर्शवादी विचारक भी यही बात कहते हैं। उनके अनुसार दंड का उद्देश्य किसी और लक्ष्य को साधना नहीं है, दंड तो स्वयं उद्देश्य या साध्य है क्योंकि न्याय के आदर्श नियम के अनुसार व्यक्ति को अशुभ संकल्प के अनुपात में दंड मिलना ही चाहिये। ब्रेडले का स्पष्ट कथन है कि ‘दंड सिर्फ इसलिये दिया जाता है कि व्यक्ति द्वारा किये गए कार्य उसकी अपेक्षा पैदा करते हैं, इसका और कोई अन्य कारण नहीं है।’

कुछ दार्शनिकों ने आनुपातिकता के इस सिद्धांत पर कुछ प्रश्नचिह्न लगाए हैं। पहली समस्या टी.एच. ग्रीन ने उठाई। ग्रीन के अनुसार, यह फैसला करना वस्तुनिष्ठ रूप से संभव नहीं है कि दंड की मात्रा अपराध की मात्रा के बराबर है अथवा नहीं? कुछ अपराधों में वस्तुनिष्ठता की संभावना थोड़ी बहुत हो सकती है, किंतु ज्यादातर मामलों में अपराध और दंड में प्रतीकात्मक स्तर पर ही समान अनुपात लाने की कोशिश की जा सकती है। उदाहरण के लिये, यदि कोई गरीब व्यक्ति किसी अमीर व्यक्ति का धन छीन ले और खर्च कर दे या एक लंगड़ा व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की टांग तोड़ दे तो ‘आँख के बदले आँख’ वाला सिद्धांत सिर्फ प्रतीकात्मक रूप में ही लागू हो सकता है। यहाँ जो भी निर्णय लिया जाएगा, वह नैतिक अशुभ की मात्रा के आधार पर होगा और नैतिक अशुभ की मात्रा का निर्धारण करने की प्रक्रिया इतनी आत्मनिष्ठ है कि प्रत्येक न्यायाधीश का निर्णय अलग हो सकता है।

हेस्टिंग्स रेशडेल ने इसी समस्या को एक अन्य प्रकार से प्रस्तुत किया। उसके अनुसार यह दावा शायद कभी भी नहीं किया जा सकता कि अपराध और दंड समानुपातिक हैं। समानुपात लाने के प्रयास में कभी-कभी दंड अपराध से कम हो जाएगा तो कभी-कभी अधिक। यदि दंड अपराध से कम है तो न्याय नहीं हो पाएगा और यदि अधिक है तो यह स्वयं में एक ज्यादा बड़ा अपराध होगा।

वस्तुतः आनुपातिकता का सिद्धांत एक अमूर्त संप्रत्यय है। कोई भी व्यावहारिक निर्णय इस सिद्धांत पर पूर्णतः खरा उतरेगा-ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। इसके बावजूद, दंड के निर्धारण में कोशिश यही होनी चाहिये कि दंड न तो अपराध से कम हो और न ही अधिक। हाँ, यदि मानववादी नीतिमीमांसा से प्रभावित होकर हम सुधारात्मक सिद्धांत का प्रयोग करें और यह समझें कि अपराध की प्रक्रिया में अपराधी के व्यक्तित्व से अधिक महत्त्व उसे बाध्य करने वाली परिस्थितियों का होता है तो आनुपातिकता का प्रश्न स्वतः निरर्थक हो जाता है।

दंड का नैतिक औचित्य

राजनीति दर्शन में दंड की अवधारणा के संबंध में एक समस्या यह उठती है कि क्या राज्य को दंड देने का नैतिक अधिकार है भी या नहीं? कुछ दार्शनिक राज्य को इस अधिकार से वंचित करते हैं; जबकि कुछ अन्य के अनुसार समाज के स्वस्थ संचालन हेतु राज्य को यह शक्ति दिया जाना जरूरी है।

मार्क्सवादियों, गांधीवादियों, अन्य अराजकतावादी दार्शनिकों तथा कुछ अतिवादी उदारवादियों ने राज्य के इस अधिकार पर प्रश्नचिह्न लगाया है। मार्क्सवादियों का दावा है कि राज्य शोषक वर्ग द्वारा नियंत्रित एक उपकरण मात्र है, इसलिये उसके सभी निर्णय वर्गीय हितों से तय होते हैं। राज्य निम्न वर्गों के विरुद्ध दंड व्यवस्था का प्रयोग करता है ताकि उच्च वर्गों की शोषक स्थिति बनी रहे और उनके खिलाफ क्रांति न हो सके। अतः राज्य का अस्तित्व स्वयं ही अनैतिक है। इसी में यह भी शामिल है कि दंड देने का अधिकार अनैतिक है। सर्वहारा की तानाशाही के दौरान मार्क्सवादी स्वयं इस अधिकार का अत्यधिक प्रयोग करते हैं, किंतु अंततः साम्यवाद में राज्य नहीं होगा- ऐसा उनका विश्वास है। गांधी की भी स्पष्ट मान्यता है कि राज्य व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में बाधक होता है क्योंकि वह सभी व्यक्तियों को समरूप बनाने का प्रयास करता है और अपनी दमनकारी शक्ति का प्रयोग भी करता है। आदर्श स्थिति वह होगी जहाँ राज्य होगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति 'प्रबुद्ध स्वहित' के अनुसार जियेगा और यदि आवश्यकता होगी तो समाज स्वयं ही अपराधी को सुधारेगा।

स्पष्ट है कि इन विचारकों ने राज्य को न तो अनिवार्य संस्था माना है, न ही नैतिक। इसलिये यदि समाज में अपराध या नैतिक अशुभ विद्यमान है तो उसके समाधान हेतु राज्य पर निर्भर होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी तरफ आदर्शवादी दार्शनिकों और कुछ उपयोगितावादी विचारकों ने राज्य को दंड की शक्ति देने का समर्थन किया है। आदर्शवादी विचारकों में प्लेटो, अरस्तू, कांट और हीगेल प्रमुख हैं, जिन्होंने स्पष्टतः यह विचार दिया। अरस्तू का दावा है कि राज्य के अस्तित्व से पूर्व व्यक्ति व्यक्ति बन ही नहीं पाता। वह व्यक्ति तब ही बनता है, जब राज्य द्वारा उसका नियमन होता है। रूसो और कांट ने स्पष्टतः माना कि राज्य के निर्णय 'सामान्य इच्छा' का प्रतिनिधित्व करते हैं जो व्यक्ति की वैयक्तिक इच्छाओं से अधिक महत्वपूर्ण हैं। हीगेल ने यहाँ तक कहा कि राज्य द्वारा दंड मिलना व्यक्ति के लिये सौभाग्य की बात है क्योंकि इस प्रक्रिया में व्यक्ति को परिष्कृत होने का अवसर मिलता है। वस्तुतः ये सभी विचारक राज्य को पवित्र संस्था मानते हैं और इसलिये राज्य के हाथ में दंड की शक्ति सौंपना चाहते हैं।

कुछ उपयोगितावादी दार्शनिकों ने भी राज्य को यह शक्ति देने का समर्थन किया है। ऐसे विचारकों में बेंथम प्रमुख हैं। लॉक जैसे उदारवादियों ने आंशिक रूप से इस मत का समर्थन किया है। लॉक और बेंथम का तर्क है कि यदि समाज में किसी व्यक्ति ने किसी अन्य व्यक्ति के साथ कुछ गलत किया है तो ऐसी स्थिति में दंड देना ज़रूरी हो जाता है, क्योंकि दंड नहीं दिया जाएगा तो व्यवस्था के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लग जाएगा। यह दंड या तो व्यक्ति स्वयं दे सकता है या फिर राज्य। यदि व्यक्ति स्वयं दंड देना चाहे तो दंड के निर्धारण में आत्मनिष्ठता हावी हो जाएगी। इसके अतिरिक्त यदि पीड़ित व्यक्ति कमजोर है तो वह दंड देने के स्थान पर और अधिक पीड़ित हो जाएगा-इसकी संभावना अधिक है। स्पष्ट है कि दंड देने वाली संस्था ऐसी होनी चाहिये जिसमें वस्तुनिष्ठता भी हो और शक्तिशाली व्यक्तियों को नियंत्रित करने की ताकत भी। यह संस्था राज्य ही हो सकता है। यह अवश्य है कि राज्य इस शक्ति का अंध-प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि अंध-प्रयोग होने पर व्यक्ति के अधिकार खण्डित होते हैं जबकि राज्य का निर्माण तो सभी व्यक्तियों ने अपने हित-साधन के लिये ही किया है।

कुल मिलाकर, यही कहा जा सकता है कि राज्य के हाथ में दंड देने का अधिकार होना चाहिये। यह दार्शनिक आधारों पर चाहे अनैतिक हो किंतु वर्तमान काल की व्यावहारिक स्थितियों से सुसंगत है। आवश्यकता राज्य से यह शक्ति छीनने की नहीं बल्कि यह देखने की है कि राज्य इस शक्ति का मनमाना और अवैध प्रयोग न कर सके। हाँ, यदि भविष्य में मार्क्स का साम्यवाद या गांधी का रामराज्य सचमुच स्थापित हो गया तो शायद न राज्य की आवश्यकता बचेगी और न ही राजकीय दंड व्यवस्था की।

दंड की नैतिकता

दंड के संबंध में एक नीतिमीमांसीय समस्या यह उठती है कि क्या दंड देने की प्रक्रिया स्वयं में नैतिक है अथवा नहीं? सामान्यतः जो विचारक प्रतिशोध या निवर्तन सिद्धांत के समर्थक हैं, वे इसे नैतिक मानते हैं जबकि सुधारात्मक सिद्धांत के समर्थक इसे अनैतिक बताते हैं।

दंड को नैतिक व्यवस्था मानने वाले विचारकों में प्रमुखतः आदर्शवादी तथा उपयोगितावादी शामिल हैं। आदर्शवादी विचारकों ने माना है कि व्यक्ति कोई भी अपराध अपने स्वतंत्र-संकल्प के माध्यम से करता है और उसकी क्षति किसी अन्य व्यक्ति को होती है। जो क्षति अन्य व्यक्ति या समाज को हुई है, उसकी वास्तविक या प्रतीकात्मक क्षतिपूर्ति तभी हो सकती है जबकि अपराधी को दंड दिया जाए। उसे दंड नहीं देने पर न्याय की मांग पूरी नहीं होगी, अन्य व्यक्ति अपराध की ओर प्रेरित होंगे और अपराधी व्यक्ति को सुधरने का अवसर भी नहीं मिलेगा। ऐसा भी हो सकता है कि वही अपराधी भविष्य में सुधर जाने के बाद स्वयं महसूस करे कि उसके परिष्करण हेतु दंड आवश्यक था। उदाहरण के लिये, यदि किसी बच्चे को गलत आदत छुड़ाने के लिये दंड दिया जाए तो भविष्य में वह स्वयं इसे नैतिक व्यवस्था कहेगा जबकि दंड प्राप्ति के समय उसे यह व्यवस्था अनैतिक प्रतीत होगी। उपयोगितावादियों के अनुसार, दंड से शेष समाज अपराध के भय से मुक्त होता है तथा अपराधी को सुधरने का अवसर भी मिलता है, इसलिये दंड नैतिक है।

कुछ अन्य विचारक दंड व्यवस्था को अनैतिक मानते हैं। इनमें गांधी जैसे आदर्शवादी, कुछ मार्क्सवादी, कुछ मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री शामिल हैं। इनका दावा है कि कोई भी व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपराध नहीं करता। अपराध उन परिस्थितियों के कारण होता है जो उसे घेरे रहती हैं। उदाहरण के लिये, उसकी आनुवंशिक या शारीरिक संरचना में दोष हो सकता है वह आर्थिक वंचन या सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित होने के कारण हीनता-ग्रंथि का शिकार हो सकता है, या फिर कोई मनोवैज्ञानिक समस्या भी उसे अपराध की ओर धकेल सकती है। ऐसी हर स्थिति में अपराधी को दंड की नहीं बल्कि सहयोग की आवश्यकता होती है ताकि वह इस नकारात्मक स्थिति से उबर सके। संकल्प-स्वातंत्र्य सिर्फ एक कल्पना है। वस्तुतः व्यक्ति के कार्य उसकी स्थितियों से निर्धारित होते हैं। फिर, यदि सभी व्यक्ति बराबर हैं तो एक व्यक्ति के लिये अन्य व्यक्ति दंड का निर्धारण करे, यह भी दार्शनिक दृष्टि से अनुचित है। कुछ व्यक्ति अपनी चेतना में राज्य से अधिक नैतिक और आदर्श होते हैं किंतु राज्य की विधि संहिता उन्हें अनैतिक ही मानती है। ऐसी स्थिति में भी दंड पूर्णतः अनुचित हो जाता है। ऐसे ही खतरे की ओर लास्की ने अपनी पुस्तक 'आज्ञापालन के खतरे' में संकेत किया है और कहा है कि हमें राज्य की बात वहीं तक माननी चाहिये जहाँ तक उसमें 'नैतिक पर्याप्तता' (Moral Adequacy) हो। गांधी जैसे विचारकों का दावा है कि दंड व्यक्ति की आत्मिक उन्नति में सहायक नहीं बाधक है, क्योंकि बाह्य दमन से वास्तविक नैतिकता का विकास नहीं हो सकता।

प्राणदंड (Capital Punishment)

परिचय

प्राणदंड (Capital Punishment) राजनीति दर्शन की एक प्रमुख समस्या है। 'कैपिटल पनिशमेंट' शब्द लैटिन शब्द 'कैपिटलिस' से बना है जिसका अर्थ है सिर। जो सजा व्यक्ति के सिर के नुकसान को व्यक्त करती है अर्थात् अस्तित्व के निषेध को व्यक्त करती है, उसे ही 'कैपिटल पनिशमेंट' या 'प्राणदंड' कहते हैं।

मृत्युदंड इतिहास में काफी प्रचलित रहा है क्योंकि प्राचीन समाजों में जहाँ सामाजिक नियमों का महत्त्व व्यक्ति के अस्तित्व से ज्यादा होता था, वहाँ इस सजा का प्रयोग काफी मात्रा में होता था। 16वीं सदी में इंग्लैंड में लगभग 300 प्रकार के अपराधों के लिये प्राणदंड दिया जाता था। 18वीं शताब्दी में यह संख्या 200 पर आई और अब बहुत कम ही ऐसे अपराध हैं जिनके लिये प्राणदंड का प्रावधान विभिन्न देशों में है। मुख्यतः मानव हत्या, आतंकवादी कार्यवाही, नशीले पदार्थों का व्यापार तथा मानव अंगों की खरीद-फरोख्त जैसे अपराध ही इस श्रेणी में आते हैं। सऊदी अरब एवं ईरान जैसे इस्लामी देशों में यौन व्यभिचार जैसे अपराधों के लिये भी प्राणदंड प्रचलित है। चीन में गंभीर किस्म के भ्रष्टाचार के लिये भी यह दंड दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, प्रायः सभी देशों के सैनिक कानूनों के अंतर्गत सैनिकों के लिये जासूसी, देशद्रोह, युद्ध में छल करने तथा धोखा देने जैसे अपराध भी प्राणदंड के लिये पर्याप्त माने जाते हैं।

वर्तमान में विश्व में 92 देश वैधानिक रूप से इसे समाप्त कर चुके हैं। इनमें उज्बेकिस्तान सबसे अंतिम उदाहरण है जिसने 2008 में ही यह कानून बनाया है। इनके अतिरिक्त 34 ऐसे देश भी हैं जहाँ वैधानिक तौर पर तो प्राणदंड विद्यमान है किंतु व्यावहारिक तौर पर पिछले 10 वर्षों में एक भी मामले में इसका प्रयोग नहीं हुआ। 60 देश अभी भी ऐसे हैं जहाँ प्राणदंड प्रचलित है। इनमें भारत, जापान, पाकिस्तान, चीन, सऊदी अरब, ईरान तथा इराक जैसे देश प्रमुख हैं। अमेरिका में संघीय स्तर पर तथा 36 राज्यों में अभी भी प्राणदंड स्वीकृत है। जो राज्य व्यावहारिक रूप से इस दंड का सर्वाधिक प्रयोग कर रहे हैं, उनमें प्रथम छः हैं- चीन, ईरान, सऊदी अरब, पाकिस्तान, अमेरिका तथा इराक।

प्राणदंड के समर्थन में तर्क (Arguments in Favour of Capital Punishment)

राजनीति दर्शन में मूल समस्या इस बात को लेकर है कि क्या प्राणदंड को नैतिक तौर पर स्वीकार किया जाना चाहिये या नहीं? कुछ आदर्शवादी तथा कुछ उपयोगितावादी विचारकों ने इसका समर्थन किया है जबकि कुछ अन्य उपयोगितावादियों, कुछ मानववादियों तथा महात्मा गांधी जैसे विचारकों ने इसका विरोध किया है।

प्राणदंड के समर्थन में मुख्यतः तीन प्रकार के तर्क हैं- प्रतिकारवादी (Retributive), उपयोगितावादी (Utilitarian) तथा अन्य तर्क। **प्रतिकारवादी तर्क** मुख्यतः प्रतिशोध सिद्धांत को आधार बनाकर चलता है और इसका समर्थन **हम्मूराबी** तथा **कांट** जैसे चिंतकों ने किया। मूल तर्क ब्रैडले की भाषा में कहें तो यह है कि दंड अपराधी के कृत्य का स्वाभाविक परिणाम है क्योंकि अपराधी ने उसके लिये अपनी अर्हता सिद्ध की है। इसी मूल तर्क के आधार पर हम्मूराबी ने एक प्रसिद्ध नियम बनाया जो इस प्रकार है- “यदि किसी भवन निर्माता ने कोई भवन अनुचित तरीके से बनाया है जिसके परिणामस्वरूप भवन गिरने से उसके मालिक की मृत्यु हो गई है तो भवन निर्माता को प्राणदंड मिलना चाहिये। यदि वह भवन गिरने से मालिक के बेटे की मृत्यु हो गई है तो भवन निर्माता के बेटे को प्राणदंड मिलना चाहिये।” इस तर्क में मूल विश्वास यही है कि अपराध की मात्रा के समानुपातिक दंड जरूर दिया जाना चाहिये।

प्रतिकारात्मक दृष्टिकोण से **कांट** ने भी एक तर्क दिया है। कांट के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति संकल्प स्वातंत्र्य से युक्त है और उसके निर्णय अपने स्वतंत्र संकल्प की अभिव्यक्ति होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह समाज के पक्ष में जिस तरह के निर्णय लेता है समाज भी उसके संबंध में वैसे ही निर्णय लेता है। यदि इतना समझते हुए भी कोई व्यक्ति हत्या करने जैसा कोई निर्णय लेता है तो उसके इस निर्णय में ही निहित है कि वह समाज द्वारा अपने लिये ऐसे ही निर्णय की अपेक्षा रखता है। इस दृष्टि से प्राणदंड पूर्णतः उचित है।

प्राणदंड के समर्थन में दूसरे प्रकार के तर्क **उपयोगितावादी (Utilitarian)** दार्शनिकों ने दिये। उपयोगितावादियों का मूल तर्क यह है कि ऐसा कोई भी कार्य समाज के लिये अच्छा है जो सुख और दुख के संतुलन में सुख के पलड़े को भारी बनाता है और ‘अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख’ के उद्देश्य तक पहुँचने में मदद करता है। जहाँ तक प्राणदंड का प्रश्न है, यह दो कारणों से उचित है। प्रथम यह कि अन्य कोई भी दंड अपराध की पुनरावृत्ति की संभावना समाप्त नहीं करता क्योंकि अपराधी पुनः वही कार्य दोहरा सकता है, किंतु प्राणदंड अपराध की पुनरावृत्ति की कोई संभावना नहीं छोड़ता। इसका दूसरा प्रभाव यह है कि यह समाज पर निवारक प्रभाव छोड़ता है तथा कई संभावित अपराधी इस दंड की भयावहता को देखते हुए अपराध करने का साहस नहीं जुटा पाते।

बेंथम ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण का विस्तार करते हुए इसमें एक तर्क और जोड़ा। समान्यतः उपयोगितावादी प्रतिकारात्मक सिद्धांत का समर्थन नहीं करते क्योंकि उनकी नज़र में यह परिणामनिरपेक्षवादी (De-Ontological) दंड है जिससे समाज में सुख की मात्रा में वृद्धि नहीं होती। बेंथम ने अपने दंड के व्यापक सिद्धांत में निवारक तथा सुधारात्मक दंडों का समर्थन तो किया ही, साथ ही प्रतिकार या प्रतिशोध सिद्धांत को भी शामिल किया।

वह कहता है कि प्रतिशोधात्मक या प्रतिकारात्मक सिद्धांत व्यक्ति को 'प्रतिहिंसा का सुख' प्रदान करता है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी निरपराध व्यक्ति की हत्या की हो तो इस तर्क के अनुसार उसे प्राणदंड देने से समाज को प्रतिहिंसा का सुख प्राप्त होगा जिससे सुख-दुख के कुल संतुलन में सुख की मात्रा बढ़ेगी।

प्राणदंड के समर्थन में कुछ अन्य तर्क भी दिये गए हैं। पहला तर्क **जॉन लॉक** ने दिया है। लॉक ने यूँ तो प्रतिकारात्मक और उपयोगितावादी दोनों तर्कों का प्रयोग किया किंतु एक अन्य तर्क भी दिया। उसने माना था कि प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिन्हें राज्य उससे नहीं छीन सकता। किंतु, दंड पर चर्चा करते हुए उसने स्पष्ट कहा कि ये अधिकार व्यक्ति के पास तभी तक हैं जब तक वह राज्य के नियमों व दायित्वों का पालन करता है। अपराध करने पर उसके अधिकार जब्त हो जाते हैं। चूँकि इन्हीं अधिकारों में एक जीवन का अधिकार भी है, अतः उसके जब्त होने से प्राणदंड औचित्यपूर्ण हो जाता है।

कुछ विचारकों ने प्राणदंड के पक्ष में **सादृश्यमूलक तर्क** दिया है। इस तर्क के अनुसार जिस प्रकार व्यक्ति अपनी रक्षा के लिये अपने कुछ अंगों की हानि उठा सकता है, उसी प्रकार समाज अपने सम्यक् संचालन के लिये अपने कुछ अंशों अर्थात् व्यक्तियों की हानि उठा सकता है। हम शरीर के उन्हीं अंगों को अलग करते हैं जो किसी व्याधि के शिकार हो जाते हैं और संपूर्ण शरीर के लिये खतरा पैदा करते हैं। ठीक ऐसे ही कुछ व्यक्ति भी समाज के लिये खतरा बन जाते हैं, इसलिये उन्हें प्राणदंड देना नैतिक है।

अंतिम तर्क यह है कि प्राणदंड विकासशील देशों के लिये **सस्ता उपाय** होने की वजह से बेहतर है। किसी व्यक्ति को लंबे समय तक कारावास में रखना काफी महँगा पड़ता है और वह खर्चा समाज को ही वहन करना पड़ता है। अतः सामाजिक खर्च को कम करने के लिये प्राणदंड को स्वीकारना ज्यादा उचित है।

कुछ **धर्मों** ने भी सैद्धांतिक रूप से प्राणदंड का समर्थन किया है। इसका समर्थन मुख्यतः यहूदी और इस्लाम धर्मों में दिखाई पड़ता है। यहूदी धर्म की मूल मान्यताएँ ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) के इस नियम में दिखती हैं- "आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत।" इसी को तार्किक रूप से बढ़ाएँ तो कहा जा सकता है कि "सिर के बदले सिर।" इस्लाम में भी प्रतिकारात्मक दृष्टिकोण स्पष्टतः झलता है और वहाँ कई अपराधों के लिये प्राणदंड की व्यवस्था की गई है। पारंपरिक हिंदू विधियों में भी मानव हत्या जैसे प्रसंगों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त शेष वर्णों के लिये प्राणदंड का प्रावधान साफ-साफ दिखाई पड़ता है।

प्राणदंड के विरोध में तर्क (Arguments against Capital Punishment)

प्राणदंड के विरोध के तर्क भी उतने ही पुराने हैं जितने पुराने उसके समर्थन के तर्क हैं। जिस समय यहूदी और इस्लाम जैसे धर्म प्राणदंड को सैद्धांतिक समर्थन दे रहे थे, उससे कहीं पहले ही जैन और बौद्ध धर्म इसके विरोध की मानसिकता व्यक्त कर चुके थे। इन धर्मों में अहिंसा, क्षमा और हृदय परिवर्तन पर जो बल दिया गया है वह प्राणदंड का सैद्धांतिक विरोध ही है। हिंदू धर्म में भी कहीं-कहीं ऐसे विचार दिखते हैं। इसी प्रकार ईसाई धर्म में क्षमा का मूल्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वह भी सिद्धांततः प्राणदंड के विरोध को आधार प्रदान करता है।

राजनीति दर्शन में प्राणदंड के विरोध की परंपरा 18वीं सदी से प्रारंभ हुई जब **सीसेर बेकरिया (Cesare Beccaria)** ने 1764 ई. में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'On Crimes and Punishments' लिखी। इस पुस्तक में उसने उपयोगितावादी दृष्टिकोण से प्राणदंड की पहली व्यवस्थित आलोचना की। बेकरिया उन्मूलनवाद (Abolitionism) आंदोलन के प्रवर्तक थे जिसका उद्देश्य था प्राणदंड को समाप्त करना। बेकरिया का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि 1786 ई. में प्रसिद्ध प्रबुद्ध राजा लियोपोल्ड II (Leopold II) ने प्राणदंड की समाप्ति की घोषणा कर दी। यह घोषणा 30 नवंबर 1786 ई. को हुई और तभी से मृत्युदंड विरोधी 30 नवंबर को 'जीवन दिवस' (Life day) के रूप में मनाते हैं।

बेकरिया ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण का ही प्रयोग किया और प्राणदंड के समर्थक उपयोगितावादियों के तर्कों पर चोट की। उसने निवारक प्रभाव को उपयोगिता का आधार मानते हुए ही प्रश्न उठाया कि यह प्रभाव

प्राणदंड में अधिक है या लंबे कारावास में? उसके तर्कानुसार प्राणदंड एक क्षणिक कार्यवाही है जबकि लंबे कारावास में अपराधी को लंबे समय तक दुःख झेलना पड़ता है। इस दृष्टि से लंबा कारावास ज्यादा बड़ा निवर्तनकारी उपाय है, न कि प्राणदंड।

बेकरिया के अतिरिक्त **महात्मा गांधी** तथा कुछ **मानववादी** चिंतकों ने प्राणदंड के विरोध में कुछ तर्क दिये हैं। ऐसे प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

1. मानववादियों का तर्क है कि मनुष्य साध्य है, न कि साधन। सारी दंड व्यवस्था वहीं तक उपयोगी है जहाँ तक वह मानव के अस्तित्व के साथ सुसंगत है। यदि मानव का अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो दंड व्यवस्था का प्रयोजन क्या है? प्राणदंड तो मानव को साधन बना देता है।
2. गांधीजी का तर्क है कि न्यायाधीश चाहे जितना भी योग्य हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसके किसी भी निर्णय में भूल हो सकती है। यदि हम किसी को प्राणदंड देते हैं और बाद में हमें पता चलता है कि वह व्यक्ति अपराधी नहीं था तो चाहे कर भी हम क्षतिपूर्क न्याय नहीं दे सकते हैं। यह तर्क बेकरिया व बेंथम ने भी दिया है।
3. मानववादियों के अनुसार अपराध व्यक्ति के संकल्प स्वातंत्र्य का परिणाम नहीं होता बल्कि उसकी कठिन परिस्थितियों से निर्धारित होता है। लांब्रोसो ने इसका कारण अपराधी की जैविक संरचना में खोजा है, फ्रॉयड ने उसके मनोविज्ञान में तथा मार्क्स जैसे चिंतकों ने उसकी आर्थिक-सामाजिक स्थितियों में। ये सभी इस बिंदु पर सहमत हैं कि अपराध के निर्णय में अपराधी अपने स्वतंत्र संकल्प का प्रयोग नहीं करता। ऐसी स्थिति में उसे सुधार व सहयोग की जरूरत है, न कि दंड की। प्राणदंड तो किसी पीड़ित व्यक्ति को मार देने के समान है।

उपयोगितावादियों में से कुछ का तर्क है कि नॉर्वे जैसे कई देशों में प्राणदंड समाप्त है पर भी अपराधों की संख्या का न बढ़ना और अमेरिका जैसे देशों में प्राणदंड के होते हुए भी अपराधों की संख्या का कम न होना जैसे तथ्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्राणदंड में कोई विशेष निवारक शक्ति नहीं है।

निष्कर्ष

प्रश्न यह है कि प्राणदंड को उचित माना जा सकता है या नहीं? यदि हाँ, तो किन अपराधों तथा किन परिस्थितियों में उसे उचित माना जाना चाहिये?

प्राणदंड को पूरा विरोध या पूरा समर्थन देना अनुचित है क्योंकि कुछ मामलों में यह सचमुच जरूरी हो जाता है जबकि सामान्यतः यह नहीं ही दिया जाना चाहिये। उचित नीति यह हो सकती है कि यह न्यूनतम और अत्यंत विशिष्ट मामलों (Rarest of rare) में ही दिया जाए। यदि अपराध बेहद अमानवीय या घृणित किस्म का हो, जैसे— जान बूझकर किसी की हत्या करना, आतंकवादी हिंसा में लिप्त होकर कई मासूम व्यक्तियों की जान लेना, गरीब व्यक्तियों को झाँसा देकर उनके अंग निकाल लेना, बहुत छोटी उम्र के असहाय बच्चों के साथ बलात्कार करना या राष्ट्रद्रोही गतिविधियों में लिप्त होना आदि— ऐसे मामलों में प्राणदंड की व्यवस्था जरूर होनी चाहिये। किंतु, इसके साथ-साथ यह देखना भी जरूरी है कि अपराध इसी व्यक्ति ने किया है— इस संबंध में कोई संदेह न बचे। फिर, यदि अपराध किसी ने पहली बार व कठिन परिस्थितियों के कारण किया है तो उसे एक बार अवसर दिया जाना चाहिये किंतु, यदि वह व्यक्ति अभ्यस्त अपराधी है तो उसे ऐसी छूट नहीं मिलनी चाहिये। नॉर्वे व इंग्लैंड जैसे देश सामाजिक विकास के जिस स्तर पर हैं, उसे देखकर भारत में इसे समाप्त करना अभी उचित नहीं होगा। भारत एक नवस्वाधीन देश है जहाँ राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया अभी अधूरी है। हमारा देश आतंकवादियों के सबसे बड़े निशानों में से एक है। इसके अतिरिक्त, नवउदारवादी नीतियों के कारण अमीरी व गरीबी का अंतराल इतना ज्यादा हो गया है कि नक्सलवाद जैसी समस्याओं से बचना आसान नहीं है। उपभोक्तावादी मानसिकता के कारण महिलाओं, वृद्धों तथा बच्चों के जीवन पर पहले से ज्यादा खतरे हो गए हैं, क्योंकि उपभोग की चेतना से भरा व्यक्ति अन्य मनुष्यों को साधन समझने लगता है। इन्हीं सब कारणों से मानव अंगों के खरीद-फरोख्त की स्थितियाँ बनने लगी हैं। इनके अतिरिक्त, सांप्रदायिकता व क्षेत्रवाद जैसी समस्याएँ भी बार-बार उभरती हैं जो राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को बाधित करती हैं। अतः यह जरूरी है कि कम-से-कम वैधानिक स्तर पर प्राणदंड को बनाए रखा जाए किंतु व्यावहारिक स्तर पर इसका प्रयोग सिर्फ न्यूनतम व अत्यंत विशिष्ट मामलों में किया जाए।

प्रश्न: दंड की 'प्रतिकारात्मक' और 'निवारणात्मक' थियोरियाँ परस्पर पूरक हैं- टिप्पणी।

राजनीति-दर्शन तथा विधि-दर्शन में दण्ड के प्रायः तीन सिद्धांत प्रचलित हैं- प्रतिकारात्मक, निवारणात्मक तथा सुधारात्मक। विधि दार्शनिकों की सामान्य राय है कि जहाँ निवारणात्मक तथा प्रतिकारात्मक सिद्धांत एक दूसरे से सुसंगत और पूरक हैं, वहीं सुधारात्मक सिद्धांत इन दोनों सिद्धांतों से भिन्न प्रकृति का है।

प्रतिकारात्मक और निवारणात्मक सिद्धांतों को पूरक इसलिये कहा जाता है क्योंकि वे सरलतापूर्वक एक दूसरे से संयुक्त हो जाते हैं और मूलतः एक ही मानसिकता से उत्पन्न होते हैं। ये दोनों मानते हैं कि अपराधी का कृत्य उसके संकल्प-स्वातंत्र्य का परिणाम है और इस दृष्टि से मिलने वाला दण्ड उसी के कार्यों का परिणाम है। ये इस दृष्टि से भी समान हैं कि दोनों एक ही प्रकार के राज्यों में पाये जाते हैं- वे राज्य जिनमें सामूहिकता (राज्य) का महत्त्व व्यक्ति तुलना में अधिक होता है और व्यक्ति को राज्य की तुलना में साधन मात्र माना जाता है, स्वतः साध्य नहीं।

दोनों सिद्धांतों की पूरकता इनके उद्देश्य से ही स्पष्ट हो जाती है। प्रतिकारात्मक सिद्धांत का उद्देश्य है अपराधी से बदला लेना, क्योंकि उसके कृत्य ने व्यक्ति या समाज को जो क्षति पहुँचाई है उसकी भरपाई करना उसी का दायित्व है। निवर्तन या निवारणात्मक सिद्धांत इसका अगला चरण है जहाँ राज्य न केवल उसके कृत्य का बदला लेना चाहता है, बल्कि यह भी चाहता है कि भविष्य में ऐसे कृत्यों की पुनरावृत्ति न हो। इस दृष्टि से कहीं न कहीं हर प्रतिकारात्मक सिद्धांत निवर्तन के तत्व को और हर निवर्तन सिद्धांत प्रतिकार के तत्व को समाहित करता है। जब किसी अपराधी से बदला लिया जाता है तो बिना किसी प्रयास के समाज में निवारण का भाव उत्पन्न होता ही है। इसी प्रकार निवर्तन सिद्धांत लागू ही तब होता है जब कृत्य के अनुपात में या उससे भी अधिक दण्ड अपराधी को दिया जाए। उदाहरण के लिये, उपनिवेशवादी शासक मृत्युदण्ड इसलिये देते थे कि वे अपराध की गंभीरता के अनुसार प्रतिशोध ले सकें और फाँसी को सभी के सामने इसलिये प्रदर्शित करते थे ताकि समाज के शेष व्यक्ति भयवश उस कृत्य को दोहराने से बचें।

वस्तुतः ये दोनों सिद्धांत न केवल परस्पर पूरक हैं बल्कि आज के समय में सुधारात्मक सिद्धांत के भी पूरक हैं। आज मूल मान्यता यह है कि व्यक्ति का सुधार होना चाहिये और जहाँ कहीं सुधार की संभावना या उपयोगिता न हो, वहाँ पूरक के तौर पर इन सिद्धांतों का प्रयोग किया जाना चाहिये।

प्रश्न: दण्ड का आदर्श सिद्धांत।

राजनीति दर्शन और विधि दर्शन में दण्ड के कई सिद्धांत प्रचलित हैं जिनमें से सबसे महत्वपूर्ण तीन हैं-प्रतिशोधात्मक, निवर्तनात्मक तथा सुधारात्मक। दण्ड का आदर्श सिद्धांत उसी को माना जा सकता है जो दण्ड की अवधारणा में निहित सभी उद्देश्यों को पूरा करता हो तथा साथ ही वर्तमान समय के अनुकूल हो।

जहाँ तक प्रतिशोधात्मक और निवर्तक सिद्धांतों का प्रश्न है, ये दोनों ही प्रायः कठोर दण्ड के समर्थक हैं। प्रतिशोधात्मक सिद्धांत में आपराधिक कृत्य के समानुपातिक दण्ड दिया जाता है तथा इसका उद्देश्य होता है अपराधी से बदला लेना। निवर्तक सिद्धांत इससे भी आगे बढ़कर कृत्य की तुलना में अधिक दण्ड प्रस्तावित करता है ताकि इसे देखकर अन्य कोई भी व्यक्ति अपराध न करे। स्पष्ट है कि प्रतिशोधात्मक सिद्धांत परोक्ष रूप में जबकि निवर्तक सिद्धांत प्रत्यक्षतः मनुष्य को साधन बना देता है।

इनके विपरीत सुधारात्मक सिद्धांत वर्तमान समय के अनुकूल मनुष्य को साध्य मानता है तथा अपराध की व्याख्या परिस्थितियों के आलोक में करता है। यह बदला लेने के स्थान पर अपराधी को सुधार कर समाज का एक सक्रिय सदस्य बनाना चाहता है। किंतु इसकी समस्या यह है कि जघन्य अपराधों और पेशेवर अपराधियों के लिये यह उपयुक्त नहीं है।

दण्ड का आदर्श सिद्धांत इनका मिश्रित रूप हो सकता है। इसका मूल आधार सुधारात्मक सिद्धांत होना चाहिये तथा पेशेवर अपराधियों के संबंध में शेष व्याख्याओं को भी लागू किया जाना चाहिये।



जाति भेद (Caste Discrimination)

जब किसी व्यक्ति या अन्य किसी चीज के पक्ष में या उसके व्यक्तिगत गुणों-अवगुणों को न देखते हुए, उसके किसी वर्ग, श्रेणी या समूह के सदस्य होने के आधार पर अंतर करने की प्रक्रिया को, विभेदन, भेदभाव या भेद (Discrimination) कहते हैं। जब यही मनोवृत्ति किसी जाति विशेष के संदर्भ में लागू की जाती है तो जाति भेद (Caste Discrimination) कहलाती है। गांधी और अंबेडकर दोनों भारतीय समाज के जातिगत भेदभाव के नकारात्मक मनोवृत्ति से अच्छी तरह परिचित और अतः गांधी एवं अंबेडकर दोनों ही जातिगत भेद-भाव को समाप्त करना चाहते हैं। दोनों अस्पृश्यों थे। शुद्र-दलितों की समस्या को समाप्त करना चाहते थे, परंतु इस समस्या के कारण, स्वरूप और निदान के प्रति दोनों का दृष्टिकोण और कार्य-पद्धति अलग-अलग है। परिणामस्वरूप दोनों में समस्या के समाधान के प्रति एक वैचारिक असहमति सदैव बनी रही तथा दोनों ही समस्याओं के समाधान के प्रति अलग-अलग मार्ग प्रस्तुत करते हैं। इस क्रम में गांधी और अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था के संबंध में अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

महात्मा गांधी के जाति संबंधी विचार

(Caste Related Thoughts of Mahatma Gandhi)

महात्मा गांधी का जन्म एक हिंदू वैष्णव परिवार में हुआ था। पारिवारिक संस्कारों का उन पर पर्याप्त प्रभाव था, जिसकी गहरी छाप उनके सामाजिक दर्शन पर स्पष्टतः दिखती है। गांधी जी वर्ण व्यवस्था के समर्थक हैं, हालाँकि जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता का उन्होंने हमेशा कठोर विरोध किया।

वर्ण व्यवस्था संबंधी विचार

गांधी जी ने अपनी कई पुस्तकों तथा लेखों में वर्ण व्यवस्था से संबंधित विचार प्रस्तुत किये हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है उनकी पुस्तक- 'हिंदू धर्म'। उनके प्रमुख विचार इस प्रकार हैं-

- वे बताते हैं कि वर्ण व्यवस्था मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं बल्कि प्राकृतिक या ईश्वरीय व्यवस्था है। वे लिखते हैं- "यह मानवीय आविष्कार नहीं, अपितु प्रकृति का अपरिवर्तनीय नियम है जो न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान सर्वत्र विद्यमान तथा सदैव क्रियाशील रहता है।" उन्होंने यह भी कहा है कि वर्ण व्यवस्था सिर्फ भारत के लिये आदर्श नहीं है बल्कि सार्वभौमिक व्यवस्था है जो विश्व के सभी मनुष्यों की समस्याओं का समाधान कर सकती है।
- गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था हिंदू धर्म का अनिवार्य अंग है, वैकल्पिक नहीं। यदि कोई व्यक्ति वर्ण व्यवस्था को नहीं मानता है तो उसे हिंदू मानना उनके लिये संभव नहीं है। वे लिखते हैं- "कुरान को न मानकर कोई मनुष्य मुसलमान और बाइबिल को न मानकर कोई मनुष्य ईसाई कैसे रह सकता है? xxxx मैं नहीं जानता कि जो व्यक्ति जाति भेद अर्थात् वर्ण को नहीं मानता, वह अपने को हिंदू कैसे कह सकता है?"
- गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की प्रणाली है जो समाज में श्रम की जरूरत और श्रम की उपलब्धता में समन्वय करती है। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का मतलब सिर्फ इतना है कि "हम जीविकोपार्जन के लिये उन पैतृक व्यवसायों का अनुसरण करें जो हमारे पूर्वज करते रहे हैं।"

4. गांधी जी ने वर्ण व्यवस्था को वंशानुगत माना है अर्थात् वे मानते हैं कि वर्ण का निर्धारण जन्म से ही होता है। इसके लिये उन्होंने तर्क यह दिया है कि “जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों से विशेष आकृति ग्रहण करता है, उसी प्रकार वह उनसे विशेष गुण भी प्राप्त करता है।” तात्पर्य यह कि माता पिता में जो कौशल होता है, वह संतान में शारीरिक गुणों के रूप में स्थानांतरित होता है।
5. गांधी जी स्पष्टतः मानते हैं कि हर व्यक्ति को अपने पैतृक व्यवसाय का ही चयन करना चाहिये। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह निम्न वर्ण के व्यक्तियों को ज्ञान प्राप्ति से वंचित करते हैं। वे चाहते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति हर व्यक्ति करे, किंतु आजीविका का निर्धारण अपने वर्ण के अनुसार करे। उन्होंने लिखा है, “शूद्र को ज्ञान प्राप्त करने का उतना ही अधिकार है जितना ब्राह्मण को, किंतु यदि वह अध्यापन द्वारा जीविकोपार्जन का प्रयास करता है तो वह अपनी स्थिति से पतित होता है।” गांधी जी इस बात को लेकर इतने आग्रहशील हैं कि यदि किसी व्यक्ति को अपने वर्ण आधारित व्यवसाय में रुचि न हो तो भी उसे परिवर्तन का अवसर नहीं देते। वे साफ कहते हैं कि “प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने पैतृक व्यवसाय में रुचि रखनी चाहिये क्योंकि जन्मगत पैतृक व्यवसाय का चयन अनुचित नहीं बल्कि एक महान आदर्श है।”

वर्ण व्यवस्था के लाभ

गांधी जी ने कई तर्कों के द्वारा वर्ण व्यवस्था में अपने विश्वास को पुष्ट किया। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का पहला काम यह है कि इससे आजीविका की प्राप्ति होती है और प्रत्येक व्यक्ति निरर्थक प्रतिस्पर्धा से बच जाता है। इससे उसे आध्यात्मिक विकास का मौका मिलता है। दूसरा लाभ यह है कि इसके कारण प्रशिक्षण की औपचारिक आवश्यकता नहीं पड़ती है। तीसरा, इससे आर्थिक सामाजिक विकास भी ज्यादा होता है क्योंकि व्यक्ति लंबे अभ्यास के कारण अपना कार्य ज्यादा कुशलता से करता है। चौथा लाभ यह है कि इससे व्यक्ति की सांसारिक इच्छाएँ नियंत्रित रहती हैं और उसे आध्यात्मिक विकास का ज्यादा अवसर मिलता है।

जातिगत भेदभाव का विरोध

यहाँ ध्यान रखना जरूरी है कि जब गांधी वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हैं तो सामाजिक विषमताओं का समर्थन नहीं करते। उनका स्पष्ट मत है कि सभी वर्ण बराबर हैं, क्योंकि सभी के कार्य समाज के स्वस्थ संचालन के लिये जरूरी हैं। ‘हिंद स्वराज’ में उन्होंने स्पष्ट राय जाहिर की है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम में मूल्य का कोई भेद नहीं होता है। व्यक्ति का वेतन या उसकी उपलब्धियाँ मांग-पूर्ति के अंध नियम से नहीं बल्कि उसकी जरूरतों से निर्धारित होनी चाहिये। उनका प्रसिद्ध कथन है कि “नाई और वकील को बराबर वेतन मिलना चाहिये, क्योंकि दोनों की मानवीय जरूरतें समान हैं।”

स्पष्ट है कि गांधी जी वर्ण व्यवस्था के जन्ममूलक तथा वंशानुगत स्वरूप के समर्थक हैं, किंतु वे इसे ऊँच-नीच या स्तरीकरण की व्यवस्था नहीं मानते। वे जाति भेद को स्तरीकरण की व्यवस्था मानते हैं और अस्पृश्यता को उसका सबसे घृणित रूप। वे लिखते हैं कि “मैं अस्पृश्यता के अपवित्र धब्बे को बड़ी गहराई से अनुभव करता हूँ और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि इसे हिंदू धर्म से पूर्णतया न हटाया गया तो धर्म का विनाश निश्चित है।”

गांधी जी अस्पृश्यता का अंत करना चाहते हैं, किंतु उसके लिये किसी हिंसक क्रांति या तीव्र परिवर्तन की वकालत नहीं करते। अपने वेदांती दर्शन की मान्यताओं के अनुरूप उनका गहरा विश्वास हृदय परिवर्तन के मूल्य में है जिसे उन्होंने वेदांत के साथ बुद्ध, महावीर और ईसा मसीह से सीखा है। वे सवर्ण हिंदुओं का हृदय परिवर्तन करना चाहते हैं। वे लिखते हैं- “मैं बल प्रयोग अथवा अन्य किसी प्रकार की बाध्यता द्वारा अस्पृश्यता को नहीं हटाना चाहता हूँ। अस्पृश्यता का निराकरण कानून अथवा दबाव द्वारा संभव नहीं है। करोड़ों हिंदुओं के हृदय परिवर्तन तथा पूर्ण विशुद्धिकरण द्वारा ही अस्पृश्यता का निवारण हो सकता है।”

गांधी जी ने स्पष्टतः दावा किया है कि अस्पृश्यता हिंदू धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है। वे कहते हैं कि जिन महान ऋषि-मुनियों ने वेद-उपनिषद जैसे महान ग्रंथों की रचना की, वे इस अमानवीय व्यवस्था का समर्थन कैसे कर सकते हैं? वे यहाँ तक कहते हैं कि यदि शास्त्र इसका समर्थन करें तो भी मैं इसे नहीं स्वीकारूँगा, क्योंकि यह मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि के खिलाफ है। इसी विश्वास के तहत उन्होंने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया, निम्न वर्णों के मंदिर प्रवेश के लिये आंदोलन चलाया और सवर्णों के हृदय परिवर्तन के उद्देश्य से अंतर्जातीय सहभोज और अंतर्जातीय विवाह जैसे कार्यक्रमों को काफी बढ़ावा दिया।

आलोचना

1. हृदय परिवर्तन का मार्ग पर्याप्त नहीं माना जा सकता। जब गांधी जी जैसा राष्ट्रायक हिंदुओं का हृदय परिवर्तन नहीं कर सका तो किसी और से ऐसी उम्मीद करना व्यर्थ ही है।
2. वर्तमान में विज्ञान तकनीक के विकास के कारण अनेकों प्रकार के नए-नए व्यवसाय विकसित हुए हैं, जिनके लिये अपेक्षित योग्यता इतनी ऊँची है कि उन्हें वंशानुगत बनाया ही नहीं जा सकता। उदाहरण के लिये, क्या एक डॉक्टर का बेटा अनिवार्यतः डॉक्टर ही बन सकता है?
3. गांधी जी ने वर्णव्यवस्था को गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह प्राकृतिक और सार्वभौमिक माना जबकि सच यह है कि कोई भी नैतिक नियम न तो सार्वभौम होता है, न ही प्राकृतिक। सभी नैतिक नियम मनुष्यों द्वारा ही बनाए जाते हैं।
4. गांधी जी का यह तर्क कि माता-पिता के गुणों का संक्रमण संतान में होता है, गलत है। आज तक कोई भी मनोवैज्ञानिक इसे सिद्ध नहीं कर सका है। विस्मै न जैसे मनोवैज्ञानिकों ने इस मान्यता का विरोध किया है और कहा है कि संतान में माता-पिता जैसे गुण समान माहौल के कारण पैदा होते हैं, न कि आनुवांशिक कारणों से।
5. गांधी जी मानकर चलते हैं कि आवश्यकताएँ पूरी होते ही व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता है, किंतु यह मान्यता सभी व्यक्तियों पर लागू नहीं होती।

अंबेडकर के जाति संबंधी विचार (Caste Related Thoughts of Ambedkar)

अंबेडकर की विचारधारा जाति व्यवस्था के संबंध में आमूल परिवर्तनकारी (Radical) है। इसका मूल कारण यह माना जाता है कि चूँकि उनका जन्म शूद्र वर्ण में हुआ था और उन्होंने जाति संबंधी नियोग्यताओं तथा अत्याचारों को खुद अनुभव किया था, इसलिये वे इस व्यवस्था से उत्पन्न समस्याओं को ज्यादा गहराई से महसूस कर पाते थे। अंबेडकर ने स्पष्टतः कहा कि मेरे लिये मेरे व्यक्तिगत उद्देश्य से बड़ा दलितों की मुक्ति का उद्देश्य है। मेरे व्यक्तिगत हित से राष्ट्रीय हित भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है किंतु यदि कहीं दलितों के हित और राष्ट्रहित को चुनना पड़ता है तो मैं दलितों के हित को प्राथमिकता दूँगा।

अंबेडकर ने जाति व्यवस्था के संबंध में बहुत सी पुस्तकें और लेख लिखे जिनमें से प्रमुख हैं- 'The Untouchables', 'शूद्र कौन थे', 'कांग्रेस और गांधी ने अस्पृश्यों के साथ क्या किया है' तथा 'भारत में जाति का उद्भव और विकास' आदि। इन पुस्तकों में अंबेडकर ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, उसके नुकसान तथा उन्मूलन के उपायों इत्यादि पक्षों पर विचार किया।

जाति व्यवस्था का उद्भव

अंबेडकर का दावा है कि मूल रूप से शूद्र सूर्यवंशी क्षत्रिय थे, किंतु शूद्र राजाओं ने वर्णव्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मणों का वर्चस्व मानने से इंकार कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया में ब्राह्मणों ने उनका उपनयन संस्कार करना बंद कर दिया और इसी कारण वे तीनों वर्णों से अलग होकर चौथे वर्ण बन गए। अंबेडकर ने ऋग्वेद

के पुरुष सूक्त को अप्रामाणिक तथा प्रक्षिप्त अंश माना है और तर्क दिया है कि इसमें निहित मान्यताएँ वैदिक साहित्य के अन्य कथनों के साथ सुसंगत नहीं हैं। उन्होंने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के संबंध में रिजले और नेसफील्ड की 'प्रजाति' तथा 'व्यवसाय' पर आधारित व्याख्याओं को खारिज किया और दावा किया कि जाति व्यवस्था वर्णव्यवस्था का ही विकृत रूप है जिसे ब्राह्मण वर्ण ने अपनी सुविधा तथा लालच के लिये बनाया है।

गांधी जी ने माना था कि वर्ण व्यवस्था प्राकृतिक नियम की तरह अटल है और वह अपने स्वरूप में ईश्वरीय है। अंबेडकर इस विचार का कठोर खंडन करते हैं और कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था मानवीय व्यवस्था है, वह भी उस समय की जब मानवीय बुद्धि विकास के आदिम स्तर पर थी। उनके अनुसार कुछ ब्राह्मणों ने निहित स्वार्थों के कारण ऋग्वेद में पुरुष सूक्त को प्रक्षेपित कर दिया। इसके बाद से हिंदुओं को विश्वास हो गया कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति ईश्वर ने की है। ईश्वर ने ब्राह्मणों को मुख से, क्षत्रियों को बाहु से, वैश्यों को जाँघ से और शूद्रों को पैर से उत्पन्न किया- इस मिथ्या धारणा ने वर्ण व्यवस्था के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

जाति व्यवस्था का विरोध

गांधी जी ने वर्ण व्यवस्था के कई लाभ बताए थे, किंतु अंबेडकर ने इस व्यवस्था की बहुत सी हानियों को स्पष्ट किया। जाति व्यवस्था के प्रमुख नुकसान इस प्रकार हैं:

1. वर्ण व्यवस्था श्रम का विभाजन नहीं, 'श्रमिकों का विभाजन' है। वे मानते हैं कि किसी भी समाज के विकास के लिये श्रम विभाजन जरूरी होता है, किंतु श्रम विभाजन की अच्छी व्यवस्था वह है जिसमें सभी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य प्राप्त कर सकें। वर्ण व्यवस्था गतिशीलता को रोकती है। यह रुचि और योग्यता के अनुसार नहीं बल्कि जन्म के अनुसार श्रमिकों का विभाजन करती है।
2. वर्ण व्यवस्था सामाजिक विषमताओं को बढ़ाती है, इसलिये यह आधुनिक व सभ्य समाज के लिये उपयोगी नहीं है। इसमें एक ओर शूद्रों को अमानवीय जीवन जीने के लिये बाध्य किया जाता है, उनकी परछाई को भी अपवित्र माना जाता है तो दूसरी ओर ब्राह्मणों को अधिक से अधिक विशेषाधिकार दिये जाते हैं। उदाहरण के लिये, उसे जन्म के आधार पर ही सभी वर्णों का गुरु होने का अधिकार मिलता है, उस पर कई कर नहीं लागू होते, वह राजा के अधीन नहीं माना जाता तथा हत्या करने पर भी प्राणदंड का भागी नहीं होता।
3. वर्ण या जाति व्यवस्था बौद्धिक और शारीरिक श्रम में भेद करके आभिजात्यवादी (Elitist) मानसिकता को बढ़ावा देती है। मूल रूप से बौद्धिक और शारीरिक दोनों कार्य समाज के अस्तित्व हेतु अनिवार्य हैं। अतः उन्हें समान महत्त्व मिलना चाहिये। वर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों को बौद्धिक कार्य देती है और सबसे ऊँचा स्थान देकर इस विचारधारा को स्थापित करती है कि बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम से श्रेष्ठ होता है।
4. वर्ण या जाति व्यवस्था स्वावलंबन को नहीं, परावलंबन को बढ़ावा देती है। समाज में श्रम विभाजन तो होना ही चाहिये, किंतु वैसा नहीं जैसा वर्ण व्यवस्था में है। उदाहरण के लिये, ज्ञान की प्राप्ति सभी को करनी चाहिये, अपनी सुरक्षा के लिये साहस और गुणों का विकास सभी में होना चाहिये तथा अपने सामान्य दैनिक कार्य सबको स्वयं ही करने चाहिये। वर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों को सिर्फ बौद्धिक कार्य देती है और उनको शरीर से पंगु बना देती है जबकि क्षत्रियों को सिर्फ साहसिक कार्य देकर बाकी योग्यताओं से वंचित कर देती है। यही स्थिति अन्य वर्गों की होती है।

5. वर्ण या जाति व्यवस्था मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों का हास करती है। हर मनुष्य में कुछ विशिष्ट क्षमताएँ होती हैं जिनका सम्यक् विकास होने से समाज को अत्यधिक लाभ होता है। वर्ण व्यवस्था व्यक्ति को अपनी सृजनात्मकता दबाने पर मजबूर करती है, क्योंकि यदि उसकी क्षमताएँ उसके वर्ण दायित्व के लिये उचित नहीं हैं तो उनका दमन करना ही इसके अनुसार श्रेयस्कर है।
6. वर्ण या जाति व्यवस्था समाज में पृथकता और विघटन जैसे तत्त्वों को बढ़ावा देती है। यदि लंबे समय तक किसी वर्ग को उसकी बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं से वंचित रखा जाए तो वह खुद को समाज से अलग-थलग महसूस करने लगता है।

स्पष्ट है कि अंबेडकर ने जाति व्यवस्था को पूरी तरह से नकारा है। वे निष्कर्ष देते हुए कहते हैं कि “वह दर्शन जो समाज को टुकड़ों में बाँटता है, जो कार्य को रुचि से अलग रखता है, जो बुद्धि को श्रम से पृथक् करता है, जो जीवन की मूलभूत रुचियों के अधिकार से आदमी को वंचित करता है, वह सामाजिक उपयोगिता के मानदंड को कैसे संतुष्ट कर सकता है?”

जाति व्यवस्था का उन्मूलन

गांधी जी ने जाति व्यवस्था के उन्मूलन के लिये हृदय परिवर्तन पर बल दिया था और अंतर्जातीय भोज तथा अंतर्जातीय विवाहों को इसका साधन बनाया था। अंबेडकर का दावा है कि ये सभी उपाय खोखले हैं, क्योंकि जो हिंदू अपने जीवन की हर घटना वर्ण व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, वे इतने छोटे उपायों से इससे मुक्त नहीं हो सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हृदय परिवर्तन एक बेहद लंबी प्रक्रिया है और दलित वर्ग, जो अपने शोषण और दमन को समझ चुका है, इतना लंबा इंतजार नहीं कर सकता है। उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा कि “यदि महात्मा गांधी जैसा महान राष्ट्रीयक सर्वर्ण हिंदुओं का हृदय परिवर्तन नहीं कर सका तो फिर यह और किसी के लिये कैसे संभव है?”

अंबेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था के उन्मूलन का वास्तविक उपाय धर्म के स्तर पर होना चाहिये, क्योंकि मूल समस्या धर्म से ही पैदा हुई है। उपनिषदों में अद्वैतवाद का विचार व्यक्त किया गया है जो बताता है कि आत्मा और ब्रह्म में अभेद है तथा सभी जीव ब्रह्म के प्रतिबिंब या विभिन्न रूप हैं। स्पष्ट है कि ऐसा दर्शन वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था का समर्थन नहीं कर सकता। किंतु, ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधियों ने पुरुष सूक्त, मनुस्मृति जैसी रचनाओं में इस विभेद को स्थापित कर दिया। अंबेडकर के अनुसार गीता भी वर्ण विभेद का समर्थन करती है। वे लिखते हैं-“भगवान कृष्ण ने स्वयं यह उद्घोषित किया कि मैंने स्वयं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का सृजन किया है और व्यक्तियों की क्षमताओं के अनुसार उन्हें भिन्न-भिन्न व्यवसाय दिया है। अरे अर्जुन, जब कर्तव्यों और व्यवसायों के इस धर्म का पतन होता है तब मैं स्वयं जन्म धारण करता हूँ ताकि इस व्यवस्था के पतन के जिम्मेदार लोगों को दंडित कर सकूँ और व्यवस्था पुनः स्थापित कर सकूँ।”

अंबेडकर का स्पष्ट मत है कि जाति व्यवस्था की मजबूती इसलिये इतनी अधिक है, क्योंकि इसे धर्म द्वारा वैधता हासिल है। इसलिये उनके अनुसार, सिर्फ जाति व्यवस्था पर चोट करने से कुछ नहीं होगा। उन मूल आस्थाओं को ही तोड़ना होगा जो इस भेदभाव को वैध बनाती हैं। वे लिखते हैं, “वास्तविक समाधान शास्त्रों की पवित्रता में आस्था को नष्ट करना है। xxx लोग अपने आचरण को उस समय तक नहीं बदलेंगे जब तक उन शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करना बंद नहीं करेंगे, जिन पर उनका आचरण आधारित है।”

अंबेडकर ने इसी विचार के आधार पर हिंदू धर्म की धार्मिक व्यवस्था को पुनः संगठित करने पर बल दिया। इसका पहला उपाय है कि हिंदू धर्म का सिर्फ एक प्रामाणिक ग्रंथ होना चाहिये जो आधुनिक मूल्यों से सुसंगत विचारों को लेकर बनाया गया हो। शेष सभी ग्रंथों को कानूनी रूप से निषिद्ध कर दिया जाना चाहिये, क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर लोग सामाजिक विषमता को सही ठहराते हैं।

दूसरा सुझाव अंबेडकर ने यह दिया कि पुरोहिताई की वंशानुगत व्यवस्था समाप्त होनी चाहिये। उनका तर्क है कि यदि डॉक्टर, इंजीनियर या वकील बनने के लिये विशेष योग्यताओं का अर्जन करना पड़ता है और परीक्षाओं में सफलता मिलने पर ही इन व्यवसायों में प्रवेश मिलता है तो पुरोहिताई को यून ही कैसे छोड़ा जा सकता है? हो सकता है कि पुरोहित मंद बुद्धि का हो, धार्मिक कथनों को समझ ही नहीं पाता हो या किसी गंदे रोग से पीड़ित हो- तब भी उसे ईश्वर को छूने का अधिकार मिल जाए जबकि शेष वर्णों के योग्य व्यक्ति भी पुरोहित न बन सकें- यह अनुचित है। पुरोहित को राजकीय सेवक बनाया जाना चाहिये और राज्य द्वारा चुना जाना चाहिये।

अंबेडकर ने अल्पकालिक समाधान के तौर पर आरक्षण पर भी बल दिया। उनका तर्क है कि निम्न वर्ग के लोगों की कई पीढ़ियों ने अपनी सारी शक्ति मालिकों के लिये श्रम करते हुए गुजारी है, जिसके कारण मालिकों और उनके अपने व्यक्तित्व में बहुत अधिक अंतराल पैदा हो गया है। अब बराबरी करने के लिये ज़रूरी है कि निम्न वर्गों को कुछ क्षतिपूर्क न्याय दिया जाए।

अंबेडकर ने अस्पृश्यता को अपराध घोषित करने की मांग की, जिसे भारतीय संविधान ने स्वीकार किया गया।

अंबेडकर का अंतिम विचार था कि यदि निम्न वर्ग को किसी भी प्रकार से जातीय नियोग्यताओं से मुक्ति न मिले तो उसे हिंदू धर्म ही छोड़ देना चाहिये। उन्होंने 1935 ई. में येवला में एक सभा को संबोधित करते हुए घोषणा की कि “दुर्भाग्य से मैं हिंदू धर्म में पैदा हुआ हूँ, क्योंकि यह तय करना मेरी शक्ति से बाहर था, पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं हिंदू के रूप में मरूँगा नहीं।” अंबेडकर ने यही किया भी। 1956 ई. में अपनी मृत्यु से कुछ ही महीने पहले उन्होंने नागपुर में अपने हजारों समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और यहीं से नव-बौद्ध आंदोलन का सूत्रपात हुआ। उन्होंने बौद्ध धर्म को इसलिये चुना क्योंकि वह न तो ईश्वर और आत्मा जैसी अलौकिक कल्पनाओं में विश्वास करता है और न ही मनुष्यों में भेदभाव को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त यह भी महत्त्वपूर्ण है कि महात्मा बुद्ध ने ईसा मसीह, मुहम्मद पैगंबर या कृष्ण की तरह खुद को ईश्वर, ईश्वर का दूत या ईश्वर-पुत्र नहीं बताया। बुद्ध ने वही माना जो अनुभव और तर्कबुद्धि से सुसंगत है। उन्होंने बाकी धर्मप्रवर्तकों की तरह स्वयं को ‘मोक्षदाता’ नहीं, सिर्फ ‘मार्गदाता’ कहा है। ‘आत्मदीपो भव’ का सिद्धांत देकर बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा में वृद्धि की, जबकि बाकी धर्म मनुष्य की गरिमा का हनन करते हैं।

आलोचना

1. अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था की जो ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत की है, वह इतिहासकारों को मान्य नहीं है। वे तटस्थ होकर इतिहास की व्याख्या नहीं कर सकते हैं, दलित हितों के आधार पर ही इतिहास को देखते हैं।
2. धर्मान्तरण वस्तुतः सही समाधान नहीं है। धर्म दार्शनिकों का मत है कि साधारण व्यक्ति यदि धर्म परिवर्तन कर भी लेता है तो उसके वास्तविक जीवन में कोई तात्त्विक अंतर पैदा नहीं होता।